राजनीति विज्ञान

मूल अवधारणाएं एवं सिद्धांत

कक्षा 12 के लिए पाठ्यपुस्तक

लेखक

वी.आर. मेहता

संपादक

नलिनी पंत

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

प्रथम संस्करण

मई 2003 ज्येष्ठ 1925

पुनर्मुद्रण

दिसंबर 2003 अग्रहायण 1925

PD 10T SC

ISBN : 81-7450-162-2

एन.सी.ई.आर.टी. के प्रकाशन विभाग के कार्यालय

नई दिल्ली 110 016 [illegible] | 108, 100 [illegible] बंगलूर 560 085 | [illegible] अहमदाबाद 380 014 | [illegible] 700 114 | [illegible]

प्रकाशन सहयोग

संपादन : शशि चड्ढा

उत्पादन : अतुल सक्सेना

आवरण

अमित श्रीवास्तव

रु. 25.00

एन.सी.ई.आर.टी. वाटर मार्क 70 जी.एस.एम. पेपर पर मुद्रित

प्रकाशन विभाग में सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली 110016 द्वारा प्रकाशित तथा शगुन ऑफसेट प्रेस, 92-बी, गली नं. 4, कृष्णा नगर, सफदरजंग एन्क्लेव, नई दिल्ली 110 066 द्वारा मुद्रित।

प्राक्कथन

राजनीति विज्ञान [illegible] माध्यमिक स्तर पर एक [illegible] विषय के रूप में [illegible] किया जाता है। [illegible] स्तर पर [illegible] विज्ञान के [illegible] राजनीति [illegible] विद्यार्थी [illegible] राजनीतिक संस्थाओं [illegible] और भारत [illegible] समकालीन [illegible] करते हैं। [illegible] वर्षों में [illegible] समाज विज्ञान [illegible] किया जाता है, [illegible] पाठ्यक्रम [illegible] महत्वपूर्ण अंग है, जिसका [illegible] किया जा [illegible]।

प्रस्तुत पुस्तक *राजनीति [illegible] एवं [illegible]* [illegible] है जो *विद्यालयी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा – 2000* के [illegible] अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् द्वारा विकसित राजनीति विज्ञान [illegible] पाठ्यक्रम पर आधारित [illegible] के अनुरूप शिक्षार्थियों में राजनीति विज्ञान की [illegible] अवधारणाओं और [illegible] विकसित करने का प्रयास किया गया है। शिक्षार्थियों का [illegible] अपनाई गई विधियों से भी परिचित [illegible] अवधारणाओं [illegible] और पश्चिमी परिप्रेक्ष्य में चर्चा की गई है।

विद्यालयी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा – 2000 में निर्दिष्ट कुछ केंद्रीय विषयों को इस पुस्तक के संबंधित विभिन्न अध्यायों में समुचित ढंग से समाहित किया गया है। प्रत्येक अध्याय के अभ्यास प्रश्नों के अतिरिक्त पुस्तक में प्रयुक्त कठिन शब्दों और अवधारणाओं का स्पष्टीकरण करने हेतु पारिभाषिक शब्दावली भी दी जा रही है।

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् इस पुस्तक की पांडुलिपि तैयार करने हेतु लेखक, संपादक एवं अनुवादक के प्रति आभारी है। [illegible] समीक्षा विषय-विशेषज्ञों एवं अध्यापकों द्वारा की गई है तथा अनेक सुझावों एवं टिप्पणियों ने इस पुस्तक को अंतिम रूप देने में [illegible] सहायता प्रदान की है।

पुस्तक के प्रत्येक पक्ष पर [illegible] पाठकों की टिप्पणियों एवं सुझावों का स्वागत है।

जगमोहन सिंह राजपूत
निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

नई दिल्ली
मार्च 2003

गांधी जी का जंतर

तुम्हें एक जंतर देता हूँ। जब भी तुम्हें संदेह हो या तुम्हारा अहम् तुम पर हावी होने लगे, तो यह कसौटी आज़माओ :

जो सबसे गरीब और कमज़ोर आदमी तुमने देखा हो, उसकी शक्ल याद करो और अपने दिल से पूछो कि जो कदम उठाने का तुम विचार कर रहे हो, वह उस आदमी के लिए कितना उपयोगी होगा। क्या उससे उसे कुछ लाभ पहुँचेगा? क्या उससे वह अपने ही जीवन और भाग्य पर कुछ काबू रख सकेगा? यानी क्या उससे उन करोड़ों लोगों को स्वराज्य मिल सकेगा, जिनके पेट भूखे हैं और आत्मा अतृप्त है?

तब तुम देखोगे कि तुम्हारा संदेह मिट रहा है और अहम् समाप्त होता जा रहा है।

हिंदी रूपांतर की समीक्षा कार्यगोष्ठी के सदस्य

वी.आर. मेहता
पूर्व उपकुलपति
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

नलिनी पंत
प्रोफ़ेसर (अवकाश प्राप्त)
बनारस हिंदू विश्वविद्यालय
वाराणसी, उत्तर प्रदेश

एस.एन.झा
प्रोफ़ेसर, (अवकाश प्राप्त, राजनीति विज्ञान)
जवाहर लाल नेहरु विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

आर.के. आंनद
निदेशक
पत्राचार पाठ्यक्रम
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

वी.पी. पांडेय
रीडर (राजनीति विज्ञान)
पत्राचार पाठ्यक्रम
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

एस.सी. झा
रीडर (राजनीति विज्ञान)
ए.आर.एस.डी. कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

पूनम प्रसाद
रीडर (राजनीति विज्ञान)
दयाल सिंह (सांध्य) कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

उमा आनन्द
रीडर (राजनीति विज्ञान)
भारती महिला कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

लीला राम गुर्जर
रीडर (राजनीति विज्ञान)
कोटा मुक्त विश्वविद्यालय
कोटा, राजस्थान

पी.एस. खरे
प्राचार्य (अवकाश प्राप्त)
अग्रसेन इंटर कालेज, इलाहाबाद, :

एस.एम. शर्मा
प्राचार्य (अवकाश प्राप्त)
एस.आर.एस.डी.सी. वरिष्ठ माध्यमि
लाजपत नगर
नई दिल्ली

आर.एस. पसरीचा
उपप्राचार्य (अवकाश प्राप्त)
एम.बी.डी.ए.वी. वरिष्ठ माध्यमिक
यूसुफ सराय
नई दिल्ली

अरूण प्रभा जैन
उपप्राचार्य
ऋषभ अकादमी
मेरठ कैंट, उत्तर प्रदेश

मदन साहनी
लेक्चरर (राजनीति विज्ञान)
राजकीय वरिष्ठ माध्यमिक विद्यालय
सेक्टर VII, आर. के. पुरम, नई दिल्ली

विजय लक्ष्मी
वरिष्ठ अध्यापक (राजनीति विज्ञान)
ग्रीन फील्डस स्कूल
सफदर जंग एनक्लेव, नई दिल्ली

एन.सी.ई.आर.टी. संकाय
सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी शिक्षा विभाग

थैमिचोन वोलेङ
लेक्चरर

सुप्ता दास
सलेक्शन ग्रेड लेक्चरर

संजय दुबे
रीडर **(समन्वयक)**

हिंदी रूपांतर

उषा आनन्द   लीला राम गुर्जर

हिंदी रूपांतर के संपादक

नलिनी पंत

विषय-सूची

भारत का संविधान

भाग 4क

नागरिकों के मूल कर्तव्य

अनुच्छेद 51 क

मूल कर्तव्य – भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह –

(क) संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करे,

(ख) स्वतंत्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजोए रखे और उनका पालन करे,

(ग) भारत की संप्रभुता, एकता और अखंडता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण बनाए रखे,

(घ) देश की रक्षा करे और आह्वान किए जाने पर राष्ट्र की सेवा करे,

(ङ) भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभावों से परे हो, ऐसी प्रथाओं का त्याग करे जो महिलाओं के सम्मान के विरुद्ध हों,

(च) हमारी सामासिक संस्कृति की गौरवशाली परंपरा का महत्त्व समझे और उसका परिरक्षण करे,

(छ) प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अंतर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव हैं, रक्षा करे और उसका संवर्धन करे तथा प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव रखे,

(ज) वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे,

(झ) सार्वजनिक संपत्ति को सुरक्षित रखे और हिंसा से दूर रहे, और

(ञ) व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत् प्रयास करे, जिससे राष्ट्र निरंतर बढ़ते हुए प्रयत्न और उपलब्धि की नई ऊंचाइयों को छू सके।

इकाई एक

मूल अवधारणा भारतीय तथा पश्चिम के परिप्रेक्ष्य में

अध्याय 1

कानून

कानून क्या है?

कानून की विभिन मान्यताएं है जैसे प्राकृतिक कानून, नैतिक कानून, आपूर्ति व मांग का कानून तथा राज्य का कानून। इसका अर्थ वे नियम भी हो सकते हैं जो हमें यह बताएं कि हमें क्या करना चाहिए (नैतिक कानून)। कानून का दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि प्रकृति अथवा समाज की कुछ सुनिश्चित नियमितताएं भी हैं (प्राकृतिक अथवा वैज्ञानिक कानून)। कानून का पहला दृष्टिकोण मानकीय (Normative) है तथा दूसरा प्रत्यक्षवादी (Positivistic) है। मानकीय दृष्टिकोण के अनुसार कानून, प्रकृति की प्रक्रियाओं से संबंधित कुछ मौलिक सत्य उद्घाटित करते हैं। दूसरी ओर, प्रत्यक्षवादियों की यह धारणा है कि किसी विशेष समुदाय में आचार के कुछ नियम होते है जिन्हें कानून कहा जाता है। कानून निहित आदेशों की एक ऐसी व्यवस्था है जो किसी समाज में मानव व्यवहार को नियमित करते हैं। ऑस्टिन के विचार में, कानून किसी भी समाज में समस्त व्यक्तियों को किसी संप्रभु के ऐसे आदेश होते हैं जिनके पीछे राज्य की भौतिक शक्ति और उस पर आधारित दंड-विधान प्रभावी होता है। हॉलैन्ड की मान्यता के अनुसार "कानून बाह्य आचरण का ऐसा सामान्य नियम होता है जो किसी संप्रभु राजनीतिक सत्ता द्वारा प्रवर्तित किया जाता है।" इस दृष्टिकोण के अनुसार कानून को अधिकारी व अधीनस्थ के मध्य ऐसे संबंध के रूप में देखा जाता है जिसके अंतर्गत अधीनस्थ लोग स्वाभाविक रूप से अधिकारियों की आज्ञा पालन करते हैं।

नैतिक तथा कानूनी नियमों में अंतर करते हुए कुछ सिद्धांतवादियों का यह मत है कि कानून का अस्तित्व उसके नैतिक औचित्य पर निर्भर करता है, जबकि इसके विपरीत कुछ अन्य की धारणा है कि कानूनी औचित्य का प्रश्न विशुद्ध रूप से एक तकनीकी प्रश्न है। इसका निर्णय किसी युग विशेष के कानूनी मापदंडों के अनुरूप ही किया जा सकता है। सही हो या गलत, 'कानून' तब कानून होता है यदि उसे राज्य की कानून-निर्मात्री सभा की स्वीकृति प्राप्त हो। तदापि यह कहा जा सकता है कि निर्मित कानून व नैतिक व्यवस्था में संघर्ष की किसी भी स्थिति में उक्त कानून जनता की दृष्टि में औचित्यरहित होता है। बार्कर ने इसी दृष्टिकोण पर बल देते हुए कहा है कि प्रत्येक कानून में वैधता (Validity) तथा मूल्य, (Value) दोनों समाहित होने चाहिए। 'वैधता' कानून के औपचारिक रूप व प्रकृति पर निर्भर करती है, तथा 'मूल्य' समुदाय के न्याय व औचित्य की भावना पर। इसका अर्थ यह है कि किसी विषय पर कानूनी निर्णय कानून के अनुसार लिया जाए तथा उक्त निर्णय ही हम स्वीकार करें, यद्यपि हमारी स्वीकृति इस तथ्य पर निर्भर करेगी कि संबंधित निर्णय हमारे सामुदायिक न्याय व औचित्य

की भावना पर आधारित है अथवा नहीं। अतः किसी भी कानून को ऐसी समग्रता में देखना आवश्यक है, जिसमें कानून के यथार्थ व मानकीय-दोनों पक्ष परस्पर विलीन हों।

यहां पर विचार का विषय यह है कि किसी कानूनी व्यवस्था में बलप्रयोग व दायित्व के बीच क्या संबंध है। प्रत्यक्षवादियों की यह मान्यता है कि नागरिक, कानून पालन के लिए कर्तव्यबद्ध हैं। कानून का उल्लंघन करने वालों को राज्य की बलप्रयोगकारी शक्ति से दंडित किया जा सकता है। उनकी दृष्टि में चाहे कानून न्यायसंगत हो अथवा अन्यायपूर्ण, अच्छा हो या बुरा, महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उसके पीछे राज्य-सत्ता का बल विद्यमान होता है। नागरिकों के पास कोई विकल्प नहीं है। यद्यपि अंतर्राष्ट्रीय कानून जैसी व्यवस्थाओं में बलप्रयोग की क्षमता कम दिखाई देती है। फिर भी प्रत्यक्षवादी बलप्रयोग को कानून की बाध्यकारी प्रकृति का सार मानते हैं। यह दृष्टिकोण तीन आधारों पर विवादास्पद माना जाता है :

- सभी कानून दायित्व नही थोपते। कई कानून नागरिकों को कुछ शक्तियां व अधिकार प्रदान करते हैं। ऐसे कानून उन स्थितियों का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं जहां कानूनी प्रक्रिया में बलप्रयोग का भाव प्रकट नहीं होता।
- कानून के अंतर्गत दायित्व, वास्तव में, कानून के नैतिक औचित्य पर निर्भर करता है। रूसो की यह धारणा थी कि किसी कानून के आज्ञा पालन का हमारा दायित्व केवल नैतिक ही हो सकता है। हम किसी कानून को अपने कर्तव्य-बोध के आधार पर स्वीकार करते हैं। यह कर्तव्य-बोध हमें, हमारी नैतिक चेतना से मिलता है तथा इस पर ही किसी बाह्य शक्ति अथवा सत्ता का कोई दबाव नहीं होना चाहिए। बलप्रयोग व्यक्तियों को दयनीय दासता की स्थिति में ला देता है। इस प्रकार वह कानून का कोई औचित्यपूर्ण आधार नहीं हो सकता। बल कभी भी न्याय का आधार हो ही नहीं सकता। रूसो ने जोर देकर यह कहा था कि "बल के सम्मुख झुकना परिस्थितिगत हो सकता है"। अतः, इस प्रसंग में यह कहा जा सकता है कि कानूनी दायित्व, राजनीतिक दायित्व से प्रकट होता है और राजनीतिक दायित्व स्वयं सत्ता के औचित्य संबंधी सामान्य जनविश्वास पर आधारित होता है।
- कानून को समाज की संस्थागत-व्यवस्था के एक अंग के रूप में देखना भी आवश्यक है। न्यायालय समाज की मान्यताओं से हट कर निर्णय नहीं देते। न्यायपालिका के अतिरिक्त समाज में कुछ सुनियोजित संस्थाएं, जैसे, विधायिका, कार्यपालिका तथा राजनीतिक दल भी होते हैं। समूची न्यायिक व्यवस्था, इन समस्त संस्थाओं पर निर्भर करती है। वह समाज, राजनीति और अर्थव्यवस्था के प्रभावों से हट कर कार्य नहीं कर सकती। इसी परिप्रेक्ष्य में यह कहा जाता है कि कानूनी व्यवस्था, अधिकारों के संरक्षण और सभी के लिए सामाजिक न्याय उपलब्ध कराने के उद्देश्य से जुड़ी हुई है। ये उद्देश्य कानूनी दायित्व आरोपित करने का आधार होते हैं न कि केवल इन दायित्वों का परिणाम। कानून पालन का हमारा दायित्व मुख्यतः इस बात पर निर्भर करता है कि कानून किन लक्ष्यों को समर्पित है और वह न्याय, नैतिकता और निष्पक्षता के आधार पर नागरिकों को क्या सामान्य-भाव सुलभ कराता है।

अतः ड्वॉर्किन के अनुसार किसी भी कानून में 'सिद्धांत' और 'नीति', दोनों समाहित होते हैं। जहां

सिद्धांत अधिकारों के समरूपी होते हैं वहीं नीति उपयोगिता की समरूपी। अधिकार, सिद्धांत व न्याय के रूप में उपलब्ध व्यक्तियों के दावे होते हैं जबकि नीतियां संपूर्ण समुदाय की सामूहिक भलाई की परिचायक हैं। कानूनी व्यवस्था में ये दोनों पक्ष समाहित होने चाहिए। इस परिप्रेक्ष्य में, कानून से संबंधित प्रत्यक्षवादी दृष्टिकोण को नैतिक दृष्टिकोण से पृथक नहीं किया जा सकता।

मार्क्सवादी व्यवस्था में कानून का एक विशिष्ट दृष्टिकोण है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण, कानून की सार्वभौमिक व्यवस्था को नकारता है। लेनिन ने एक बार यह कहा था कि वस्तुतः ''कानून राजनीति है''। कानून, साम्यवादी देशों, विशेषतः पूर्ववर्ती सोवियत संघ में, 'वर्गीय' कानून तथा 'सर्वहारा' कानून के रूप में माना जाता है। अतः सोवियत व्यवस्था, कानून को वर्गीय विचारधारा की उपलब्धि के उपकरण के रूप में स्वीकार करती थी। उनके अनुसार, अंतर्राष्ट्रीय कानून भी सोवियत समाज के लक्ष्यों के संवर्द्धन का एक उपकरण था।

उपरोक्त चर्चा के आधार पर कानून की कोई निश्चित परिभाषा देना कठिन प्रतीत होता है। उसकी व्यावहारिक परिभाषा कुछ इस प्रकार दी जा सकती है : "कानून, नियम और नियमन का सामान्यतः स्वीकृत ऐसा समूह है जो किसी मानव समाज में अंततः संबंधों को अनुशासित करता है और जिसका उद्देश्य व्यवस्था की स्थापना और सभी का संतुलित विकास करना है।"

कानून के स्रोत

कानून की उत्पत्ति कहां से हुई? कानून के विविध स्रोत हो सकते हैं। कानून का आदर्शवादी स्रोत, प्राकृतिक कानून है। इसे प्रायः व्यक्ति के 'सही विवेक' के रूप में संबोधित किया जाता है। इस रूप में, कानून से यह अपेक्षा की जाती है कि वह मानवीय बुद्धि व समझ पर आधारित सार्वभौमिक सामान्य समझौतों को मूर्त रूप दे। प्राचीन भारत में 'धर्म' की अवधारणा ऐसी ही थी। वह कानून के लक्ष्यों को सुनिश्चित करता था। लेकिन प्राकृतिक कानून अथवा 'धर्म-सिद्धांतों' की विषय-वस्तु के संबंधों में बहुत कम लोगों में सहमति प्रकट होती है।

कानून के अन्य स्रोत हैं-संविधान, संविधियां, परंपराएं, संधियां तथा प्रशासनिक नियम व नियमनकारी विविध कानूनी प्रावधान। कार्यपालिका के आदेश तथा न्यायालय के निर्णय भी कानून के स्रोत हैं।

ऑस्टिन के अनुसार, कानून ऐसे संप्रभु का आदेश होता है जो अपने क्षेत्राधिकार में रहने वाले व्यक्तियों से स्वभावगत आज्ञापालन अर्जित करता है। अतः उसकी दृष्टि में 'सही विवेक' की अपेक्षा 'सत्ता' कानून का अधिक उपयुक्त स्रोत है।

कानून के प्रकार

कानून दो प्रकार के होते हैं :

- निजी, और
- सार्वजनिक

निजी कानून उन अधिकारों, वस्तुओं तथा सेवाओं का उल्लेख करता है जो व्यक्ति को राज्य के अस्तित्व पर ध्यान दिए बिना उपलब्ध कराए जाते हैं। इसमें परिवार कानून, संपत्ति कानून तथा उत्तराधिकार के कानून सम्मिलित होते हैं। इन विषयों में राज्य की भूमिका केवल प्रासंगिक कानूनों को मान्यता देने व उन्हें प्रवर्तित करने तक ही होती है।

सार्वजनिक कानून, नागरिकों व राज्य के अधिकारों से संबंधित हैं। सार्वजनिक कानून के कुछ उदाहरण हैं- अंतर्राष्ट्रीय कानून, नागरिक कानून, सांविधानिक कानून, प्रशासनिक कानून। अंतर्राष्ट्रीय कानून सामान्यतः स्वीकृत नियमों व नियमनों का एक ऐसा

समूह है जो राष्ट्रों, अंतर्राष्ट्रीय संगठनों तथा व्यक्तियों के आचार को नियंत्रित करता है। यह उस नागरिक कानून से भिन्न है जो किसी राष्ट्र के अंतर्गत व्यक्तियों व उनके संगठनों के संबंधों को संबंधित करता है। जबकि प्रत्येक राज्य के अपने पृथक नागरिक कानून होते है, अंतर्राष्ट्रीय कानून, समस्त राष्ट्रों और व्यक्तियों के लिए एक ही होता है। अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय का यह दायित्व है कि वह विवादों पर अंतर्राष्ट्रीय कानूनों के अंतर्गत अपना निर्णय दें।

सांविधानिक कानून ऐसे मानकों, नियमों और व्यवहारों का समूह है जो सरकार तथा उसके सहायक यंत्रों के कार्यों एवं शक्तियों को नियंत्रित करता है। भारतीय व्यवस्था में उच्चतम न्यायालय, सर्वोच्च न्यायालय है जो सांविधानिक कानूनों के अंतर्गत उत्पन्न विवादों पर अपना निर्णय देता है।

इस प्रकार, निजी कानून 'शिष्ट समाज' (Civil Society) का बोध कराता है जबकि सार्वजनिक कानून, राज्य की सत्ता का उल्लेख करता है। समाज में ये दोनों ही कानून विद्यमान होते हैं। किसी परिवार को संपत्ति से वंचित नहीं किया जा सकता, जबकि संपत्ति का सीधा संबंध कर-कानून, क्षति-कानून तथा अनुबंधों से अविभाज्य रूप से जुड़ा होता है। इसी कारण कुछ लोगों का यह विश्वास है कि कानून के विभिन्न रूपों में कोई विभेदीकरण नहीं हो सकता।

सार्वजनिक और निजी कानून में चाहे कोई भी अंतर क्यों न हो, यह निश्चित है कि कानून प्राय: सार्वभौमिक मानवीय आवश्यकता है। कोई भी समाज कानूनी व्यवस्था के बिना जीवित नहीं रह सकता। हमारे पारस्परिक संबंधों को सुदृढ़ता प्रदान करने के लिए संस्थाएं, नियम एवं नियमनों का एक कार्यशील ढांचा आवश्यक है। कानून के बिना किसी भी समाज में पूर्ण अराजकता उत्पन्न हो जाएगी। इसीलिए कानून के शासन को सभ्य जीवन का सार माना जाता है। कानून, हमारे आपसी संबंधों को निश्चितता प्रदान करता है। वह इस बात पर बल देता है कि कानून अपनी प्रकृति में इतने सामान्य होने चाहिए कि उनके प्रयोग से निरंकुशता का आभास न हो। कानून इस बात पर भी बल देता है कि कानून के समक्ष सभी पूर्णत: समान हों तथा व्यक्ति व अधिकारी, दोनों ही कानून के प्रति समान संगति प्रदर्शित करें।

हमें यह हमेशा ध्यान में रखना चाहिए कि सभी कानून, मानव कल्याण के अनुकूल नहीं होते और न ही हमारे अधिकारों का पोषण करते हैं। हर कानून व्यवस्था से उपेक्षित लोगों की सहायता नहीं करता है। कुछ कानून अनिष्टकारी भी होते हैं जो मानवता और हमारी स्वतंत्रता को क्षति पहुंचाते है। 1919 का 'रॉलेट अधिनियम' ऐसा ही एक कानून था जिसके परिणामस्वरूप जलियांवाला बाग हत्याकांड हुआ।

कानून तथा नैतिकता

कानून तथा नैतिकता का पारस्परिक संबंध जटिल है। जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, कानून के विविध पक्ष उतने सरल नहीं होते जितने कि वे दिखाई देते हैं। इसके अतिरिक्त, स्वयं नैतिकता की प्रकृति के विषय में भी सहमति का अभाव है। नैतिकता कैसे गठित होती है, इस बात का उल्लेख यहां अनुपयुक्त है। यहां तो केवल नैतिकता तथा कानून के संबंधों का ही संक्षिप्त उल्लेख करेंगें।

सिनिक्स यह मानते है कि कानून तथा नैतिकता का कोई संबंध नहीं है। कानून, निश्चित व वस्तुनिष्ठ है और उसका उस नैतिकता से कोई सरोकार नहीं जो अपनी मूल प्रकृति में अस्पष्ट व विषयगत होती है। उनके अनुसार कानून का मूल्यों से कोई संबंध नहीं होता। 'कल्याण' अथवा 'न्याय' के भाव कानून की विषयवस्तु में नहीं आते। कानून का सरोकार वास्तव

में 'क्या है' से होता है। नैतिकता की भांति वह 'क्या होना चाहिए' से कोई संबंध नहीं रखता। यह तर्क दिया जाता है, कि नैतिक विचार अनिवार्यतः विवादास्पद होते हैं और उनके संघर्ष की स्थिति में व्यक्ति असहाय होता है। परंतु कानून के मामले में अधिनिर्णय के लिए न्यायालय विद्यमान होते हैं जो कानून की सुदृढ़ व स्पष्ट व्याख्या करते हैं।

यह सही है कि दोनों शब्दों (कानून व नैतिकता) से एक ही अर्थ का बोध नहीं होता। कोई चीज कानूनी दृष्टि से सही होते हुए भी नैतिक रूप से गलत हो सकती है। जब हम यह कहते है कि अमुक कार्य कानूनी है तो हमारा प्रयोजन केवल यह स्पष्ट करना होता है कि वह कार्य वर्तमान कानून से संगत है। जब हम यह कहते है कि अमुक कार्य नैतिक है तो हमारा उद्देश्य यह मत अभिव्यक्त करना होता है कि उक्त कार्य चाहे सामयिक न हो परंतु वह नैतिक दृष्टि से सही होता है। यह हमें कानूनी व नैतिक पक्षों में अंतर स्पष्ट करने में सहायता पंहुचाता है।

तदापि यह स्पष्ट होना चाहिए कि कभी-कभी नैतिक व कानूनी मान्यताएं परस्पर व्यापी होती हैं। वास्तव में, नैतिक मान्यताओं ने कानून के निर्माण व प्रवर्तन को प्रभावित किया है। साथ ही स्वयं नैतिकता भी कानूनों से निर्धारित हुई है। दोनों परस्पर अंत:क्रियाशील होते हैं। जैसा कि स्पष्ट है, हमारा यह नैतिक दायित्व है कि हम देश के कानूनों का पालन करें। परंतु, यदि कानून नैतिक पक्षों से रिक्त हों तो वे प्रभावशाली नहीं हो सकते। कानूनी व्यवस्था में व्याप्त 'मूल्य' व 'औचित्य' की धारणाएं वस्तुत: जनता की दृष्टि में नैतिक होने से बंधी हुई हैं।

एक अन्य अर्थ में भी नैतिकता कानून के संदर्भ में प्रासंगिक है। जब कभी भी कोई कानून अस्पष्ट होता है, तो न्यायाधीश संबंधित प्रश्नों के समाधान व अधिनिर्णय के लिए प्राकृतिक कानून, समता व न्याय सरीखी अवधारणाओं का प्रयोग करते हैं। दूसरी ओर ऐसी स्थितियां भी उत्पन्न हो सकती हैं जब कानून को नैतिक मामलों पर भी अपना निर्णय देना पड़े। उदाहरण के लिए विवाह कानून। इन सभी प्रसंगों में कानून संबंधी निर्णय निहित पक्षों के नैतिक चरित्र के संदर्भ में लिए जाएंगे। मानहानि अथवा झूठी निंदा के मामलों पर निर्णय लेने के लिए भी न्यायालय, नैतिक मान्यताओं एवं प्रसंगों का सहारा लेते हैं। वास्तव में, न्यायालय इस बात पर जोर देते हैं कि गवाह शपथ लेकर ही अपनी गवाही दें। यह सब निरर्थक होगा यदि यह मान लिया जाए कि नैतिक दायित्व कुछ नहीं होते। विश्वास और नैतिक उद्देश्य के प्रश्न समय-समय पर उठते ही रहते हैं।

नैतिकता के संरक्षण व प्रवर्तन के लिए भी कानून का प्रयोग किया जाता है। इसी दृष्टिकोण का सहारा लेते हुए प्राचीन काल में भारतीयों ने 'धर्म' के संदर्भ में कानून पर विचार किया था। कानून को समाज से अलग नहीं देखा-परखा जा सकता। वह वस्तुत: समाज का एक भाग है और इसके ताने-बाने से बुना रहता है। इसीजिए कानून का संबंध हत्या, चोरी, झूठी कसम, पारिवारिक व्यभिचार, आदि से भी होता है। ये सभी कानूनन प्रतिबंधित हैं और नैतिकता के विरूद्ध हैं। हानिकारक क्या है, इसका निर्धारण सामान्यत: किसी समुदाय के समान मूल्यों द्वारा ही किया जाता है।

नैतिकता का कोई एक रूप नहीं होता। नैतिकता के अनेक दृष्टिकोण तथा रूप विद्यमान हैं। इसमें तर्क के विविध स्तर और अवस्थाएं क्रियाशील होती हैं। नैतिकता का एक रूप वैयक्तिक नैतिकता है जिसकी संपूर्ण जिम्मेदारी व्यक्ति अपने ऊपर ले लेता है। इसके अतिरिक्त सामूहिक नैतिकताएं भी होती हैं जो नैतिक व्यवहार के सामाजिक पक्ष पर बल देती हैं। उन्हें सार्वजनिक नैतिकता भी कहा जाता है। कुछ कानून हमारी वैयक्तिक नैतिकता पर चोट पहुंचा

सकते हैं। उनके विषय में हमें अपने-आप यह निर्णय लेना होता है कि हम ऐसे कानूनों का पालन करें या उनका प्रतिकार करें। इसी प्रकार, कुछ कानून, सामूहिक नैतिकता जैसे कबीलों की नैतिकता से भी असंगत हो सकते हैं। इस बात पर आम सहमति है कि जहां तक संभव हो, राज्य को व्यक्तिगत नैतिकता का प्रवर्तन नहीं करना चाहिए। जहां तक सार्वजनिक नैतिकता का प्रश्न है, राज्य का नैतिकता से संबंध जटिल है। कभी-कभी कानून सार्वजनिक नैतिकता को समाहित करता है, उसके नाम पर वह किसी सुनिश्चित व्यवहार का प्रतिपादन भी करता है। दूसरी ओर, कुछ ऐसे विषय भी हो सकते हैं जब हमें यह ज्ञात हो कि अमुक वस्तु सार्वजनिक नैतिकता के विरूद्ध है परंतु फिर भी हम यह नहीं चाहते कि राज्य अपने प्रयासों से उसका प्रवर्तन करे। झूठ बोलना सभी नैतिक सिद्धांतों के विरूद्ध है, लेकिन शपथ लेकर न्यायालय में झूठ बोलने के अतिरिक्त वह कानून द्वारा कहीं और प्रतिबंधित नहीं है। ऐसे कानून बनाना बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं है जिनका प्रवर्तन मुश्किल हो या जिनका सभी लोगों द्वारा अनुकरण नहीं किया जा सके। इसी प्रकार, बहुमत का समर्थन प्राप्त किए बिना कानूनों को पारित करना भी ठीक नहीं है। ऐसा कानून, प्रवर्तन-प्रक्रिया में केवल बहुत अधिक कष्टप्रद ही नहीं होगा बल्कि उससे कानूनीव्यवस्था की प्रभावशीलता के प्रति जनविश्वास भी विचलित हो जाएगा।

कभी यह भी हो सकता है कि कानून सामूहिक नैतिकता का प्रतिगामी हो। ऐसे मामलों में यह सवाल उठ सकता है कि क्या वह हमारा नैतिक दायित्व है कि हम ऐसे कानून को मानें क्योंकि कानून न केवल व्यवस्था के अनुरक्षण के लिए आवश्यक है बल्कि कुछ अंशों व अर्थों में वह अच्छे जीवन के लिए भी जरूरी है। यह ध्यान रखना प्रासंगिक है कि कानून नैतिकता प्रवर्तित कर सकता है, और कुछ विषयों में तो उसे ऐसा करना भी चाहिए। लेकिन राज्य को ऐसा कार्य बहुत सावधानीपूर्वक करना चाहिए अन्यथा नैतिकता, व्यवहार की केवल बाह्य कानूनी संहिता ही रह जाएगी। उसकी गतिशीलता और सुखद स्वाभाविकता खो जाएगी। नैतिकता को अनिवार्यतः गतिशील होना चाहिए। उसे हर हालत में सामाजिक परिवर्तनों के प्रति अनुक्रियाशील होना चाहिए।

अभ्यास

1. 'कानून' शब्द से आप क्या समझते हैं।
2. 'नैतिक कानून' तथा 'राज्य कानून' में अंतर स्पष्ट कीजिए।
3. 'प्रत्यक्षवादी कानून' के सिद्धांत का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
4. कानून के विभिन्न स्रोत कौन-कौन से है?
5. 'सार्वजनिक कानून' तथा 'निजी कानून' में अंतर बताइए।

अध्याय 2

स्वतंत्रता

'स्वतंत्रता' क्या है?

स्वतंत्रता की अवधारणा को परिभाषित करना कठिन है। यह एक ऐसा शब्द है जिसके अनेक भावनात्मक अभिकल्पित अर्थ हैं। इस शब्द को विविध कालों में पृथक-पृथक रूप से परिभाषित किया गया। परंतु इन सब विविधताओं में उसका एकसमान भाव भी प्रकट होता है।

स्वतंत्रता का सबसे महत्त्वूपर्ण अभिप्राय यह है कि इससे प्रेरित होकर कोई विवेकशील व्यक्ति बिना किसी बाह्य दबाव के अपनी इच्छा के अनुसार कार्य कर पाता है। इस अर्थ में स्वतंत्रता हमारे व्यक्तित्व के स्वतंत्र व मुक्त विकास की एक अनिवार्य अवस्था है। इसके अभाव में हम वह सब कुछ नहीं पा सकते जिसे हम विवेकयुक्त और सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। स्वतंत्रता पाने का अर्थ है अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करना, अपने सपनों को साकार करना और अपनी क्षमता को कार्य-रूप देना। यही मानवता का सार है। इससे हमारी जिम्मेदारियों को ठोस आधार मिलता है। यह वह आदर्श है जिसकी हम सब कामना करते हैं।

कोई व्यक्ति तब ही स्वतंत्र माना जाता है जब वह दूसरे लोगों से प्रतिबंधित न हो। स्वतंत्रता का यह भी अर्थ है कि हमें कुछ करने की स्वतंत्रता मिले या हम 'अपनी शक्तियों का सही प्रयोग कर सकें। जब हम वह सब कुछ कर पाते हैं जो करना चाहते हैं तो हम स्वतंत्र कहलाते हैं। इसका अर्थ है दंड के भय से मुक्त रहते हुए दूसरों के आदेश से स्वतंत्र कार्य करने की क्षमता प्राप्त करना। इसके अतिरिक्त कानून के अंतर्गत भी स्वतंत्रताएं विद्यमान होती हैं। नागरिक जब कानून के अनुसार कार्य करते हैं और कानून द्वारा प्रतिबंधित कार्य नहीं करते, तो उन स्थितियों में वे स्वतंत्र कहलाते हैं। स्वतंत्रता का प्रयोग मुख्यत: दो अर्थों में किया किया जाता है: नकारात्मक तथा सकारात्मक।

नकारात्मक स्वतंत्रता

नकारात्मक दृष्टिकोण का यह अर्थ है कि हमें राज्य के अनुचित हस्तक्षेप से बचाव के लिए स्वतंत्रता की आवश्यकता है। हमें एक ऐसा कार्यक्षेत्र प्राप्त हो जहां व्यक्ति दूसरों के अवरोधों से मुक्त होकर अपनी इच्छानुसार कार्य कर सके। यहां यह जानना आवश्यक है कि मानवीय संबंधों में कुछ अवरोध तो ऐसे होते हैं जो स्वाभाविक है। उदाहरण के लिए, यदि कोई अंधा है तो वह अंधेपन के कारण पढ़ नहीं सकता। परंतु कुछ क्षेत्र ऐसे भी होते हैं जहां दूसरे जान-बूझ कर ऐसा हस्तक्षेप करते हैं जिसके कारण हम उन क्षेत्रों में चाहते हुए भी वांछित

कार्य नहीं कर पाते। स्वतंत्रता का क्षेत्र कितना व्यापक हो, इस विषय में कोई आम सहमति नहीं है। विचारक इस बात पर अवश्य सहमत हैं कि स्वतंत्रता का क्षेत्र असीमित नहीं हो सकता। यदि वह असीमित होगा तो समाज में अराजकता उत्पन्न हो जाएगी। स्वतंत्र कार्य का क्षेत्र कानून द्वारा अवश्य ही प्रतिबंधित होना चाहिए लेकिन व्यक्तिगत स्वतंत्रता का एक न्यूनतम क्षेत्र ऐसा भी होना चाहिए जिसका किसी भी स्थिति में अतिक्रमण न हो। इंग्लैंड में लॉक व मिल तथा फ्रांस में कॉन्स्टेन्ट व टॉकिविले इस मत के प्रतिपादक थे। सर ईज़ाइया बर्लिन के अनुसार "स्वतंत्रता का मौलिक भाव है, दूसरों की दासता, कैद और बंधनों से मुक्ति।" अन्य समस्त भावों में स्वतंत्रता इसका विस्तार मात्र है।

मिल तथा अन्य विचारकों का यह विश्वास था कि जब तक व्यक्तियों को ऐसा क्षेत्र सुनिश्चित नहीं किया जाता तब तक सभ्यता का विकास नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में हम सत्य का दर्शन नहीं कर सकते। मौलिकता की कहीं कोई संभावना नहीं हो सकती तथा वास्तविक नैतिक साहस प्रकट ही नहीं हो सकता। मिल का तर्क था कि इस स्थिति में समाज, सामूहिक सामान्य योग्यता वाले व्यक्तियों के बोझ तले कुचल जाएगा।

नकारात्मक स्वतंत्रता का यह दृष्टिकोण निम्नलिखित गंभीर कमियों से ग्रस्त है:

- मिल का यह तर्क अनुभव की कसौटी पर खरा नहीं उतरता कि स्वतंत्रता के अभाव में सत्य प्रकट नहीं हो सकता। इतिहास यह दर्शाता है कि सत्य के प्रति अनुराग तो उन समुदायों में भी पनपता आया है जहां कठोर अनुशासन होता है।
- नकारात्मक स्वतंत्रता नियंत्रण के क्षेत्र से संबंधित है न कि उसके स्रोत से। ऐसी स्वतंत्रता के उपभोग के लिए लोकतंत्र का होना अनिवार्य नहीं है। वस्तुतः यह संभव है कि कोई तानाशाह या अन्य निरंकुश शासक, अपनी प्रजा को विभिन्न प्रकार की स्वतंत्रता प्रदान करने के बावजूद अपने वास्तविक शासन संचालन में अन्यायपूर्ण हो या वह विषमताओं का पोषण करता हो। अतः यह प्रश्न कि 'कौन शासन करता है?' उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि यह प्रश्न कि 'सरकार मेरे मामले में किस सीमा तक दखल देती है?'
- यह दृष्टिकोण राज्य के कार्यों को न्यूनतम कर देता है। इस दृष्टिकोण से राज्य एक आवश्यक बुराई है।

हर्बर्ट स्पेन्सर ने स्वतंत्रता के नकारात्मक दृष्टिकोण को सार रूप में इस प्रकार बताया कि "राज्य विद्यमान है क्योंकि समाज में अपराध विद्यमान है, अन्यथा राज्य की कोई आवश्यकता ही नहीं होती।" यह दृष्टिकोण राज्य के कल्याणकारी स्वरूप से मेल नहीं खाता। कल्याणकारी राज्य ऐसी स्थितियों के निर्माण का प्रयास करता है जिसमें सभी अपनी क्षमता एवं संभावनाओं की पहचान कर पाते हैं। स्वतंत्रता संबंधी यह दृष्टिकोण इस तथ्य पर पर्याप्त ध्यान नहीं देता कि धन, भूमि, पूंजी व राजनीतिक शक्ति का अभाव हमारी अपनी शक्तियों की प्राप्ति में गंभीर बाधाएं हैं। नकारात्मक सिद्धांतवादी यह नहीं समझते कि उक्त बाधाएं विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था का एक अपरिहार्य भाग हैं और सामान्य-हित प्राप्ति हेतु इन्हें कानून द्वारा हटाया जाना है।

सकारात्मक स्वतंत्रता

स्वतंत्रता के सकारात्मक दृष्टिकोण में दो तत्त्व समाहित हैं :

- इसका एक अभिप्राय संप्रभु सत्ता में भागीदारी का अधिकार प्राप्त करना होता है। सकारात्मक स्वतंत्रता इस प्रश्न के समाधान से संबंधित है कि 'नियंत्रण अथवा हस्तक्षेप का स्रोत कौन है?' यह वैयक्तिक आत्मनिर्देशन को अंतिम मानती है। आत्मनिर्देशन का अर्थ है, अपने चेतन उद्देश्यों के अनुसार जीना, स्वयं अपने आप निर्णय व आचरण करना न कि दूसरों के निर्णयों व आचरणों के अनुसार चलना।
- सकारात्मक स्वतंत्रता का दूसरा अर्थ है 'विवेकशील-आत्म' (rational self) की स्वतंत्रता। रूसो व अन्य आदर्शवादियों की यह धारणा थी कि व्यक्ति विवेक-संपन्न है तथा यह गुण उसे अन्य प्राणियों से पृथक करता है। उन्होंने 'विवेकी-आत्म' को वास्तविक आत्म की संज्ञा दी क्योंकि यही आत्म-भाव हमें सामाजिक संपूर्ण से तादात्म्य स्थापित करने की प्रेरणा देता है। वास्तविक आत्म की पूर्ति हेतु व्यक्तियों को नियंत्रित किया जा सकता है। रूसों ने हमें 'सामान्य इच्छा' की अवधारणा दी थी। सामान्य इच्छा हम सब में निहित 'सद्-इच्छा' का संश्लेषण व संगठन है। रूसों का यह विचार था कि 'सामान्य इच्छा' हमें आज्ञापालन के लिए बाध्य कर सकती है क्योंकि स्वतंत्रता समस्त व्यक्तियों के पूर्णतः विकसित वास्तविक आत्म से उत्पन्न दबाव का ही दूसरा रूप है।

यह दृष्टिकोण स्वीकार करता है कि व्यक्ति का सच्चा विकास वास्तव में समाज के अभिन्न अंग के रूप में अपनी शक्तियों के विकास पर ही निर्भर है। उसके विचार, उद्देश्य और आकांक्षाएं समाज से पैदा होती हैं और ये सब संबंधित रूप से अपने क्रम में समाज के विकास को प्रभावित भी करते हैं। यह तर्क दिया जाता है कि व्यक्ति को जब कभी सामाजिक अस्तित्व से निराशा हो, उसे यह अपेक्षा का अधिकार प्राप्त है कि वह राज्य से ऐसी स्थिति से बचाव की अपेक्षा करे। अन्य व्यक्तियों के हस्तक्षेप से व्यक्ति की रक्षा करने के लिए राज्य को हस्तक्षेप करना ही चाहिए।

सकारात्मक स्वतंत्रता संबंधी यह दृष्टिकोण पूर्व वर्णित नकारात्मक दृष्टिकोण की एक बड़ी विसंगति से बचाने के लिए सहायता करता है। नकारात्मक दृष्टिकोण व्यक्ति की 'विवेकशील तर्क, नैतिक निर्णय व कर्म तथा सुरुचिपूर्ण निर्माण व मनन' की क्षमताओं को पर्याप्त महत्त्व नहीं देता। वास्तव में स्वतंत्रता संबंधी सकारात्मक दृष्टिकोण भारतीय विचार 'स्वराज' के समान है जिसका शाब्दिक अर्थ है अपने ऊपर स्वामित्व (स्व+राज = स्वराज)। स्वराज सभी प्रकार के अन्य प्रभुत्वों से मुक्ति की मांग करता है।

राज्य के हस्तक्षेप से संबंधित उक्त चर्चा का यह अर्थ नहीं है कि राज्य के प्रत्येक हस्तक्षेप से स्वतंत्रता की अभिवृद्धि होती है। अतीत इस बात का साक्षी है कि किसी व्यक्ति, वर्ग अथवा जाति-विशेष के हित साधन के लिए राज्य-शक्ति का दुरुपयोग भी होता आया है।

स्वतंत्रता के सकारात्मक दृष्टिकोण में यह भय तो निहित है कि इसमें स्वतंत्रता पर किसी भी प्रकार के आघात को वास्तविक स्वतंत्रता के नाम पर न्यायसंगत ठहराया जा सकता है। इस दृष्टिकोण के नाम पर कभी-कभी सामान्य इच्छा, वर्ग अथवा राष्ट्र के नाम पर राज्य अति शक्तिशाली माध्यम

जा जाते हैं। वे स्वयं वास्तविक व्यक्तित्व के रूप में प्रतिष्ठित हो जाते हैं और इसके पश्चात् उनके द्वारा स्वतंत्रता के अतिक्रमण को उचित ठहराया जा सकता है। जितना हम राज्य को अथवा राज्य के प्रवक्ताओं को गरिमायुक्त करते हैं उतने ही अनुपात में राज्य के इन अभिकर्ताओं द्वारा उनके निजी हित के साधन के लिए शक्ति के दुरुपयोग की संभावाएं बढ़ जाती हैं। इसे अनुभव न करने के फलस्वरूप ही स्वतंत्रता के इस सकारात्मक सिद्धांत ने अतीत में विकृत रूप ग्रहण कर व्यक्ति के आत्मविकास के लिए आवश्यक स्वतंत्रता का ही निषेध किया है।

मार्क्सवादी चिंतन स्वतंत्रता के नकारात्मक व सकारात्मक, दोनो दृष्टिकोणों को अस्वीकार करता है। उसके अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था में स्वतंत्रता असंभव है। ऐसी व्यवस्था में सभी मजदूरों को विवश होकर अपना श्रम सामूहिक रूप से बेचना पड़ता है। पूंजीवाद, श्रमिकों पर पूंजीपतियों के प्रभुत्व को प्रोत्साहित करता है। मार्क्सवादियों के अनुसार स्वतंत्रता पाने के लिए यह अनिवार्य है कि राज्य समाज की उत्पादक शक्तियों पर विवेकसम्मत नियंत्रण रखे। उनकी यह धारणा सही है कि दरिद्र या संपत्तिहीन श्रमिक स्वतंत्र नहीं हो सकता। उसकी स्वतंत्रता का कोई अस्तित्व नहीं रहता। उसके पास कोई सौदेबाजी की ताकत हो ही नहीं सकती। यह सब सही होने के बावजूद समाज में स्वयं साम्यवादी संस्थाओं के अत्याचार का खतरा बना रहता है। वहां नौकरशाही और दल, दोनों अत्यधिक शक्तिशाली हो जाते हैं और वे प्राय: समान्य हित की अवहेलना करते दिखाई देते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति की यह मान्यता है कि स्वतंत्रता मूल्यवान और अनिवार्य है परंतु स्वतंत्रता की कोई एक सर्वस्वीकृत अवधारणा नहीं है। हमारी उपर्युक्त चर्चा से यह संकेत अवश्य मिलता है कि स्वतंत्र कहलाने के लिए कुछ पूर्व शर्तें निम्नलिखित हैं :

- स्वतंत्रता सभी को आवश्यक रूप से प्राप्त होनी चाहिए। स्वतंत्रता के लिए नियोजन, नियमन तथा नियंत्रण की व्यवस्था आवश्यक होती है। जॉन रॉल्स का यह तर्क है कि हर किसी को व्यापक स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिए तथा इसका अन्य सभी की स्वतंत्रताओं के साथ ताल-मेल होना चाहिए। इस कथन की व्याख्या करते हुए रॉल्स ने यह स्पष्ट किया है कि हमें अपनी सामर्थ्य के अनुसार हर हालत में यह सुनिश्चित करना चाहिए कि समाज का सर्वाधिक अभावग्रस्त व्यक्ति या वर्ग भी एक अनुकरणीय लक्ष्य के रूप में स्वतंत्रता का उपभोग करे। इस दृष्टिकोण का मंतव्य कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना है।
- शक्ति के दुरुपयोग के विरुद्ध पर्याप्त नियंत्रण उपलब्ध होने चाहिए। ये नियंत्रण अधिकार, कानून के शासन तथा समाज की संस्थात्मक व्यवस्थाओं के प्रति निष्ठा के रूप में प्रदान किए जाने चाहिए।
- व्यक्ति के लिए स्वतंत्रता का एक क्षेत्र सुरक्षित होना चाहिए। इस क्षेत्र में बिना पर्याप्त कारणों के राज्य का हस्तक्षेप प्रतिबंधित होना चाहिए।

स्वतंत्रता के प्रकार

स्वतंत्रता के तीन प्रकार हैं :

- राजनीतिक
- आर्थिक, तथा
- प्राकृतिक अथवा नैतिक

राजनीतिक स्वतंत्रता से अभिप्राय है ऐसे वातावरण का अनुरक्षण जिसमें किसी व्यक्ति के जीवन में

बिना समुचित व बाध्यकारी कारणों के राज्य हस्तक्षेप नहीं करता। अत: भाषण व अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में सरकार का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए क्योंकि इन स्वतंत्रताओं में सरकारी हस्तक्षेप उस लोकमत को अवरुद्ध कर सकता है जो सत्य का पक्षधर है। इस प्रकार के आश्वासन के अभाव में स्वतंत्रता का कोई उपयोग हो ही नहीं सकता। राजनीतिक स्वतंत्रता के दो पक्ष है – इसका एक पक्ष तो यह है कि कोई समाज किसी दूसरे समाज के अधीन नहीं होगा। उसको अपने मामलों के प्रबंध में पूर्ण स्वायत्तता प्राप्त होगी। हर समाज की अपनी विशिष्ट एवं भिन्न प्रकृति होती है। समाज का यह दायित्व है कि वह अपनी इस प्रकृति की सुरक्षा करे। केवल ऐसी स्थिति में ही कोई समाज सभ्यता की निरंतर बहती धारा में अपना सर्वश्रेष्ठ योगदान कर सकता है। कोई औपनिवेशिक देश या ऐसा देश जो दूसरों पर निरंतर निर्भर हो या दूसरों द्वारा शासित हो, वस्तुत: मृत होता है। अत: उसमें जीवन या जीवन शक्ति दिखाई नहीं देती। प्रत्येक समाज की अपनी विशिष्ट प्रकृति होती है और वह केवल तभी विकसित की जा सकती है, जब वह समाज दूसरों पर निर्भर न हो और उसे अपने मामलों के प्रबंध की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हो। जब लोकमान्य तिलक ने यह कहा था कि "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है" तो उनका अभिप्राय था कि जब तक कोई देश दूसरे के शिकंजे में होता है, वह न तो अपनी प्रतिभा के अनुसार अपना विकास कर सकता है और न ही अपने लक्ष्यों की प्राप्ति।

राजनीतिक स्वतंत्रता का दूसरा पक्ष इस अर्थ पर आधारित है कि राज्य या उसके अभिकर्ता व्यक्तिगत स्वायत्तता में हस्तक्षेप अथवा नियंत्रणों की दृष्टि से अपनी शक्तियों का प्रयोग नहीं करेंगे। इसका अभिप्राय एक ऐसे वातावरण का निर्माण करना है जिसमें व्यक्ति निर्भीक रूप से अत्याचार से मुक्त होकर जीवनयापन करेंगे। इसका एक अन्य अभिप्राय है, मानवीय सनक के शासन के बजाय कानून के शासन की स्थापना।

राज्य को केवल तभी हस्तक्षेप करना चाहिए जब यह नितांत आवश्यक हो जब संपूर्ण समाज का हित व सुख राज्य से ऐसे हस्तक्षेप की कोई मांग करता हो। उक्त मान्यताओं से अलग कोई भी अन्य अविवेकी हस्तक्षेप, वैयक्तिक स्वतंत्रता को नष्ट कर देता है। ऐसे हस्तक्षेप से लोग केवल कठपुतलियां या निष्प्राण यंत्र बनकर रह जाते हैं। हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि व्यक्ति राज्य की आज्ञा का पालन केवल तभी करते हैं जब उन्हें यह विश्वास हो जाता है कि राज्य उनके जीवन को उन्नत करने की दिशा में क्रियाशील है। जिस क्षण यह भाव लुप्त हो जाता है, असंतोष, अराजकता, बल्कि कभी-कभी तो हिंसक उपद्रव भी राज्य पर अधिकार जमा लेते हैं। यह एक ऐसी प्रवृत्ति है जिससे या तो राज्य में सुधार असंभव हो जाता है और या उससे राज्य को एक नया जीवन तथा बल प्राप्त होता है।

आंतरिक पक्षों की दृष्टि से राजनीतिक स्वतंत्रता को प्राय: राज्य के विषयों में नागरिकों की सहभागिता से जोड़ा जाता है। निस्संदेह, यह भागीदारी राजनीतिक स्वतंत्रता का एक महत्त्वपूर्ण अंश है परंतु उसके अन्य अंश भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं। उदाहरण के लिए, यदि लोकतंत्र में राज्य मशीनरी स्वार्थी और भ्रष्ट राजनीतिज्ञों के हाथ में हो या ऐसे सरकारी अफसरों के नियंत्रण में हो जो सामान्य जनकल्याण की घोर उपेक्षा करते हुए केवल अपनी स्वार्थसिद्धि में लिप्त हों, तो ऐसी व्यवस्था में वास्तविक राजनीतिक स्वतंत्रता का सर्वथा अभाव होगा। यदि वह होगी भी तो केवल एक ढोंग के रूप में

होगी। यह सही है कि हमें मतदान का अधिकार अवश्य प्राप्त होना चाहिए ताकि हम अपनी सहमति को कार्य रूप दे सकें, परंतु हमारा यह अधिकार किसी ऐसे समाज में निरर्थक होगा जहां सरकारी अधिकारी मतदान पेटियों में हेरा-फेरी करते हों या राजनीतिज्ञ उन सभी हथकंडों को अपनाते हों जिनसे लोकतंत्र मात्र दिखावा प्रकट होता हो। उन्नीसवीं शताब्दी के इंग्लैंड के इतिहास से या आज के भारत या पाकिस्तान अथवा अन्य कुछ अल्प-विकसित देशों से परिचित कोई भी व्यक्ति आज ऐसे शासकों अथवा राजनीतिज्ञों के अस्तित्व को तुरंत स्वीकार करेगा जो त्याग-भावना से ओत-प्रोत हों, जिन्हें समाज की बुनियादी जरूरतों को समझने की योग्यता हो तथा जो जनहित को प्राप्त करने के लिए पूरी तरह समर्पित हो। कोई भी ऐसा राज्य लंबे समय तक टिक नहीं सकता जो समाज के सामान्य कल्याण से अपनी सत्ता का सामंजस्य बिठाने की दिशा में प्रयत्नशील न हो। यदि इन दोनों में सामंजस्य हो तो समाज फलता-फूलता है और उससे जीवन के उत्तम पक्षों की अभिवृद्धि होती है। यदि इन दोनों में विद्वेष हो तो कभी न कभी इनमें से कोई एक पक्ष या दोनों ही पक्ष नष्ट हो जाते हैं। किसी स्वामी-हंता दैत्य (Frankenstein's monster) से यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि वह पूर्णतः स्वतंत्र जनता के सत्य को साकार करेगा। वही राज्य चिरस्थायी हो सकता है जो सामान्य सुख को अपना सुख समझे और उसे व्यवहार में लाने की दिशा में प्रयास करे।

नागरिक स्वतंत्रता, राजनीतिक स्वतंत्रता का सबसे महत्त्वपूर्ण अंश है। यह लोकतांत्रिक देशों में सभी नागरिकों को उपलब्ध है। हमारा संविधान स्वयं इसको सुनिश्चित करता है। इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह देश के न्यायालयों में कानून के सम्मुख समान हो। किसी को भी विशेषाधिकार प्राप्त नहीं है। हमारे देश में अब कोई भी जागीरदार अथवा जमींदार नहीं है जो विशेषाधिकारों का दावा कर सके। नागरिक स्वतंत्रता की सबसे महत्त्वपूर्ण सुरक्षा बंदी-प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus) याचिका है। कोई भी व्यक्ति बंदी बनाए जाने पर इस याचिका का प्रयोग कर सकता है। डायसी के शब्दों में "यह एक ऐसा आदेश है जो उस व्यक्ति पर लागू होता है जिसने किसी अन्य व्यक्ति को बंदी बना रखा हो। इस आदेश द्वारा उस व्यक्ति से यह कहा जाता है कि वह बंदी को सशरीर न्यायालय में प्रस्तुत करे। इसलिए इस याचिका को बंदी-प्रत्यक्षीकरण कहा जाता है। बंदी को इस प्रकार सशरीर प्रस्तुत किए जाने पर न्यायालय यह निर्धारित करता है कि उसे किस आधार पर बंदी बनाया गया है। इस प्रकार, न्यायालय को यह अवसर मिलता है कि वह कानून के नियमन द्वारा उस बंदी के संबंध में कोई उपयुक्त. कार्रवाई कर सके"। हर व्यक्ति को तब तक निर्दोष माना जाता है जब तक कि उसका अपराध सिद्ध न हो जाए। नागरिक स्वतंत्रता की मांग है कि किसी बंदी पर कानून-विशेष के उल्लंघन का अभियोग, अनिवार्यतः, सिद्ध किया जाना चाहिए अन्यथा उसे रिहा कर देना चाहिए। किसी भी अधिनायकवादी व्यवस्था में किसी भी व्यक्ति को रातों-रात बंदी बनाया जा सकता है, उसे नजरबंदी-शिविर में रखा जा सकता है या उसे संरक्षणात्मक हिरासत (Protective Custody) में रखा जा सकता है। ऐसे व्यक्ति के पास शक्ति के इस निरंकुश प्रयोग के विरुद्ध कोई उपचारात्मक उपाय नहीं होता। इन व्यवस्थाओं में न्यायपालिका के स्थान पर कार्यपालिका

यह निर्णय लेती है कि अमुक व्यक्ति को रिहा कर दिया जाए या उसकी हिरासत बनी रहे।

भाषण तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता नागरिक स्वतंत्रता का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक नागरिक अपने विचारों को दूसरों तक पहुंचाने के लिए स्वतंत्र है। इसमें भाषण, प्रकाशन की स्वतंत्रता तथा सार्वजनिक अभिव्यक्ति सम्मिलित हैं। इसका यह भी अर्थ है कि नागरिकों को अंत:करण की स्वतंत्रता प्राप्त हो, तथा वे पारस्परिक संबंधों में सहिष्णुता का परिचय दें। हमारी भाषण व अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का मुख्य स्रोत प्राचीन यूनान है। स्वयं हमारे कानून-निर्माताओं ने इसकी महत्ता पर बल दिया था परंतु इसकी सर्वोत्तम प्रस्तुति प्राचीन यूनान में ही हुई थी। वहां सुकरात ने इसकी रक्षा के लिए प्रथम बलिदान दिया था। उसका जीवन एक प्रकार से स्वतंत्रता के विरोधाभास को प्रकट करता है। उसे मृत्यु-दंड इसलिए दिया गया था क्योंकि उसके उपदेश व विचार तत्कालीन सरकार को स्वीकार्य नहीं थे। उसने अपने न्यायाधीशों से कहा कि "वे विषय जिन पर आप मुझे लोगों से बात करते हुए रोज सुनते हैं वे व्यक्ति के लिए सर्वाधिक हितकारी हैं।" उसका यह मत था कि कोई ऐसा जीवन, जो इस प्रकार की चर्चा से वंचित हो, जीने योग्य हो ही नहीं सकता।

सुकरात भाषण व अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में निहित जिम्मेदारियों के प्रति भी पर्याप्त रूप से सचेत था। स्वतंत्रता का निंदात्मक अथवा देशद्रोही उद्देश्यों के लिए प्रयोग नहीं किया जा सकता। यदि सुकरात यह वचन देता कि वह चुप रहेगा और अपनी अनंत चर्चाओं को बंद कर देगा तो निर्णायक मंडल उसे दोषमुक्त घोषित कर देता, परंतु उसने यह घोषित किया कि "मैं अपने तौर-तरीके नहीं बदलूंगा चाहे मुझे हजार बार क्यों न मरना पड़े।" उसने भाषण व अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को उचित ठहराया परंतु देशद्रोह के अधिकार को कोई मान्यता नहीं दी। अपने जेल-प्रवास के दौरान देश के प्रति मनुष्य के ऋण की चर्चा करते हुए सुकरात ने क्राइटो को यह बताया कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने देश का सम्मान करना चाहिए और आवश्यकता पड़ने पर उसे अपने देश की सेवा करनी चाहिए।

सामाजिक स्वतंत्रता का अभिप्राय है कट्टरपंथी अथवा संकीर्णता की हदबंदियों से अथवा स्वतंत्रता के अंधे अनुपालन के किसी भी सामाजिक आवेग से लोगों को मुक्ति दिलाना। बहुमत, समाज में निरंकुश होने की तथा अल्पमत को आतंकित करने की प्रवृत्ति रखता है। अतीत में अनेक महान आत्माएं अनेक बार फांसी के तख्ते पर केवल इसीलिए चढ़ती आई हैं क्योंकि उनके विचार और विश्वास समाज के बहुमत से भिन्न थे। वास्तव में बहुमत की निरंकुशता तो किसी एक व्यक्ति की निरंकुशता से भी कहीं अधिक घातक हो सकती है क्योंकि वह व्यक्ति के जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों में घुसपैठ कर सकती है। अत: इस संदर्भ में राज्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह व्यक्ति की स्वायत्तता की दिशा में प्रकट बाधाओं को दूर करेगा और लोगों को अभयदान देते हुए उनकी क्षमताओं का उन्मुक्त संबोधन करेगा।

आर्थिक स्वतंत्रता से अभिप्राय है दूसरो पर निर्भरता के बिना जीवनयापन की सभी मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति। आर्थिक स्वतंत्रता, किसी भी स्वतंत्र समाज का मूल आधार है। भविष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दूसरों की दया पर आश्रित किसी व्यक्ति से यह अपेक्षा नहीं जा सकती कि वह नागरिक सदगुणों की किसी धारणा

अथवा मूल्यों से प्रतिबद्ध होगा। वह तो मानवता के अवसाद से भी वंचित रह सकता है। यह जितना व्यक्ति पर लागू होती है उतनी ही राज्य पर भी। विदेशी सहायता पर अत्यधिक निर्भर होकर भी राज्य कभी न कभी आर्थिक लाभ के बदले में अपनी स्वतंत्रता के साथ कोई न कोई समझौता करने को बाध्य होता ही है। लेटिन अमेरिका के देशों का अनुभव इस बात का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। इसी प्रकार भुखमरी, बीमारी और गरीबी के दुःस्वप्नों से डरा-सिमटा कोई व्यक्ति स्वायत्त जीवन नहीं जी सकता। वह समाज में अपने सर्वश्रेष्ठ योगदान हेतु अयोग्य हो जाता है। यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि जीवनयापन की मौलिक वस्तुओं में समस्त संपदाएं या उपभोग के ऐसे साज-सामान सम्मिलित नहीं होते जिनका विविध प्रकारों में हमारी आधुनिक सभ्यता ने विकास कर दिया है। इसका अर्थ तो केवल यह है कि दूसरों की इच्छा पर आश्रित न रहते हुए अपनी रोज की दाल-रोटी का प्रबंध किया जा सके। इस संबंध में लास्की का यह मत उल्लेखनीय है कि "कुछ लोगों के अनावश्यक खर्चे से पहले सबके लिए पर्याप्तता होनी चाहिए।" कोई व्यक्ति जो सुबह से शाम तक लगातार रोटी जुटाने की चिंता में हो, जो हताश और अज्ञानी हो और निरुद्देश्य जीता हो तथा जिसका जीवन दूसरों की इच्छा पर निर्भर हो, वह अपनी स्वायत्तता का उपयोग कभी नहीं कर सकता। आर्थिक स्वतंत्रता के लिए उसे कभी-कभी अपने चरित्र और राजनीतिक स्वतंत्रता को भी दाव पर लगाना पड़ता है।

वास्तव में, राजनीतिक स्वतंत्रता अर्थहीन है जब तक उसे आर्थिक स्वतंत्रता का ठोस आधार नहीं मिलता। आर्थिक स्वतंत्रता की इस धारणा का एक निहित अर्थ यह है कि समाज में कार्य करने की इच्छा और क्षमता वाले किसी भी व्यक्ति को इतना कुछ प्राप्त हो कि वह उसके बल पर बिना किसी बाधा के सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन में सक्रिय भाग ले सके। कोई मजदूर जिसे उसका मालिक बिना किसी निष्पक्ष जांच के नौकरी से हटा सकता है, वास्तव में बहुत कम आर्थिक स्वतंत्रता का उपभोग करता है। किसी भूखे आदमी के लिए लोकतंत्र और उसके अन्य उपकरणों का बहुत कम महत्त्व होता है। मानव इतिहास में ऐसा कई बार हुआ है और गरीब समाजों में तो प्रायः ऐसा होता ही आया है कि जीवनयापन के साधनों से वंचित व्यक्ति, हिंसक क्रांतियों से अपने समाज को झकझोर देता है।

उदारवादी विचारक सामाजिक और राजनीतिक स्वतंत्रता पर अधिक बल देते हैं। उन्होंने अपनी पूरी सामर्थ्य से यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि सरकार के समस्त प्रकारों में लोकतंत्र ही श्रेष्ठ है। वे व्यक्तियों के जीवन में राज्य की न्यूनतम भूमिका के भी पक्षधर हैं। उनका यह तर्क है कि अधिकांश मामलों को व्यक्ति की पहल पर छोड़ा जाना चाहिए क्योंकि वैयक्तिक पहल और साहसिकता की भावना ही मानवता की प्रगति में मुख्यतः उत्तरदायी रही है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने तो इस संबंध में यहां तक कहा है कि यदि व्यक्ति द्वारा कोई कार्य बुरी प्रकार से भी किया गया हो तो वह उसे अपनी नैतिक शिक्षा के भाग के रूप करना चाहिए। यद्यपि इस चिंतन की एक बड़ी कमी यह है कि वह उन परिस्थितियों की अनदेखी करती है जो व्यक्ति के स्वयं के नैतिक अस्तित्व को प्रायः नष्ट करती है क्योंकि उन पर व्यक्ति का अपना कोई नियंत्रण ही नहीं होता। भारत में बहुत लोग ऐसे हैं जो गरीबी रेखा के नीचे रहते हैं और वास्तव में बहुत सीमित स्वतंत्रता का आनंद उठाते हैं।

समाज के पिछड़े वर्ग के लोगों के लिए मतदान की स्वतंत्रता अथवा धर्म व नैतिकता का कोई अर्थ नहीं है। उन्हें ऐसा संदेह होता है कि आर्थिक दृष्टि से संपन्न वर्ग का एक साधन बन कर राज्य स्वयं उनके शोषण का उपकरण बन गया है। वास्तव में भूख से त्रस्त व्यक्ति के सम्मुख मतदान का अधिकार या धर्म की चर्चा निरर्थक है। कंगालों का राष्ट्र कभी न कभी अपने उचित दंड का भागीदार होता ही है। निर्धनता से त्रस्त वर्ग या तो पूर्व कर्मों का प्रतिफल मानते हुए अपनी स्थिति को चुपचाप स्वीकार कर लेता है या वह विविध प्रकार के प्रतिरोधों को इस आशा से अपना लेता है कि वे उसके लिए सहायक होंगे। कभी-कभी प्रतिरोध के रूप में वह हिंसक क्रांतियों का रास्ता भी चुन लेता है। ऐसे समाजों में धन की शक्ति सबसे बड़ी शक्ति बन जाती है। चुनावों में वोट बेचे व खरीदें जाते हैं। भूख से त्रस्त किसी व्यक्ति के लिए उपयुक्त व्यक्ति को अपना वोट देने की अपेक्षा सही या गलत तौर पर धन प्राप्त करना अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि पैसा उसे कम से कम कुछ दिनों की भूखमरी से तो मुक्ति दिलाएगा।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि एक बार महाराणा प्रताप भी अपने लड़के को रोटी के लिए बिलखते देखकर विचलित हो गए थे तथा उस कमजोर क्षण में उन्होंने सम्राट अकबर की अधीनता मानने की भी ठान ली थी। यदि महाराणा प्रताप के जीवन में ऐसा कमज़ोर क्षण आ सकता है तो साधारण व्यक्तियों से यह आशा कैसे की जा सकती है कि वे ऐसी विषम परिस्थितियों में अपनी स्वतंत्रता की सुरक्षा करेंगे।

इमेनुएल कान्ट, एक जर्मन आदर्शवादी विचारक की दृष्टि में नैतिक स्वतंत्रता, व्यक्तिगत स्वायत्तता है ताकि हम अपने आप स्वयं के मालिक बन सकें। नैतिक स्वतंत्रता सार्वभौमिक लक्ष्यों की प्राप्ति के प्रयासों का ही दूसरा नाम है। ये वे लक्ष्य हैं जो किसी समाज को चरित्र व एकात्मकता प्रदान करते हैं। नैतिक स्वतंत्रता आत्म-त्याग व आत्म-शुद्धि की प्रक्रिया से अर्जित की जा सकती है। यह प्रक्रिया जीवन के उस भाव में निहित है जिसे प्राचीन भारतवासियों ने जीवन की सात्विक प्रवृत्ति का नाम दिया था। अंत में विवेचना करते हुए यह कहा जा सकता है कि किसी राज्य का बल न तो संपत्ति पर निर्भर करता है और न ही शस्त्रों पर। यह जनसंख्या पर भी आधारित नहीं है। वास्तव में, राज्य का सच्चा बल तो नागरिकों के सामान्य हित व कल्याण के प्रति त्याग-भाव पर निर्भर होता है।

नैतिक स्वतंत्रता के संदर्भ में यह स्पष्टीकरण भी नितांत आवश्यक है कि वह संसार के कोलाहल से अलग सन्यासियों की स्वतंत्रता नहीं है। ऐसा इसलिए क्योंकि हमारे चारों ओर का संसार तो वास्तविकता है और शायद सर्वोच्च वास्तविकता भी। यदि संसार के परे कुछ है भी, तो हमें उसकी जानकारी नहीं है। अत: नैतिक स्वतंत्रता से अभिप्राय है निजी जीवन में भावावेशों का परस्पर तादात्म्य। यह सद्भाव सात्विक अथवा रचनात्मक दृष्टिकोण द्वारा अर्जित किया जा सकता है। सामाजिक जीवन में ये सात्विक तौर-तरीके किसी व्यक्ति के समाज के प्रति प्रेम, त्याग, मैत्री व सहानुभूति की भावना में अंतर्निहित होते हैं। इस अर्थ में प्रयुक्त नैतिक स्वतंत्रता, राज्य के क्षेत्राधिकार के बाहर है। राज्य, नैतिक जीवन की प्राप्ति से जुड़ी समस्त अनिवार्य अवस्थाओं को उपलब्ध करा सकता है लेकिन यह स्वयं किसी ऐसे व्यक्ति को नैतिक नहीं बना सकता जिसकी न तो ऐसा बनने की क्षमता हो न ही इच्छा। अत: जहां तक राज्य का

संबंध है, वह तो केवल ऐसा वातावरण ही निर्मित कर सकता है जिसके अंतर्गत व्यक्ति उपयुक्त सभी गुणों को प्राप्त करने व विकसित करने के अवसर पा सके। राजनैतिक और आर्थिक स्वतंत्रता तब तक निरर्थक है जब तक कि उनसे नैतिक स्वतंत्रता के अभीष्ट उद्देश्यों को पाने के अवसर उपलब्ध न हो। इसके विपरीत यह कहा जा सकता है कि किसी भी ऐसे समाज में नैतिक स्वतंत्रता का विचार पनप नहीं सकता जहां या तो मशीनी अनुशासन विद्यमान हो या वह समाज गरीबी का शिकार होते हुए भी पैसे की अंधी होड़ में सम्मिलित हो।

कानून और स्वतंत्रता

कानून यह प्रतिपादित करता है कि कोई नागरिक क्या करने के लिए और क्या न करने के लिए स्वतंत्र है। राज्य बाध्यकारी शक्ति पर नियंत्रण रखते हुए व्यक्ति और समूह के रिश्तों में बलप्रयोग का कानूनन निषेध करते हुए सभी को स्वतंत्रता उपलब्ध कराता है। स्वतंत्रता का अर्थ मनमाने ढंग से सब कुछ करने की स्वतंत्रता नहीं है। हम प्राय: अपनी मांगों को बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत करते हैं। इस दृष्टि से पूर्णतः स्वतंत्र समाज तो संभव हो ही नहीं सकता। ऐसी स्थिति तो अराजकता उत्पन्न करेगी जिसमें केवल बलशाली ही स्वतंत्रता का प्रयोग कर सकेंगे। पूर्ण स्वतंत्र तो केवल शून्य की स्थिति में ही हो सकते हैं। जहां किसी अन्य व्यक्ति का कोई अस्तित्व ही नहीं हो सकता। ऐसा इस कारण क्योंकि ज्यों ही अन्य व्यक्ति होंगे तो हम अपनी इच्छाओं और मांगों को पूरा करने के लिए एक-दूसरे पर बलप्रयोग करना शुरू कर देंगे। इस कारण कानून व स्वतंत्रता का परस्पर गहरा संबंध है। कानून एक आवश्यक बुराई हो सकता है। यह भी संभव है कि हम कानून का कम से कम प्रयोग करें लेकिन सब की स्वतंत्रता को प्राप्त करने के लिए कानून अनिवार्य हो जाता है।

स्वतंत्रता की अभिवृद्धि के लिए कुछ प्रतिबंध आवश्यक है। कभी-कभी कानून सार्वजनिक हित के लिए लोगों को मर्यादित करता है। उदाहरण के लिए, कॉपीराइट का कानून, व्यक्ति के भाषण व अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार को मर्यादित करता है। यदि कोई ऐसा कानून न हो तो लेखकों को उनके श्रम का फल नहीं मिल सकेगा। इसी प्रकार, सभी के लिए समान व्यवस्था सुनिश्चित करने के लिए किसी न किसी की कुछ न कुछ स्वतंत्रता को तो प्रतिबंधित किया ही जाता है। हम इस बात पर बल देते है कि एक प्रकार की वस्तु के लिए हर किसी से एक ही दाम वसूल किए जाएं। हम लोगों को ऐसे स्कूल खोलने के लिए प्रोत्साहित नहीं करते जो जाति, धर्म, भाषा अथवा समुदाय के आधार पर भेद-भाव करते हों।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि प्रत्येक कानून स्वतंत्रता के अनुकूल नहीं होता। कानून का प्राय: दुरुपयोग भी हुआ है। सभी कानून विवेकशील और न्यायपूर्ण नहीं होते। कभी ऐसा भी हो सकता है कि अधिकारी सही इरादे से कानून का निर्माण करें, लेकिन इस बारे में मूल निर्णय गलत हो सकता है। यह भी संभव है कि न्याय के लिए लोगों की न्यायालयों तक पहुंच न हो सके और ऐसी स्थिति में कार्यपालिका की इच्छा के अतिरिक्त विवाद-समाधान का कोई अन्य तरीका ही न उपलब्ध हो पाए। कभी-कभी न्यायालय के निर्णय भी पक्षपातपूर्ण हो सकते हैं। बिना समुचित जांच-पड़ताल के लोगों को मात्र अपराध के आरोप पर सज़ा हो सकती है। इसीलिए शुरू से ही शक्ति के मनमाने प्रयोग के विरुद्ध स्वतंत्रता का दावा किया जाता

रहा है। इन स्थितियों के अतिरिक्त यह भी हो सकता है कि कोई सरकार, विद्रोह या अचानक सत्ता-परिवर्तन के परिणामस्वरूप बनी हो या कोई विदेशी शक्ति हम पर शासन करती हो। यदि कोई शासक स्वेच्छाचारी व कानून की परवाह न करने वाले बन जाए तो उसकी अवज्ञा भी मुश्किल हो जाती है। यदि सत्ता पर अंकुश न हो तो हम किसी अनैतिक व निरंकुश सत्ता का प्रतिरोध करने के लिए आवश्यक क्षमता भी प्राय: नहीं जुटा पाते। मृत्युदंड, यातना व नौकरी छूटने आदि के भय, ये सब ऐसे दबाव होते हैं जो हमें अनैतिक सत्ता की बात मानने को भी बाध्य कर देते हैं।

इसी कारण किसी कानूनी व्यवस्था में नियंत्रण एवं संतुलन की व्यवस्था की जाती है। सरकार के भय से मुक्ति के लिए नागरिकों को अधिकार व उन्मुक्तियां सुलभ कराई जाती हैं। इसीलिए हम कानून के शासन व न्यायपालिका की स्वतंत्रता पर बल देते हैं। अधिकार, वे सीमाएं निर्धारित करते हैं जिनके बाहर कोई शासक जा ही नहीं सकता। वे सरकार के साथ संबंधों में नागरिकों की स्वतंत्रता को परिभाषित करते हैं तथा वे स्वतंत्रता का सबसे सटीक उदाहरण है। अधिकार निरंकुश शक्तियों के प्रयोग से नागरिकों की रक्षा करते हैं। हम नागरिक जीवन में तब तक उन्मुक्त रूप से भाग नहीं ले सकते जब तक हम बलप्रयोग के भय से मुक्त न हों। इस कारण भी हम इस बात पर जोर देते हैं कि कानून के प्रवर्तन की प्रक्रिया उचित होनी चाहिए। कानून की उचित प्रक्रिया के अतिरिक्त किसी भी अन्य बलप्रयोग से बचाव वास्तविक स्वतंत्रता की पूर्व शर्त है। यह उचित प्रक्रिया पहचानने योग्य होनी चाहिए ताकि हर किसी को न केवल निर्णय का ज्ञान हो बल्कि यह भी ज्ञात हो कि वह निर्णय कैसे लिया गया है। इससे नागरिकों में आत्मविश्वास पैदा होता है। उन्हें यह विश्वास होता है कि अधिकारी निश्चित कानून के भंग करने पर ही उन्हें पकड़ सकते हैं। इस दिशा में अधिकारियों की निजी अथवा संकीर्ण मान्यताओं का कोई स्थान नहीं होता। यह हो सकता है कि कोई व्यक्ति पुलिस की निगाह में बुरा हो परंतु उसे यह पक्का विश्वास होता है कि वह पुलिस की धर-पकड़ से तब तक बचा रहेगा जब तक कि वह किसी कानून या संहिता का उल्लंघन नहीं करता।

नागरिक न केवल स्वतंत्र है बल्कि उसे यह ज्ञान भी होना चाहिए कि वह स्वतंत्र है। ये तथ्यात्मक व प्रक्रियात्मक सुरक्षाएं ही व्यक्ति को कानून के दुरुपयोग से बचा पाती है। जीवन के समस्त क्षेत्रों में सरकारी गतिविधियों के अत्यधिक विस्तार के कारण इस आवश्यकता को हाल ही में अत्यधिक प्रबल रूप से अनुभव किया है।

जब व्यवस्था का दुरुपयोग किया जाता हो, तो नागरिक अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए अंतिम उपाय के रूप में विद्रोह अथवा प्रतिरोध के अधिकार का प्रयोग करने के लिए बाध्य हो जाते हैं। फ्रांसिसी राज्यक्रांति इसका एक ज्वलंत उदाहरण है। कानूनी प्रत्यक्षवादी जब कानून के लागू करने के आधार पर किसी कानून के वैध होने की घोषणा करते हैं, तो वे आम तौर पर सही ही होते हैं, परंतु असामान्य स्थितियों में हमें संत अगस्तीन के इस कथन की याद आती है कि न्याय से अछूते राज्य वास्तव में लुटेरों के गिरोहों का विराट रूप हैं। जर्मनी में नाजी व्यवस्था प्रभावी अवश्य थी लेकिन साथ ही वह विक्षिप्त (पागलपन से युक्त) भी थी। इसी प्रकार भारत में ब्रिटिश शासन भी प्रभावी था परंतु साथ ही साथ वह शोषणकारी भी था। ऐसी स्थितियों में हम केवल इसी भाव से

किसी व्यवस्था की अनुपालना के लिए बाध्य हो सकते हैं कि अगर हम ऐसा नहीं करेंगे तो हम गोलियों से भून दिए जाएंगे। ऐसी व्यवस्थाओं में अनुपालना की कोई नैतिक अनिवार्यता नहीं रहती। जैसा कि रूसो ने स्पष्ट किया था, हम केवल ऐसी औचित्यपूर्ण शक्ति की बात मानने को ही बाध्य हो सकते हैं जो किसी समुदाय के औचित्य एवं वैधता की भावना का अनुमोदन करती है। प्रत्येक कानून को वैधता की ऐसी कसौटी पर खरा उतरना होता है।

अभ्यास

1. स्वतंत्रता की अवधारणा की व्याख्या कीजिए।
2. 'नकारात्मक' और 'सकारात्मक' स्वतंत्रता में अंतर बताइए।
3. आर्थिक, राजनीतिक और नैतिक स्वतंत्रता का क्या अर्थ है?
4. कानून और स्वतंत्रता के परस्पर संबंधों की चर्चा कीजिए।
5. 'भाषण और अभिव्यक्ति' की स्वतंत्रता से आप क्या समझते हैं ?

अध्याय 3

समानता

समानता क्या है?

कुछ लोगों ने समानता को पूर्ण व बिना शर्त सिद्धांत के रूप में परिभाषित किया है। उन्होंने इस बात पर बल दिया है कि सभी व्यक्ति कुछ आधारभूत लक्षणों व विशेषताओं की दृष्टि से समान होते हैं और इस कारण उनसे समान आधार पर व्यवहार किया जाना चाहिए। कुछ लोग इस बात पर बल देते हैं कि 'सभी व्यक्ति प्राकृतिक रूप से समान है।' कुछ धार्मिक परंपराओं तथा विचारकों के अनुसार सभी व्यक्ति समान रूप से ईश्वर की संतान हैं, अत: वे समान व्यवहार के अधिकारी हैं। प्रारंभिक उदारवादी विचारकों का यह तर्क था कि सभी व्यक्ति समान हैं क्योंकि वे समान प्राकृतिक अधिकारों का उपभोग करते हैं। उपयोगितावादियों, विशेषत: बेन्थम, की इस संदर्भ में यह मान्यता थी कि सभी व्यक्ति सुख अथवा पीड़ा को समान रूप से अनुभव करते हैं, अत: वे समान हैं। कान्ट के विचार में व्यक्ति इसलिए समान हैं क्योंकि वे नैतिक होने व नैतिक कानूनों को निर्मित करने की समान क्षमता रखते हैं। समाजवादियों की दृष्टि में सभी व्यक्ति 'समान मानवता' के सहभागी हैं, उनकी भौतिक विशेषताएं तथा सामाजिक आवश्यकताएं समान हैं। ये समस्त दृष्टिकोण समान रूप से यह भाव प्रकट करते हैं कि सभी व्यक्ति कुछ निश्चित विशेषताओं और आवश्यकताओं का समान रूप से प्रतिनिधित्व करते हैं। हमारा संविधान भी जाति, वर्ग, पंथ, लिंग अथवा प्रजाति के आधार पर किसी भी प्रकार के भेदभाव का निषेध करता है।

उक्त तर्कों व मान्यताओं का निहित अर्थ यह है कि सभी व्यक्ति समान हैं। अत: उनसे समानता का व्यवहार किया जाना चाहिए। चूंकि व्यक्ति मूलत: भिन्न सामाजिक परिवेश में पाए जाते हैं, इसलिए समानता वास्तविक जीवन में असंभव है। उदाहरण के लिए, परिवार की प्रकृति व उसका स्तर निश्चित रूप से किसी बच्चे के चरित्र पर अपना प्रभाव छोड़ता है। जब तक इस प्रकार की परिवार व्यवस्था चलती रहेगी तब तक पूर्ण समानता स्थापित करना असंभव है।

इस प्रकार, प्रासंगिक आधारों पर व्यक्तियों में निहित अंतर अथवा असमानताओं को प्राय: न्यायसंगत माना जाता है। अरस्तू ने सद्गुणों के आधार पर समान विषयों में अंतर निर्धारित किए थे। उदाहरण के लिए कुछ गणित में प्रवीण होते हैं तो कुछ बांसुरीवादन में। अत: पहली श्रेणी के लोगों को गणित में प्रशिक्षण देना जरूरी है जबकि दूसरी श्रेणी के लोगों को अच्छी बांसुरी प्रदान करने की आवश्यकता है। विभिन्न व्यक्तियों की भिन्न कार्यक्षमताओं के आधार पर ही जातिव्यवस्था को न्यायोचित ठहराया गया था। कुछ समसामयिक समतावादी भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं के आधार इसे उचित मानते हैं। इन समस्त प्राकृतिक विषमताओं के बावजूद सभी व्यक्तियों से समान व्यवहार करना ही वांछनीय है। अन्य समस्त बातें अतार्किक हैं।

आवश्यकताओं, सद्‌गुणों अथवा योग्यतासंबंधी तर्क का प्राय: अवसरों की समानता से जोड़ा जाता है। यह संभव है कि किसी बच्चे में प्रतिभा हो, परंतु उसके माता-पिता की गरीबी उसकी प्रतिभा का विकास करने में बाधक हो सकती हैं। इस कारण से 'प्रकृति' तथा 'लालन-पालन' दोनों महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। प्लेटो ने एक ऐसे समाज की कल्पना की थी जहां समान योग्यता वाले बच्चों को समान अवसर दिए जाते हों। पर्याप्त अवसरों की उपलब्धि का अर्थ है कि सभी को उनके व्यक्तित्व के विकास संबंधी आवश्यक परिस्थितियां और अवस्थाएं प्रदान की जाएं। किसी गरीब का बच्चा केवल इस कारण अपनी विशेष प्रकृति अथवा प्रतिभा के विकास से वंचित न रहे कि उसके माता-पिता निर्धन हैं या उनके पास पर्याप्त साधनों का अभाव है। अवसरों की समानता संबंधी उक्त धारणा स्वतंत्रता व स्वायत्तता के मूल्य को स्वीकार करती है। वह यह मानती है कि व्यक्ति अपनी निजी जीवनशैली को साकार करने के लिए स्वतंत्र है परंतु साथ ही वह इस बात पर भी बल देती है कि व्यक्तियों को ऐसा करने के पर्याप्त समान अवसर मिलने चाहिए।

प्रारंभिक उदारवादियों ने संपत्ति के पूर्ण अधिकार को प्रतिपादित किया था। इस अधिकार की बाद में आलोचना इसलिए की गई क्योंकि यह सामाजिक संसाधनों के वितरण की आवश्यकता पर ध्यान नहीं देता है। ऐसे वितरण के अभाव में समाज के कमजोर या निर्धन वर्ग अपनी स्वतंत्रता का संवर्द्धन नहीं कर सकते। उदाहरण के लिए, हम यह अनुभव करते हैं कि अनुसूचित जाति/जनजातियों के पक्ष में प्रचलित संरक्षित विभेद उनकी स्वतंत्रता व समानता के लिए आवश्यक है।

उदारवादियों ने राजनीतिक समानता पर बल दिया है। उनके अनुसार सभी को समानता के आधार पर राजनीतिक प्रक्रिया में भाग लेना चाहिए। इसके लिए कुछ लोग प्रत्यक्ष लोकतंत्र के पक्ष में तर्क देते हैं परंतु प्रत्यक्ष लोकतंत्र को अव्यावहारिक मानने वाले कुछ विचारकों का यह तर्क है कि आधुनिक राज्य के विशाल आकार के कारण ऐसी लोकतांत्रिक प्रणाली अनुपयुक्त है। विकल्प के तौर पर वे राजनीतिक विकेंद्रीकरण पर बल देते हैं।

मार्क्सवादी तथा समाजवादी, आर्थिक समानता पर बल देते हैं। उनके मतानुसार कुछ संपन्न एवं समृद्ध लोगों को अधिकांश लोगों का भाग्यविधाता नहीं होना चाहिए। वे समाज में व्याप्त सभी प्रकार की असमानताओं की आलोचना करते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में ये असमानता कुछ धनिक लोगों के हाथों में शक्ति का केंद्रीकरण कर देती है। कुछ समाजवादी समस्त संपत्ति के राष्ट्रीयकरण के पक्षधर हैं जबकि कुछ अन्य कहते हैं कि उससे नौकरशाही का बोलबाला हो जाता है। ये नौकरशाही ऐसी स्थिति में संपत्तिवान लोगों का स्थान ले लेती है। इसलिए समाजवादी आर्थिक शक्ति के साथ-साथ राजनीतिक शक्ति के विकेंद्रीकरण पर बल देते हैं।

वास्तविक समता पर आधारित समाज में राजनीतिक नियंत्रण, सामाजिक विभेद तथा आर्थिक अभाव से प्रभावित हुए बिना भी लोगों को अपनी आवश्यकता पूर्ति व क्षमता-प्राप्ति के समान अवसर प्राप्त होते हैं।

स्वतंत्रता तथा समानता

जैसा कि स्पष्ट है, स्वतंत्रता की सामान्य अवधारणा समानता की अवधारणा से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है। स्वतंत्रता, समानता की अनिवार्य दशा है और समानता, स्वतंत्रता की। हम केवल तभी स्वतंत्र हो सकते हैं जब हम स्वायत्त हो और अपना कार्यक्षेत्र स्वयं निर्धारित करते हों। ऐसा हम तभी कर सकते हैं जब हम पूर्ण रूप से समान हों। स्वतंत्रता व समानता के इस पारस्परिक संबंध के बावजूद लार्ड एक्टन

जैसे विचारकों ने उन्हें असंगत माना है। स्वतंत्रता संबंधी अपने व्याख्यान में लॉर्ड एक्टन ने यह मत व्यक्त किया था कि फ्रांसीसी क्रांति के दौरान "समानता की प्रबल इच्छा ने स्वतंत्रता की आशा को निष्प्रभावी कर दिया था"। परंतु एक्टन का ऐसा विचार वास्तव में भ्रांतिपूर्ण है। स्वतंत्रता का अर्थ प्रतिबंधों की अनुपस्थिति मात्र नहीं है। यह उससे कहीं अधिक सकारात्मक विचार है। इसका अर्थ है व्यक्ति की स्वायत्तता और अपना कार्यक्षेत्र स्वयं निर्धारित करने की क्षमता। इसका यह भी अर्थ प्रासंगिक है कि निजी स्वायत्तता अन्य लोगों की वैसी ही स्वायत्तता को प्रतिबंधित नहीं कर सकती। हम सभी अपनी-अपनी क्षमताओं को सहज रूप से पाने के समान अधिकारी हैं। समानता वह परिस्थिति है जिसमें हम इस स्थिति को सर्वाधिक विश्वसनीयता से प्राप्त कर सकते हैं। जब हम यह कहते हैं कि व्यक्तियों को स्वतंत्रता का अधिकार प्राप्त है तो हमारा अभिप्राय समान स्वतंत्रता अथवा समान अवसरों की वास्तविकता पर बल देना होता है। इसी कारण समानता को प्राय: न्याय से जोड़ा जाता है। किसी व्यक्ति को केवल उतनी ही स्वतंत्रता प्राप्त होती है जितनी कि वह अन्य लोगों की इसी प्रकार की स्वतंत्रता से संगत होती है। यहां कुछ सुनिश्चित संदर्भों में स्वतंत्रता व समानता के परस्पर संबंधों को निरूपित करना उपयुक्त होगा :

- राजनीतिक समानता की सर्वश्रेष्ठ गारंटी किसी लोकतांत्रिक व्यवस्था से मिलती है। जैसा कि बेन्थम ने स्पष्ट किया है, किसी लोकतांत्रिक व्यवस्था से ही प्रत्येक नागरिक को एक संपूर्ण इकाई के रूप में गिना जाता है। यद्यपि हमारे समक्ष अनेक ऐसे राष्ट्रों के उदाहरण विद्यमान हैं जहां लोकतंत्र तानाशाही का शिकार हो गए। संभवत: इसी कारण टॉकिविले ने लोकतंत्र व कुलीनतंत्र की समन्वयकारी व्यवस्था को स्वतंत्रता के लिए सर्वाधिक उपयुक्त माना था। फिर भी हमारा अनुभव हमें यह बताता है कि शासन के किसी भी अन्य स्वरूप की तुलना में लोकतंत्र, स्वतंत्रता को सबसे अधिक गारंटी प्रदान करता है।
- नागरिक समानता अथवा कानून के समक्ष समानता स्वतंत्रता की अनिवार्य पूर्व-शर्त है। इसका अर्थ यह है कि कानून शासन करने वालों के पूर्वाग्रहों, कुटिलताओं अथवा पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोणों पर आधारित नहीं होता। उससे यह अपेक्षा की जाती है कि वह व्यक्ति व उसकी संपत्ति को सुरक्षा प्रदान करेगा। केवल उसी स्थिति में हम अपनी स्वायत्तता अथवा सर्वश्रेष्ठ प्रतिभा अर्जित करने की आवश्यक स्थितियों का भरपूर लाभ उठा सकते हैं।
- आर्थिक समानता भी आवश्यक है। प्राय: समस्त कानून और कर हमारी स्वतंत्रता का हनन करते हैं परंतु कभी-कभी वे सामान्य स्वतंत्रता में अभिवृद्धि के हेतु ऐसा करते हैं। समाज में असमानताओं पर अंकुश लगाने वाला कोई समाजवादी व्यवस्थापन वास्तव में स्वतंत्रता का उल्लंघन नहीं करता अपितु उससे तो स्वतंत्रता की आवश्यक शर्तें ही परिपूर्ण होती हैं। ऐसे व्यवस्थापन का उद्देश्य किसी जमींदार तथा पूंजीपति के शोषण से किसान तथा मजदूर को मुक्त कराना तथा अधिक समानता स्थापित करना होता है।

स्वतंत्रता व समानता के संबंधों को भलीभांति समझने की दृष्टि से एकाधिकार (Monopoly) की किसी एक स्थिति पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। यदि विद्युत की पूर्ण आपूर्ति किसी एक व्यक्ति के हाथ में आ जाए तो अन्य सभी लोग इस विषय में अपनी स्वतंत्रता खो देंगे। विद्युत आपूर्ति पर नियंत्रण रखने

वाला वह व्यक्ति अपनी इच्छानुसार विद्युत देने की मनचाही कीमत वसूल कर सकेगा। कोई दूसरा व्यक्ति अपनी विद्युत की आवश्यकता पूरी करने हेतु अधिक से अधिक चोरी ही कर पाएगा। यदि विद्युत आपूर्ति के स्वामित्व के अधिकार को सबके लिए समान कर दिया जाए तो उस स्थिति में केवल मूलभूत एकाधिकार की स्वतंत्रता को घाटा होगा, परंतु उसका यह घाटा अन्य सभी के लाभ के बदले में गौण होगा। ऐसे सभी कानून जो आवश्यकताओं व क्षमताओं के अनुरूप समानता को स्वीकार करते हैं वस्तुत: पूरी तरह स्वतंत्रता के अनुरूप होते हैं।

राजनीतिक समानता, नागरिक अथवा कानूनी समानता तथा आर्थिक समानता में पारस्परिक क्या संबंध है? किसी व्यक्ति का नागरिक मामलों में भाग लेने का अधिकार भाषण व अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के बिना व्यर्थ है। आर्थिक समानता के बिना राजनीतिक समानता निरर्थक है। आर्थिक समानता के ऐसे प्रभाव से शक्ति व संरक्षण प्रकट होते हैं जिनका प्रयोग करके दूसरों की राजनीतिक समानता को नष्ट किया जा सकता है। आर्थिक समानता की अनुपस्थिति में कानूनी समानता भी खतरे में पड़ जाती है। कोई गरीब आदमी किसी अच्छे वकील की सहायता नहीं ले पाता अथवा वर्षों चलने वाली कोई कानूनी लड़ाई नहीं लड़ सकता। अत: यह माना जाता है कि अधिकतर लोगों की अधिक से अधिक स्वतंत्रता की रक्षा के लिए समानता का होना आवश्यक है।

समानता के महत्त्व के विषय में सब एकमत नहीं है। कुछ आलोचक यह स्पष्ट करते हैं कि अवसरों की समानता स्थापित करने का मूल्य प्राय: बहुत अधिक होता है। यह संभव है कि आय वितरण संबंधी हमारे प्रयास स्वयं आय-वृद्धि के प्रोत्साहन को कम कर दे। ऐसी स्थिति उत्पादन की क्षमता को भी कुप्रभावित करेगी। इसके कारण समाज में प्रतियोगिता और प्रतिस्पर्द्धा बढ़ जाएगी और परिवार की स्वायत्तता पर भी बुरा प्रभाव पड़ेगा। यह भी संभव हो सकता है कि समानता के आदर्श का अन्य सामाजिक मूल्यों से कभी-कभी संघर्ष हो जाए। हम समानता के नाम पर लोगों की निजी प्रतिभाओं व चुनी गई जीवन-योजनाओं का स्वयं प्रयोग करने लगे और दूसरे व्यक्ति ऐसा करने से वंचित रह जाएं। समाजवादी संदर्भ में समानता संभवत: नौकरशाही की समस्याएं पैदा कर दे जिससे श्रम व राज्य के बीच की खाई और अधिक बढ़ जाए। इन समस्त संभावनाओं को ध्यान में रखते हुए अधिकांश समसामयिक समतावादी, लोकतांत्रिक तथा समाजवादी समानता के किसी मिले-जुले रूप पर बल देते हैं। वे एक समतावादी समाज की रचना के लिए आर्थिक शक्ति के साथ-साथ राजनीतिक शक्ति के विकेंद्रीकरण के पक्ष में विविध तर्क प्रस्तुत करते हैं।

अभ्यास

1. 'समानता' शब्द से आप क्या समझते हैं ?
2. 'स्वतंत्रता, समानता की अनिवार्य दशा है और समानता, स्वतंत्रता की', व्याख्या कीजिए।
3. 'कानून के समक्ष समानता' से आप क्या समझते हैं ?
4. 'राजनीतिक समानता' तथा 'सामाजिक समानता' में अंतर स्पष्ट कीजिए।

अध्याय 4

न्याय

न्याय क्या है?

न्याय शब्द लेटिन भाषा के शब्द जॅस्टिटिऑ (Justitia) (बांधना) और जॅस (Jus) (संबंध) से लिया गया है। प्रत्येक व्यक्ति को उसके अधिकारों और कर्तव्यों एवं पारितोषिक तथा दण्ड को यथोचित रूप से वितरण करके संयुक्त करने के विचार से न्याय, व्यक्तियों को उचित या सही संबंधों के क्रम में जोड़ता है। 'न्याय' परस्पर व्यक्तियों में और समानता, स्वतंत्रता तथा सहयोग के सिद्धांतों में सामंजस्य स्थापित करता है। परंपरागत दृष्टि से न्याय का सिद्धांत एक ऐसे सिद्धांत के रूप में माना जाता है जिसमें स्वतंत्रता, समानता आदि सिद्धांतों के मध्य संतुलन और समन्वय हो। ऐसा संतुलन कुछ मूलभूत मान्यताओं के संदर्भ में किया गया है– जैसे, सर्वाधिक व्यक्तियों के लिए सर्वाधिक सुख अथवा समाज के सभी सदस्यों के लिए स्वतंत्रता और समानता की उपयोगिता। इस संदर्भ में यहां उल्लेखनीय है कि न्याय की समन्वयकारी प्रकृति ने ही 'न्याय' को साकार रूप दिया है। हाथ में एक तुला लिए हुए और आंखों पर पट्टी बांधे न्याय की मूर्ति ये दर्शाती है कि कानून के समक्ष सभी समान हैं। ऐसी समानता किसी भी प्रकार के लिंग, धर्म, जाति, संपदा आदि की भिन्नता को महत्त्व नहीं देती है।

हम किसी राज्य के विषय में कोई भी निर्णय उस साध्य के संदर्भ में लेते हैं जिसको कि वह प्राप्त करना चाहता है। प्रायः यह माना जाता है कि राज्य के कानून नागरिकों को न्याय दिलवाने में सक्षम हों, लेकिन न्याय की व्याख्या करना सरल नहीं है। यह एक जटिल अवधारणा है। इसका कभी तो कानूनी और कभी नैतिक रूप में प्रयोग किया जाता है। न्याय, राज्य-कानूनों द्वारा प्रवाहित होता माना जाता है। साथ ही, न्याय की अवधारणा का उद्देश्य संपूर्ण समाज का कल्याण करना भी होता है। न्याय से संबंधित उक्त अवधारणा के संदर्भ में तीन विसंगतियां उल्लेखनीय हैं :

- कानूनी तथा नैतिक न्याय,
- सामान्य व्यवस्था तथा वैयक्तिक हित, एवं
- अनुदार तथा सामाजिक न्याय।

कानूनी न्याय का संबंध उन सिद्धांतों और कार्यविधियों से है जो किसी राज्य के कानून द्वारा निर्धारित होते हैं। ऐसी संपूर्ण व्यवस्था न्याय कहलाती है। कभी-कभी कानूनी तथा प्राकृतिक न्याय में अंतर किया जाता है। प्रायः प्राकृतिक न्याय कुछ आधारभूत सिद्धांतों से संबंधित होता है, जबकि कानूनी न्याय का संबंध कानूनों, रीति–रिवाजों तथा मानवीय अभिकरणों द्वारा निर्मित अथवा पारित पूर्व निर्णयों से होता है। दूसरी ओर नैतिक न्याय में, क्या सही है और क्या गलत, मानव के रूप में हमारे अधिकार क्या हैं और कर्तव्य क्या होते है। कानूनी न्याय अधिकतर इन अधिकारों व कर्तव्यों को केवल सुरक्षित ही नहीं करता अपितु, लागू भी करता है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि किसी न्यायालय में जो कुछ भी होता है वह न्याय ही है। वहां कुछ ऐसा भी

घटित होता है जो कानूनी दृष्टि से तो सही है परंतु नैतिक दृष्टि से अन्यायपूर्ण होने के कारण उसकी आलोचना भी की जा सकती है। यदि कोई कानून-विशेष न्याय के नैतिक आदर्श की आवश्यकता पूरी करने में असफल हो तो उसे अन्याय कहा जा सकता है। इसी प्रकार, किसी प्रशासनिक व्यवस्था को भी ऐसी स्थिति में अन्यायपूर्ण कहा जा सकता है जब तक वह निष्पक्ष रूप से न्याय को चरितार्थ न कर सके।

एक ओर न्याय संपूर्ण समाज की सामान्य व्यवस्था का पक्ष लेता है तो दूसरी ओर वह व्यक्ति को सुरक्षा भी प्रदान करता है। फौजदारी कानून इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। इसका उद्देश्य न केवल किसी अपराधी को दंड देना होता है बल्कि किसी समाज के स्वरूप को भी सुरक्षित रखना है। व्यक्ति अपराध के संदर्भ में नियत क्षति-पूर्ति अथवा दंड द्वारा एक दूसरे के विरुद्ध अपने दावों का समाधान करते हैं। परंतु इस प्रक्रिया में समाज की यह सामान्य इच्छा हमेशा व्याप्त रहती है कि वह हानिकारक आचरण के दुष्प्रभाव से बचा रहे।

इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि सामाजिक कल्याण, व्यक्ति के कल्याण से सदैव प्राथमिकता लेता है। न्याय-व्यवस्था से यह अपेक्षा की जाती है कि वह व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा करे। न्याय की समस्त सभ्य व्यवस्थाएं इस बुनियादी सिद्धांत पर आधारित हैं कि निर्दोष को सजा न दी जाए। इसके बावजूद, युद्ध जैसी अपवादपूर्ण स्थितियां उत्पन्न हो सकती हैं, जिसमें कोई राज्य किसी व्यक्ति को राज्य की न्याय धारणा के अनुरूप आचरण करने को बाध्य कर सके। बिना मुकदमें के 'निवारक नजरबंदी' ऐसी ही स्थिति का एक उदाहरण है। अत: न्याय का संबंध व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों से है साथ ही न्याय व्यक्तियों व समूहों के पारस्परिक संबंधों से भी जुड़ा हुआ है।

कुछ लोगों की यह मान्यता है कि न्याय का अर्थ 'यथास्थिति' बनाए रखना है। वह व्यक्ति की स्वतंत्रता तथा जान-माल की सुरक्षा करता है। इसे अनुदार न्याय कहा जाता है। न्याय की एक अन्य अवधारणा है जिसे सामाजिक न्याय कहा जाता है। सामाजिक न्याय सही अथवा उचित सामाजिक विचार के क्रम में समाज को सुधारने का प्रयत्न करता है। हमारे समय में यह भूमि वितरण तथा संपत्ति के अधिकार में परिवर्तन करने की दिशा में प्रयत्नशील है। साथ ही यह प्रजाति, लिंग, जाति अथवा पंथ के आधार पर भेदभाव को रोकने के लिए भी प्रयासरत है ताकि राष्ट्रीय संसाधनों और संपदा का समान रूप में वितरण हो सके। सभी न्यायालयों का जन आवश्यकताओं के अनुरूप समय-समय पर अपने न्यायिक दृष्टिकोण में परिवर्तन करने की ओर झुकाव है। हमारा उच्चतम न्यायालय संपत्ति के विवादों में बहुत अनुदारवादी दृष्टिकोण अपनाता आया है जबकि नागरिक अधिकारों की रक्षा के संदर्भ में उसका दृष्टिकोण काफी सुधारात्मक रहा है।

प्राय: सभी विषयों में न्याय की अवधारणा को समता और निष्पक्षता के समतुल्य माना जाता है। मौलिक रूप से ये दोनों विचार समानता में निहित हैं। वास्तव में समानता की धारणा कुछ अर्थों में न्याय विषयक किसी भी वैचारिक योजना का केंद्रबिंदु है। हमारा अपना संविधान कानून के समक्ष समानता को न्याय-व्यवस्था का मौलिक आधार मानता है।

इतिहास के वैचारिक परिप्रेक्ष्य में न्याय की दो प्रमुख अवधारणाएं हैं :

(i) सांख्यिक अवधारणा (ii) ज्यामितीय अवधारणा।

न्याय की सांख्यिक अवधारणा

न्याय की दृष्टि में यह सभी को समान भागीदार मानता है। जेरेमी बेन्थम ने कहा था "प्रत्येक को एक गिना जाना चाहिए किसी को भी एक से अधिक नहीं।" इसका अर्थ

यह है कि असमान को भी समान माना जाएगा। यूनानी नगर-राज्यों ने इस नियम का इतना अधिक पालन किया कि कई पद पासा डालकर भरे जाते थे। किसी पद को पाने के लिए प्राय: किसी विशेष ज्ञान अथवा योग्यता की आवश्यकता नहीं थी। आधुनिक उदार लोकतंत्र भी इसी सिद्धांत पर आधारित है।

न्याय की ज्यामितीय अवधारणा

प्लेटो व अरस्तू न्याय की इस अवधारणा के पक्षधर थे। यह आनुपातिक समानता की अवधारणा है। इसका निहित अर्थ है समान लोगों को समान भाग और असमान को असमान भाग। इसका यह भी अर्थ है कि शक्ति और संरक्षण का वितरण व्यक्ति की योग्यता अथवा योगदान के अनुरूप होना चाहिए। जैसा कि अरस्तू ने कहा था, यदि बासुरियां बंटती हैं तो वे उन लोगों में बंटनी चाहिए जिनमें बांसुरी-वादन की क्षमता हो। इसी प्रकार केवल उन्हीं लोगों को शासन करना चाहिए जिनमें शासन करने की क्षमता हो। न्याय की इस अवधारणा के अनुसार लाभ व उत्तरदायित्व, वास्तव में, प्राप्तकर्ता की क्षमता व सामर्थ्य के अनुपात में होने चाहिए। सांख्यिक न्याय कभी-कभी लोकतांत्रिक न्याय माना जाता है और ज्यामितीय न्याय प्राय: कुलीनतंत्रीय न्याय का समकक्ष माना जाता है।

प्लेटो की पुस्तक *रिपब्लिक* में भी न्याय सामाजिक व्यवस्था से जुड़ा हुआ है। इसके अनुसार आत्मा में निहित न्याय का विचार वास्तव में राज्य में निहित न्याय का ही सादृश्य है। व्यक्ति की आत्मा में निहित न्याय व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों को परस्पर संतुलित करता है। इस क्रम में वह व्यक्तित्व के विविध पक्षों जैसे क्षुधा (श्रमिक वर्ग), साहस (सैनिक वर्ग) और विवेक (शासक वर्ग) को समुचित संतुलन और समन्वय उपलब्ध कराता है। प्लेटो की दृष्टि में राज्य के संदर्भ में न्याय, विभिन्न सामाजिक वर्गों में सामंजस्य स्थापित करता है। जब हर वर्ग अपने कार्य से ही संबंधित रहता है तथा केवल वही कार्य करता है जिसके लिए वह प्राकृतिक दृष्टि से सर्वाधिक उपयुक्त है और दूसरों के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करता तो उस स्थिति में राज्य में न्याय चरितार्थ होता है। धर्म से संबंधित प्राचीन भारतीय अवधारणा प्लेटो के न्याय की अवधारणा के इस अर्थ में समान है कि धर्म व्यक्ति को समाज में उसके स्थान और कर्तव्यों का बोध कराता है। यहां यह कहा जा सकता है कि स्वधर्म की चेतना से ही विभिन्न व्यक्तियों के अधिकार और विशेषाधिकार उत्पन्न होते हैं।

अधिकांश लोग इस बात से सहमत हैं कि समता अथवा निष्पक्षता के रूप में न्याय का अर्थ पूर्ण समानता नहीं है। इसका अभिप्राय तो नैतिक दृष्टि से न्यायसंगत आनुपातिक वितरण से है। राज्य कुछ विशिष्ट वर्गीकरणों के आधार पर भेदभाव कर सकता है। ऐसा वर्गीकरण लिंग, आवश्यकता, योग्यता अथवा क्षमता के आधार पर हो सकता है। यहां न्याय का अर्थ परिस्थितियों की समानता है अर्थात् समान मामलों को समान रूप से और असमान को भिन्न रूप से लिया जाए।

हमारे संविधान ने कानून के समक्ष समानता को शासन के आधारभूत सिद्धांत के रूप में स्वीकार किया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि कोई न्यायाधीश सभी से समान व्यवहार करे। उसे दोषी और निर्दोष में, भेड़ और भेड़िए में तो अंतर करना ही होगा। न्यायाधीश को ऐसा अंतर करने का अधिकार प्राप्त है। निष्पक्षता के सिद्धांत की दो प्रमुख आवश्यकताएं हैं :

- न्यायाधीश को विशेषाधिकारों का पक्षधर नहीं होना चाहिए। उसे किसी का भी इस कारण पक्ष नहीं लेना चाहिए कि वह धनी है या शक्तिशाली। इसी प्रकार उसे किसी को केवल इस कारण दंड भी नहीं देना चाहिए कि वह निर्धन है।

- न्यायाधीश को प्रासंगिक अंतरों के संदर्भ में ही भेदभाव करना चाहिए। उदाहरण के लिए किसी फौजदारी अदालत में प्रासंगिक अंतर यह होगा कि अमुक अपराधी है या निर्दोष । ठीक इसी प्रकार, अध्यापन के लिए की जा रही नियुक्तियों में प्रासंगिक अंतर का मापदंड यह होना चाहिए कि अमुक व्यक्ति में अध्यापन की क्षमता है या नहीं।

वास्तव में प्रत्येक भेदभाव अनुचित भी नहीं है। कभी-कभी समाज के व्यापक हित में कुछ लोगों के पक्ष में कानून को भेदभाव भी करना चाहिए। रॉल्स के विचारानुसार यदि कानून कमजोर वर्गों का पक्षपात करते हैं तो यह न्यायोचित है। अधिकांश समाजवादी तथा मार्क्सवादी कमजोर तथा श्रमिक वर्ग के शोषण के उन्मूलन को ही न्याय की संज्ञा देते हैं। कई तो इसे अवसर की समानता मानते हैं। जबकि कई मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति को ही न्याय की आधारभूत अवधारणा मानते हैं। भेदभाव को न्याय संगत मानने पर सर्वसम्मति नहीं हो सकती, परंतु यदि राज्य कमजोर तथा दरिद्र वर्गों के हित के लिए कुछ कार्य करता है तो यह स्पष्ट है कि वह ऐसा उन लोगों की उन्नति के लिए कर रहा है। इसे संरक्षणकारी भेदभाव कहा जाता है। इसमें समाज के कमजोर तथा पिछड़े वर्गों के पक्ष में भेदभाव निहित है। इसमें समाज के कमजोर वर्गों के लिए वरीयता के आधार पर व्यवहार करना भी निहित है। उदाहरणार्थ अनुसूचित जातियों के विरुद्ध पक्षपात करने की व्यवस्था व्यापक रूप से प्रचलित रही है परंतु अब राज्य को यह अधिकार है कि वह उनके पक्ष में भेदभाव कर सकता है। इस प्रकार के पक्षपात के अभाव में ये लोग मानवीय जीवन व्यतीत नहीं कर सकेंगे। ऐसे वर्गों को अधिकार दिलाने के लिए राज्य जो कुछ भी करता है, वह न्यायोचित है। राज्य का ऐसा कार्य 'समता' और 'निष्पक्षता' की परिधि में आता है। दक्षिण अफ्रीका में अश्वेत रंगभेद के शिकार थे। वहां राज्य व्यवस्था अन्यायपूर्ण थी क्योंकि उसका व्यवहार नैतिक दृष्टि से न्यायसंगत नहीं था। वहां किसी प्रकार की कोई समानता विद्यमान नहीं थी। वहां शक्तिशाली लोग कमजोर से भेदभाव करते थे। दक्षिण अफ्रीका में प्रचलित रंगभेद नीति, नैतिक रूप से अपराध थी क्योंकि ये शक्तिशाली को कम शक्तिशाली से रंगभेद के आधार पर श्रेष्ठतर मानती थी। भारत में, जाति-व्यवस्था इसलिए बुरी नहीं है कि वह विभिन्न समूहों को परस्पर अलग करती है अपितु, वह इस कारण बुरी है क्योंकि उसमें एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था स्थापित की जाती है जो वंशानुगत आधार पर समाज के कुछ समूहों को अन्य समूहों से श्रेष्ठतर मानती है।

संरक्षणात्मक विभेद का उद्देश्य किसी वर्ग-विशेष को लाभ पहुंचाना नहीं है अपितु उसका उद्देश्य तो उस वर्ग के लोगों को एक ऐसे स्तर तक उठाना है जहां वे अवसर की समानता का समुचित लाभ उठा सकें और समान आधार पर समाज के अन्य वर्गों का मुकाबला कर सकें।

अतः राज्य, सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक जीवन में व्याप्त असंतुलन को दूर करने का प्रयास करता है। इस प्रकार राज्य लोगों को रोजगार, प्रसूति लाभ, बीमारी के विरुद्ध बीमा तथा वृद्धावस्था सुरक्षा उपलब्ध करता है। वह अन्यायपूर्ण विषमताओं को दूर करने के साथ-साथ लोगों की मौलिक आवश्यकताएं पूरी करने की भी चेष्टा करता है। अहस्तक्षेपी उदारवाद (Laissez Faire Liberalism) की मान्यता के अनुसार राज्य का कार्य समाज में केवल प्रतियोगिता को नियमित करना ही है। इसके अनुसार व्यक्ति को उसके हाल पर ही छोड़ दिया गया। इस प्रक्रिया में यदि कमजोर नष्ट भी हो जाएं तो उससे कोई अंतर नहीं पड़ता था। इसके विपरीत, लोक कल्याणकारी राज्य का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी मौलिक आवश्यकताओं को पूरा करने का अधिकार है। मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति न्याय का ही प्रतिरूप है।

न्याय का साम्यवादी दृष्टिकोण उपर्युक्त दृष्टिकोण से एक कदम आगे है। मार्क्स ने यह घोषणा की थी कि "हर किसी से उसकी योग्यता के अनुसार काम लिया जाए और उसे उसकी आवश्यकता के अनुसार भुगतान किया जाए।" इसका यह अर्थ है कि सामाजिक दायित्व लोगों की क्षमताओं के अनुरूप वितरित किया जाए और लाभ आवश्यकताओं के अनुसार। व्यक्ति के गुणों का इस व्यवस्था में कोई स्थान नहीं है। इस दृष्टिकोण की मूल मान्यता यह है कि हम सभी सामान्य जनकल्याण की इच्छा से स्वत: प्रेरित होकर कार्य करेंगे, उसके बदले में समाज हमें जो कुछ भी देगा उसी से हम संतुष्ट हो जाएंगे। न्याय का साम्यवादी दृष्टिकोण यह अपेक्षा करता है कि हमें सामान्य जनकल्याण की दिशा में सचेतन रूप से योगदान देना चाहिए न कि निजी कल्याण के लिए और इसके बदले में समाज जो कुछ लाभ दे उससे हमें संतुष्ट हो जाना चाहिए। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं इस दृष्टिकोण की भी अपनी समस्याएं हैं। हम सभी में कुछ न कुछ स्वार्थ तो रहता ही है और यह दृष्टिकोण उसकी अनदेखी करता है।

वितरणकारी न्याय से संबंधित लोककल्याणकारी विचार वस्तुत: समाजवाद व उदारवाद के समायोजन से प्रतिपादित किया गया है। इस विचार की यह मान्यता है कि सब लोगों की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति आवश्यक है, परंतु जैसे ही ये आवश्यकताएं पूरी हों, व्यक्तियों को समाज से अधिक लाभ पाने की प्रतिस्पर्धा के लिए स्वतंत्र होना चाहिए, परंतु मौलिक आवश्यकताओं के निर्माणकारी तत्त्वों पर मतभेद हो सकता है क्योंकि बुनियादी आवश्यकताओं की धारणा एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति और एक देश से दूसरे देश के संदर्भ में सदैव बदलती रहती हैं। अमेरिका में रेफ्रिजरेटर एक बुनियादी जरूरत हो सकती है जबकि भारत में जहां करोड़ों लोग घोर गरीबी के शिकार हैं, उसे एक विलासिता की वस्तु माना जा सकता है। इन अंतरों के बावजूद इस बात पर सब एकमत है कि कुछ लोगों की गैरजरूरी आवश्यकताओं की पूर्ति होने से पहले सब लोगों की मौलिक आवश्यकताएं पूरी करना अनिवार्य है। हमारे देश में सरकारी अस्पतालों से लोग मुफ्त इलाज करा सकते हैं, लेकिन यदि उन्हें अपने इलाज के लिए निजी देखभाल और अधिक सुविधा की आवश्यकता हो तो उसके लिए उन्हें अपनी जेब से पैसा खर्च करना होगा। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि बीमारी से सुरक्षा एक मौलिक अनिवार्यता है, परंतु किसी प्राइवेट नर्सिंग होम की अतिरिक्त सुख-सुविधाएं मौलिक नहीं मानी जा सकती।

इस अर्थ में सामाजिक न्याय महत्त्वपूर्ण हो जाता है। प्लेटो व अरस्तू संभवत: सही थे जब उन्होंने आवश्यकताओं, योग्यताओं व क्षमताओं के अनुरूप वितरण की बात की थी। वस्तुत: न्याय के विभिन्न पक्ष विद्यमान हैं। उसके प्रत्येक पक्ष का अपना ही एक तर्क है। मैत्री के क्षेत्र में न्याय की जो अवधारणा लागू होती है, वह राज्य के क्षेत्र में न्याय से भिन्न है। हम अपनी पसंद से अपने मित्र बनाते हैं और प्राय: उनके लिए पक्षपात भी करते हैं। इसमें कोई बुराई नहीं है। मित्रता का अर्थ भी यही है। परंतु राज्य के मामले में हम पक्षपाती नहीं हो सकते। निष्पक्षतापूर्वक व्यवहार करना कानून के समक्ष समानता की धारणा में ही अंतर्निहित है।

भारत में सामाजिक न्याय

1947 में स्वतंत्रता के समय भारत विश्व के सर्वाधिक गरीब देशों में से एक था। यह गरीबी मुख्यत: ब्रिटिश राज्य की आर्थिक जड़ता का परिणाम थी, परंतु इसका एक अन्य उल्लेखनीय कारण था जाति, वर्ग तथा धर्म के आधार पर पनपे विषमता के अनेक सामाजिक प्रतिमानों का उदय। इस कारण से हमने प्रारंभ से ही सामाजिक न्याय का लक्ष्य स्वीकार किया था।

भारतीय संविधान की प्रस्तावना उद्घोषित करती है कि लोकतांत्रिक भारतीय गणतंत्र अपने नागरिकों के

लिए सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक न्याय प्राप्ति के लिए वचनबद्ध है। राज्य के द्वारा बच्चों को निःशुल्क व अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था की गई है। स्वतंत्रता के पश्चात से ही गरीबी की समस्या से जूझने के लिए अनेक कार्यक्रम भी शुरू किए गए हैं। उदाहरण के लिए महाराष्ट्र सरकार ने न्यूनतम ग्रामीण मजदूरी के आधार पर रोजगार की गारंटी संबंधी कानून पारित किया। इसी प्रकार, राजस्थान में 'अंत्योदय योजना' निर्धनतम लोगों के उत्थान से प्रेरित थी। इस योजना का उद्देश्य आय अर्जित करने के साधन प्रदान करना था। भारत में अनेक ऐसे कार्यक्रम भी शुरू किए गए जिन्होंने 2 हेक्टेयर से कम की जमीन वाले किसानों को विशेष ऋण देकर कृषि कार्य में सहायता प्रदान की जैसे कि 'किसान विकास एजेंसी कार्यक्रम'। पंचवर्षीय योजनाओं ने विशेष कर पिछड़े क्षेत्रों तथा पिछड़े लोगों के लिए न्यूनतम आवश्यकता पूर्ति के अनेक कार्यक्रम लागू किए हैं। राज्य ने स्वास्थ्य, सफाई, आवास तथा शिक्षा को सुधारने की दिशा में भी अनेक कदम उठाए हैं। उसका यह प्रयास रहा है कि सभी मजदूरों को आजीविका के लिए समुचित मजदूरी मिले, कार्य की अच्छी परिस्थितियां मिले तथा जीवनयापन का समुचित स्तर उपलब्ध हो। इनके अतिरिक्त 'भूमि सुधार कार्यक्रम' भी क्रियान्वित हो चुके हैं और एकाधिकार वृद्धि को कम करने के प्रयास भी हो चुके हैं।

अनुसूचित जातियों व जनजातियों की आर्थिक स्थिति और सामाजिक स्तर सुधारने की दिशा में भी राज्य ने अनेक कदम उठाए हैं। नौकरियों में आरक्षण की व्यवस्था की गई है। राज्य ने स्कूलों, कॉलेजों व व्यवसायों में प्राथमिकता देकर उन्हें सकारात्मक रूप से संरक्षण दिया है। पिछड़े वर्गों के लिए विविध सेवाओं में अनेक पद भी आरक्षित किए गए हैं। मंडल अयोग की सिफारिशों के अनुसार सरकार ने अन्य पिछड़े वर्गों के उत्थान हेतु नौकरियों में 27 प्रतिशत स्थान आरक्षित करने का विशेष प्रावधान किया है। 'जनजागरण कार्यक्रम' के अंतर्गत सरकार ने सामाजिक जागरुकता के माध्यम से महिलाओं की स्थिति सुधारने हेतु कार्यक्रम लागू किए हैं।

इन सब प्रयासों के बावजूद भारत आज भी दुनिया के सबसे निर्धन देशों में से एक है। भारत में अमीर और गरीब अथवा जाति, वर्ग, संपत्ति व शक्ति से संबंधित घोर विषमताएं व्याप्त हैं। यहां कानूनी प्रक्रिया भी अत्यधिक खर्चीली है। जनकल्याण-कार्यक्रमों के लिए हमारे बजट में रखा गया भाग अपर्याप्त है। प्रभावशाली सामाजिक न्याय सुलभ कराने के लिए यह आवश्यक है कि हम तीव्र आर्थिक विकास की दिशा में कार्य करें ताकि कोई वित्तीय प्रतिबंध न रहे। हमें संपदा के उचित वितरण द्वारा सभी प्रकार की विषमताओं को दूर करते हुए समाज में व्याप्त असमानताओं व भेदभावों को कम करने का समन्वित प्रयास करना होगा।

अभ्यास

1. 'न्याय' शब्द की व्याख्या कीजिए।
2. कानूनी व नैतिक न्याय में अंतर स्पष्ट कीजिए।
3. इतिहास के वैचारिक परिप्रेक्ष्य में न्याय की दो मुख्य अवधारणाओं का वर्णन कीजिए।
4. 'संरक्षणकारी विभेद' क्या है? व्याख्या कीजिए।
5. भारत के नागरिकों को सामाजिक न्याय दिलाने हेतु कौन-से कदम उठाए गए हैं ?

अध्याय 5

मानव अधिकार

अधिकार अच्छे जीवन के लिए अनिवार्य शर्तें हैं। वे लोगों के संपूर्ण विकास एवं व्यक्तित्व के विकास में सहायता प्रदान करते हैं। हैराल्ड लास्की के अनुसार, ''अधिकार सामाजिक जीवन की वे परिस्थितियां होती हैं, जिनके बिना कोई भी व्यक्ति अपना सर्वोत्तम विकास नहीं कर सकता है।'' भूत काल में सभी समाजों एवं संस्कृतियों ने अधिकारों एवं सिद्धांतों की कुछ अवधारणाएं विकसित की हैं जिनका सम्मान होना चाहिए। इन अधिकारों और सिद्धांतों में कुछ को सर्वव्यापी प्रकृति का माना जाता है। इन अधिकारों की मान्यता हेतु संघर्ष, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दमन के विरुद्ध संघर्ष तथा अन्याय और असमानता के विरुद्ध संघर्ष सभी मानव समाजों के इतिहास का अभिन्न अंग रहे हैं। मानव जाति का सदस्य होने के नाते प्रत्येक व्यक्ति को अधिकारों की जिस अवधारणा का उपयोग करने करने का अधिकार प्राप्त है, वह इतिहास के इन्हीं संघर्षों के काल में विकसित हुई है।

मानव अधिकारों की अवधारणा की उत्पत्ति 'पुनर्जागरण' के काल में देखी जा सकती है और कालांतर में ज्ञानोदय से भी इसकी उत्पत्ति का संबंध रहा है। इन कालों में मानववाद (इसके विषय में आप विस्तारपूर्वक अगले अध्याय में पढ़ेंगे) महत्त्वपूर्ण सिद्धांत रहा है। मानववाद व्यक्ति की अनुशंसा संबंधित मत को लेकर चलता है तथा यह व्यक्ति की वांछनीय महत्ता एवं गरिमा पर बल देता है साथ ही मानववाद व्यक्ति की असीमित सृजनात्मक क्षमता में विश्वास रखता है तथा व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं अपृथकनीय अधिकारों की घोषणा करता है। विश्व के क्रांतिकारी आंदोलनों को प्रेरणा देने वाली दो महत्त्वपूर्ण घोषणाएं हैं : 'स्वतंत्रता की अमरीकी घोषणा' एवं 'व्यक्ति तथा नागरिकों के अधिकारों की फ्रांसीसी घोषणा'। इन आंदोलनों का मुख्य आग्रह स्वेच्छाचारी शासनों का अंत, लोकतांत्रिक राजनीति की स्थापना एवं व्यक्ति की स्वतंत्रताओं के संरक्षण पर रहा है। 19वीं सदी में विकसित समाजवादी आंदोलन ने मानव अधिकार की अवधारणा में एक नवीन तत्त्व जोड़ा। इसने वर्ग शासन के उन्मूलन एवं सामाजिक तथा आर्थिक समानता की स्थापना पर बल दिया।

मानव अधिकारों की समसामयिक अवधारणा एवं उनकी सर्वव्यापी प्रकृति एवं स्वीकृति भूतकालीन समृद्ध धरोहर पर आधारित रही है एवं इस अवधारणा को 20वीं शताब्दी के विशिष्ट ऐतिहासिक संदर्भ में देखा जाना चाहिए। लगभग आधी 20वीं शताब्दी के इतिहास को विश्व के अधिकांश भाग में उपनिवेशी शासन के प्रचलन के रूप में चित्रित किया जाता है। इस काल में कई देशों में सर्वाधिकारवादी सरकारों का उद्भव हुआ तथा कुछ देशों में फासीवादी, बर्बर तथा आक्रामक शासन प्राणालियों की स्थापना हुई। उपनिवेशों में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों के उद्भव के

अतिरिक्त विभिन्न देशों में लोकतांत्रिक एवं सामाजिक प्रगति के आंदोलन ने संपूर्ण विश्व में 'मानव अधिकारों' के सिद्धांत की लोकप्रियता के लिए एक स्वरूप प्रदान किया है।

यह काल मानव इतिहास के सबसे विध्वंसक युद्धों का भी साक्षी रहा है। द्वितीय विश्व युद्ध के अंतिम वर्षों में मानव अधिकारों ने उचित परिप्रेक्ष्य में अवधारणात्मकता एवं सुस्पष्टता का स्वरूप ग्रहण किया। नई अवधारणा की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता इसकी सर्वव्यापकता थी, जिसकी अभिव्यक्ति फासीवाद एवं सैनिकवाद के विरुद्ध एकत्र देशों द्वारा घोषित लक्ष्यों की विभिन्न घोषणाओं में की गई है। यह उचित होगा कि हम मानव अधिकारों की अवधारणा का अर्थ जानने का प्रयास करें।

मानव अधिकार का अर्थ

राजनीति विज्ञान की अन्य अवधारणाओं की भांति 'मानव अधिकार' शब्द को भी विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया एवं समझा गया है, परंतु सामान्य एवं अंतिम विश्लेषण में, मानव अधिकार मूलत: मानव अस्तित्व एवं कल्याण, मानव गरिमा एवं मानवता के सम्मान संबंधी विषयों के चारों ओर घूमते हैं। मानव अधिकार वे न्यूनतम अधिकार हैं, जिनका उपभोग प्रत्येक व्यक्ति को अन्य किसी भी धारणा की अपेक्षा मानव समाज के एक सदस्य के रूप में करना चाहिए। अवधारणात्मक दृष्टि से 'मानव अधिकार' के दो अर्थ होते है। प्रथम, एक व्यक्ति को अंतर्निहित एवं अहरणीय अधिकार इसलिए प्राप्त हैं क्योंकि वह एक मानव प्राणी है। ये नैतिक अधिकार होते है जो कि प्रत्येक मानव की मानवीयता से उद्भव होते हैं तथा इनका लक्ष्य व्यक्ति की गरिमा को बनाये रखना होता है। मानव अधिकारों का द्वितीय अर्थ कानूनी अधिकारों से संबद्ध है। कानूनी अधिकार राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय दोनों ही समाजों की कानून निर्मात्री प्रक्रियाओं के अनुरूप स्थापित किए जाते हैं। आधुनिक अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य में, स्वतंत्रता, समानता एवं व्यक्ति की गरिमा से जुड़े नैतिक एवं कानूनी, दोनों ही रूप मानव अधिकारों के सारभाग का प्रतिनिधित्व करते हैं।

मानव अधिकार, लगभग सभी समाजों में बिना किसी भेदभाव के सभी के लिए समान रूप से प्रसारित किए गए है। मानव जाति की समानता के सिद्धांत को प्रत्येक संस्कृति, सभ्यता, धर्म एवं दार्शनिक परंपरा में देखा जा सकता है। फिर भी, मानव गरिमा के अतिक्रमण एवं विभिन्न आधारों पर जनता के अधिकारों के भेदभाव के मध्य पक्षपात के लिए राज्यों एवं समाजों द्वारा सदैव कुछ तर्क दिए जाते रहे हैं। प्रकृति से प्राप्त अधिकारों एवं राज्य द्वारा इनकी अस्वीकृति के मध्य संघर्ष ने अधिकारों के कानूनी सिद्धांत को विकसित किया है। इसका तात्पर्य यह है कि संरक्षण की दृष्टि से राज्य द्वारा अधिकारों को स्वीकृति मिलनी चाहिए एवं संविधान द्वारा यथासंभव गारंटी भी दी जानी चाहिए। ये चिंता का विषय है कि कानूनी अधिकार होने के बावजूद कई शासन प्राणालियों ने घोषित समानता एवं गरिमायुक्त मानव जीवन को अस्वीकार करके नागरिकों का दमन एवं दबाव जारी रखा है। अत: इस मान्यता को बढ़ावा मिला है कि नागरिकों के अधिकारों का संरक्षण केवल सरकारों पर ही नहीं छोड़ा जा सकता है। यह अनुभव किया गया कि इन अधिकारों को राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय गारंटी की आवश्यकता है। मानव अधिकारों के अंतर्राष्ट्रीयकरण के लिए मुख्य दबाव को द्वितीय विश्व युद्ध के उपरांत गति मिली। युद्ध काल एवं उससे पहले सर्वाधिकारवादी शासन प्राणलियों ने अपने भूभागों एवं अधीनस्थ भूभागों में मानव अधिकारों का व्यापक रूप से उल्लंघन किया। ये सर्वाधिकारवादी शासन प्राणालियां जनता के पूरे के पूरे समूहों को

उनकी प्रजाति, धर्म एवं राष्ट्रीयता के कारण समाप्त करने के लिए उत्तरदायी थीं। युद्ध के अनुभव इस व्यापक मान्यता के परिणाम के रूप में आए कि अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं विकास के लिए मानव अधिकारों को प्रभावी अंतर्राष्ट्रीय संरक्षण देना उस समय की एक आवश्यक मांग थी। तदुपरांत यह धारणा संयुक्त राष्ट्र चार्टर में प्रतिबिंबित हुई एवं सुदृढ बनी।

मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा

संयुक्त राष्ट्र चार्टर आधारभूत मानव अधिकारों, मानव की गरिमा एवं महत्त्व, पुरुषों एवं महिलाओं तथा छोटे और बड़े राष्ट्रों को समान अधिकार देने में विश्वास व्यक्त करता है। चार्टर में मानव अधिकारों और मौलिक स्वतंत्रताओं को बार-बार दोहराया गया है। चार्टर की धारा 1 में कहा गया है कि प्रजाति, लिंग, भाषा या धर्म के आधार पर किसी भी भेदभाव के बिना, सभी के लिए मौलिक स्वतंत्रताओं एवं मानव अधिकारों के सम्मान को विकसित करने एवं बढ़ावा देने में अंतर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना, संयुक्त राष्ट्र का एक लक्ष्य है।

मानव अधिकारों की विषयवस्तु को परिभाषित करने के लिए संयुवत राष्ट्र ने 1945 में स्वयं संयुक्त राष्ट्र मानव अधिकार आयोग (United Nations Commission on Human Rights) की स्थापना की थी। इसका मुख्य कार्य मानव अधिकारों का एक अंतर्राष्ट्रीय विधेयक तैयार करना एवं चार्टर में उल्लिखित अधिकारों एवं स्वतंत्रताओं को परिभाषित करना था। आयोग ने मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा कर दी। 10 दिसंबर 1948 को संयुक्त राष्ट्र की महासभा ने सभी लोगों एवं राष्ट्रों के लिए उपलब्धियों के समान स्तरों के रूप में मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा को सर्वसम्मति से अपनाया। इसी कारण 10 दिसंबर 'मानव अधिकार दिवस' के रूप में मनाया जाता है। सार्वभौमिक घोषणा की धारा 1 में मानव अधिकारों के दर्शन का बोध होता है। इसमें कहा गया है कि "सभी मानव जन्म से ही स्वतंत्र होते है एवं गरिमा तथा अधिकारों में समान होते हैं। वे विवेक एवं चेतना से संचालित होते है तथा उन्हें एक-दूसरे के प्रति बंधुत्व की भावना से कार्य करना चाहिए।" अत: मूल धारा मान्यताओं को इस रूप में परिभाषित करती है :

- स्वतंत्रता एवं समानता का अधिकार मानव का जन्मसिद्ध अधिकार है तथा इससे उसको पृथक नहीं किया जा सकता, और
- विवेकशील एवं नैतिक प्राणी होने के नाते मानव, पृथ्वी के अन्य प्राणियों से भिन्न है। अत: उसे कुछ अधिकार एवं स्वतंत्रताएं मिलनी चाहिए, जिनका उपभोग अन्य प्राणी नहीं करते।

मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा में एक प्रस्तावना एवं 30 धाराएं हैं। ये कुछ अधिकारों को परिभाषित करती हैं जो सभी व्यक्तियों को प्रजाति, धर्म, राष्ट्र, लिंग एवं रंग के भेदभाव के बिना मिलने चाहिए।

इन मानव अधिकारों को तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है :

प्रथम श्रेणी में वे अधिकार हैं, जिनका संबंध मुख्यत: व्यक्ति के नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों से होता है। इनमें जीवन, स्वतंत्रता, व्यक्ति की सुरक्षा, उत्पीड़न एवं दासता से मुक्ति तथा राजनीतिक सहभागिता के अधिकार सम्मिलित हैं। संपत्ति तथा विवाह के अधिकार और मत, अभिव्यक्ति चिंतन, चेतना तथा धर्म की मूल स्वतंत्रताओं के अतिरिक्त संघ एवं सभा की स्वतंत्रता संबंधी अधिकार भी प्रथम श्रेणी के मूल अधिकारों के ही अभिन्न अंग हैं।

द्वितीय श्रेणी के अधिकार वे हैं, जिन्हें 'सुरक्षा केंद्रित अधिकार' कह सकते हैं। ये अधिकार सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक सुरक्षा प्रदान करते हैं। ये

सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक अधिकार प्रकृति में अधिक सकारात्मक होते हैं। अत: वे राज्य का यह दायित्व तय करते हैं कि वह उन अधिकारों की प्राप्ति को सुनिश्चित करें। मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा में उन सिद्धांतों पर सहमति दिखाई देती है जो प्रथम एवं द्वितीय श्रेणी के अधिकारों के मूल आधार हैं।

तृतीय श्रेणी के मानव अधिकार अपेक्षाकृत नवोदित अधिकार हैं। वे हाल ही के वर्षों में विभिन्न नए बिंदुओं पर अंतर्राष्ट्रीय सहमतियों के प्रति प्रतिक्रियाओं के रूप में उदय हुए हैं। इनमें पर्यावरणीय, सांस्कृतिक एवं विकासात्मक अधिकार सम्मिलित हैं। इनका संबंध व्यक्तियों के अधिकारों की अपेक्षा समूह एवं जनता के अधिकारों से अधिक होता है। इन अधिकारों में आत्मनिर्णय का अधिकार एवं विकास का अधिकार भी सम्मिलित है। इन अधिकारों पर अंतर्राष्ट्रीय सहमति उत्पन्न करने में विकासशील देशों ने अग्रणीय भूमिका निभाई है।

'सर्वव्यापी घोषणा' की स्वीकृति के समय से ही इस प्रश्न पर पर्याप्त मतभेद रहा है कि कौन-से अधिकार अधिक महत्त्वपूर्ण हैं और कौन-से कम। कुछ राज्यों के प्रतिनिधि इस बात पर अधिक बल देते रहे हैं कि आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों की अपेक्षा नागरिक एवं राजनीतिक अधिकार अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। विकास के अधिकार को स्वीकृति देने के बारे में उनके गंभीर पूर्वाग्रह रहे हैं। जिन्हें यदि उसे प्रभावी ढंग से क्रियान्वित किया जाए तो वे विश्व में आर्थिक एवं राजनीतिक शक्ति के प्रचलित प्रतिमानों को प्रभावित करेगें। कुछ अन्य देश आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक अधिकारों एवं विकास के अधिकार के महत्त्व पर बल देते हैं। सिद्धांत:, इन मतभेदों को तभी दूर किया माना जा सकता है, जब सभी मानव अधिकारों को अविभाज्य मान लिया जाए। 171 देशों के प्रतिनिधियों एवं सैकड़ों गैर-सरकारी संगठनों की सहभागिता वाले 'वियना उद्घोषणा' के उपरांत जारी घोषणा में स्पष्ट कहा गया है कि *सभी मानव अधिकार सार्वभौम, अविभाज्य, अंतरनिर्भर एवं अंतरसंबंधित होते हैं।* साथ ही यह भी कहा गया है कि व्यक्तिगत अधिकारों-नागरिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राज्यों के अंतंगत सामूहिक अधिकारों एवं राज्यों के समुदायों के मध्य अधिकारों का लोकतंत्र ही एकमात्र संरक्षक है।

चार्टर और 'सार्वभौमिक घोषणा' उन लाखों लोगों के लिए प्रेरणा के स्रोत थे जो विशेषतया दलित थे एवं उपनिवेशी शासन के अंतर्गत रहते थे, लेकिन घोषणा कोई कानूनी प्रतिबंधात्मक दस्तावेज नहीं थी। मानव अधिकारों को कानूनी स्वीकृति प्रदान करने के लिए 16 दिसंबर 1966 को महासभा ने दो प्रतिज्ञापत्रों को स्वीकार किया। वे थे : आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों का अंतर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञापत्र एवं नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों का अंतर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञापत्र। ये प्रतिज्ञापत्र कानूनी दृष्टि से प्रतिबंधात्मक संधियां थी। इसकी सदस्यता ऐच्छिक थी। कोई भी राज्य इनका सदस्य बन सकता था। एक बार इन प्रतिज्ञापत्रों को स्वीकार करने के सहमति देने के उपरांत इसकी धाराओं के क्रियान्वयन के लिए प्रक्रियाओं को स्वीकार करना होगा तथा प्रतिज्ञापत्रों के प्रावधानों की अनुपालन रिपोर्ट प्रस्तुत करनी होगी। मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा तथा इन दो प्रतिज्ञाप्रत्रों के अतिरिक्त भी महासभा द्वारा स्वीकृत अनेक घोषणाएं, अनुशंसाएं एवं समझौते भी हैं। जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है कि घोषणा एवं अनुशंसाएं प्राय: संयुक्त राष्ट्र के सभी सदस्यों पर लागू होती हैं, परंतु उनकी ऐसी कोई कानूनी शक्ति नहीं होती है जैसे कि समझौतों (Conventions) की, जो कि एक बार सदस्य बनने के उपरांत राज्यों पर प्रतिबंधात्मक रूप से लागू होते हैं।

घोषणापत्र का महत्त्व यह है कि यह मानव परिवार के सभी सदस्यों की सामान्य समझ का उल्लेख करता है एवं अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के सदस्यों के लिए दायित्वों का निर्धारण करता है। यह मानव अधिकारों को अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की व्यवस्था में स्थान प्रदान करता है। इसका तात्पर्य यह है कि राष्ट्रीय सीमाएं मानव अधिकारों पर कोई नियंत्रण नहीं लगाती हैं। मानव अधिकार, पराराष्ट्रवादी मूल्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं। साथ ही अंतर्राष्ट्रीय सहयोग राज्यों पर वह दायित्व लागू करता है, जिसकी सहमति उन्होंने संयुक्त राष्ट्र के चार्टर एवं मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा के आधार पर व्यक्त की है। इस संदर्भ में, आज के विश्व में मानव अधिकार एक महत्त्वपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय विषय बन गया है। उनका उल्लंघन केवल राज्य का आंतरिक विषय ही नहीं, अपितु यह समस्त अंतर्राष्ट्रीय समुदाय का विषय है। एक मत यह भी है कि बड़ी शक्तियां, मानव अधिकारों के संरक्षण के नाम पर अन्य देशों के मामलों में हस्तक्षेप करके इस अंतर्राष्ट्रीय महत्त्व की अवधारणा का दुरुपयोग कर रही हैं। जबकि वे ऐसा करके मूलत: अपने स्वयं के निहित राष्ट्रीय स्वार्थों की ही पूर्ति करते हैं। अत:, मानव अधिकार का विषय एक गंभीर वाद-विवाद का विषय बन गया है।

बहुत सारे देश मानव अधिकारों के प्रतिज्ञापत्रों एवं समझौतों पर हस्ताक्षरकर्ता हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वे इनको क्रियान्वित करने के प्रति वचनबद्ध हैं। अत: यह सरकारों का दायित्व है कि वे इन अधिकारों को संरक्षण एवं बढ़ावा दे। मानव अधिकार अंतर्राष्ट्रीय घोषणाओं एवं प्रतिज्ञापत्रों के द्वारा तय किए गए हैं या देश के कानून द्वारा निर्धारित किए गए हैं, इस अंतर को हमें सदैव याद रखना चाहिए। राज्य के कानूनों को न्यायालयों के हस्तक्षेप द्वारा लागू किया जा सकता है। संयुक्त राष्ट्र चार्टर के लागू होने के पश्चात् विगत आधी शताब्दी में मानव अधिकारों का क्रियान्वयन का इतिहास निराशाजनक ही रहा है। हालांकि मानव अधिकारों को यथार्थ रूप देने की इस समझ को तैयार करने की आवश्यकता वास्तव में इससे पहले कभी इतनी अधिक नहीं थी।

भारत सहित बहुत से महत्त्वपूर्ण लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं ने अपने नागरिकों के लिए मानव अधिकारों की महत्ता को अनुभव किया है एवं उन्हें विभिन्न रूपों में जैसे घोषणाओं और यहां तक कि अपने संविधानों में भी किसी न किसी रूप में सम्मिलित किया है।

भारत ने इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया है। भारतीय संविधान के निर्माताओं ने मानव समानता एवं गरिमा के सिद्धांत का समर्थन किया और नागरिकों के मौलिक अधिकारों को (संविधान के तीसरे भाग में) न्यायसंगत बनाया है।

अभ्यास

1. 'मानव अधिकारों' की परिभाषा दीजिए।
2. 'मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा' के अर्थ की व्याख्या कीजिए।
3. मानव अधिकारों के महत्त्व का वर्णन कीजिए।
4. मानव अधिकारों की घोषणा के लिए कौन-सी परिस्थितियां उत्तरदायी थीं ?
5. मानव अधिकार दिवस कब एवं क्यों मनाया जाता है ?

अध्याय 6

धर्म

धर्म मूल रूप से एक भारतीय अवधारणा है। इसका आधार प्राचीन भारतीय दर्शन और विचार में सुदूर तक पाया जाता है। हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों ने इसके महत्त्व को पहचानते हुए इस बात पर बल दिया कि मानव जीवन को धर्म की पूर्वनिर्धारित धारणाओं के अनुरूप नियंत्रित किया जाए।

धर्म क्या है ?

अब प्रश्न यह उठता है कि धर्म क्या है और इसके मूलभूत तत्त्व कौन-से हैं ? धर्म शब्द संस्कृत के 'धर' शब्द से लिया गया है। जिसका तात्पर्य है अपनाना, सहायता करना या अनुरक्षण करना। साधारण भाषा में इसका अर्थ 'सदाचार के सिद्धांतों' से है। यह मानव प्राणियों की नैतिक संबंधता को इंगित करता है। सामान्य बोलचाल में इसको प्रायः पंथ या आध्यात्मिकता से जोड़ा जाता है, परंतु धर्म केवल आध्यात्मिकता ही नहीं है। जीवन में कर्तव्यों के जिस मार्ग का अनुसरण करना हमने तय किया है, उसका पालन ही धर्म है। इसको किसी विशिष्ट पंथ के साथ नहीं जोड़ा जा सकता। धर्मशास्त्रों ने वैदिक परंपरा के आधार पर धर्म की परिभाषा दी है। इस परंपरा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के धर्म का निर्धारण, वर्ण एवं आश्रमों की सामाजिक व्यवस्था में उसके स्थान के अनुसार तय होता है। *मीमांसा* के अनुसार धर्म को आदेशों एवं प्रतिबंधों के एक समुच्चय के रूप में स्वीकार किया जाता है। बौद्ध साहित्य में धर्म, चेतना की मुख्य विशेषता के रूप में दर्शाया जाता है।

प्राचीन भारतीय साहित्य में धर्म की अवधारणा

धर्म की अवधारणा का व्यापक विवेचन महाभारत के 'शांतिपर्व' एवं 'अनुशासन पर्व' में किया गया है। शांति प्रतिपादित मत सैद्धांतिक एवं व्यवहारिक दृष्टिकोणों का सयुंक्तिकरण है। धर्म, मूलतः नैतिक कार्यों का अनुमोदन करता है। यह अवधारणा इस बात पर बल देती है कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी प्रकृति एवं स्वभाव होता है। व्यक्ति के समाज में स्थान के अनुरूप, धर्म उसकी क्षमता की अनुभूति होता है। व्यक्ति को अपने उद्देश्यों एवं इरादों का उत्तरदायित्व स्वीकार करना चाहिए। यह माना जाता है कि व्यक्ति को उसके कार्यों के परिणाम के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता, परंतु व्यक्ति के पास आत्मा है और उसमें अपने वातावरण को समझने तथा इसे अपने आप से जोड़ने की क्षमता है। इसलिए उसके उद्देश्य एवं इरादे भी नैतिक जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण होते है।

गीता में जब अर्जुन को उसके धर्म के अनुसार कार्य करने के विषय में उपदेश दिया जा रहा था, तब कृष्ण कहते हैं : हे अर्जुन ! तुम अपनी प्रकृति एवं स्वभाव जनित आवेगों एवं भावनाओं पर विजय प्राप्त करो तथा धैर्यपूर्वक अपने कर्तव्य (स्वधर्म) का

पालन करो। व्यक्ति भाग्य की कार्यप्रणाली के विषय में अनभिज्ञ है। वह यह भी सुनिश्चित नहीं कर सकता कि उसके कार्यों के परिणाम सदैव अच्छे ही होगें, परंतु जहां तक उसके उद्देश्यों एवं विवेकशीलता का प्रश्न है, वह पूर्णतः स्वतंत्र है। यह स्वतंत्रता ही उस पर समाज के लिए कार्य करने का दायित्व डालती है। ग्रंथों ने धर्म की अवधारणा का प्रमुख अर्थ दूसरों के लिए कार्य करने के रूप में किया है। इस अवधारणा की पूर्णता कृष्ण के 'निष्काम कर्म' के विचार में निहित है।

कार्यविधि के सही मार्ग का निर्णय हम कैसे तय करें? यह सुझाव दिया जाता है कि सर्वप्रथम हमें वेद, स्मृति एवं नैतिक जीवन के अन्य परंपरागत स्रोतों के नियमों का अनुसरण करना चाहिए। धर्म के अर्थ का क्षेत्र बहुत ही व्यापक है। *मनु संहिता* में धर्म की विभिन्न विशेषताओं के बारे में विवेचना की गई है। यहां धर्म शब्द को न केवल वस्तुओं के गुणों एवं स्वाभाविक विशेषताओं से संबंधित माना गया है, अपितु इसका संबंध उच्च सद्गुणों एवं आध्यात्मिक प्रयासों से भी जोड़ा गया है। इसमें यह भी चर्चा की जाती है कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। द्वितीय, धर्म न केवल नागरिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक विषयों से संबंधित है, वरन् इसमें व्यक्तियों के सामान्य व्यवहार, जीवन की सुरक्षा एवं व्यक्तिगत रुचियों, जैसे स्वच्छता, सफाई का प्रबंध, नागरिक चेतना, सद्व्यवहार, शिष्टता, भद्रता तथा सामान्य अर्थ के विषयों की चर्चा भी सन्निहित है। तृतीय, समाज के विभिन्न वर्गों के लिए तथा जीवन एवं प्रतिष्ठा के विभिन्न स्तरों पर धर्म को भिन्न-भिन्न तरीकों से निरूपित किया जाता है अथवा समझा जाता है। यह पुरुष एवं महिलाओं के लिए भिन्न-भिन्न हो सकता है। यह वास्तव में विभिन्न, किंतु अंतरसंबंधित कर्तव्यों का जाल होता है। प्रत्येक स्थिति में व्यक्ति को इसे स्वयं परिभाषित करना होगा। चतुर्थ, धर्म के क्षेत्रों एवं परिचालनों का उल्लेख करते समय, जैसा कि वेद एवं स्मृतियों में चतुर्वर्ण का विधान प्रस्तुत किया गया है, विधि प्रदाता मनु एवं हिंदू दर्शन के अन्य प्रतिपादकों ने स्वीकृत व्यवहार को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है और समाज के समझदार व्यक्तियों ने इसे पीढ़ी-दर-पीढ़ी जारी रखा है। प्रशासक को यह देखना होगा कि स्थानीय रीति-रिवाजों को उपयुक्त संरक्षण मिलता रहे तथा वे सम्मानपूर्वक बने रहें। पंचम, हमें केवल वर्ग या प्रतिष्ठा या स्थिति के संदर्भ में ही धर्म की बात नहीं करनी चाहिए, वरन् हमें समय एवं युग के संदर्भ में भी इसे समझना एवं क्रियान्वित करना चाहिए। अंतिम, धर्म के घेरे में जीवन के आध्यात्मिक उद्देश्यों को सम्मिलित करना भी इसका एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है। प्रत्येक प्राणी का आध्यात्मिक प्रारंभ एवं अंत होता है। धर्म जीवन के चार लक्ष्यों से संबंधित है। ये है: धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष। धर्म नियंत्रणकर्ता है; अर्थ एवं काम इसके अधीनस्थ है किंतु फिर भी इसे सुख या समृद्धता से पृथक नहीं किया जा सकता। धर्म सर्वोच्च है, क्योंकि यह सभी के हितार्थ हमारी सभी गतिविधियों को नियंत्रित करता है। यह सकारात्मक अवधारणा है, सर्वोच्च संभव आदर्श अर्थात् स्वानुभूति एवं आत्ममुक्ति का निरूपण है।

जब कभी भी विभिन्न सिद्धांतों में विरोधाभास होता है तो मूल सिद्धांत है सभी का कल्याण। लघु वर्ग के कल्याण की अपेक्षा बृहत् वर्ग के कल्याण को प्राथमिकता अवश्यमेव दी जानी चाहिए। व्यक्ति की अच्छाई की अपेक्षा समाज की अच्छाई को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। महाभारत में कहा गया है कि व्यक्ति को गांव के लिए एवं गांव को राज्य हेतु न्यौछावर किया जा सकता है तथा संपूर्ण विश्व को आत्मा के लिए छोड़ा जा सकता है। अंतिम

विश्लेषण में दो सद्‌गुणों - सत्य एवं अहिंसा के अलावा अन्य सभी सद्‌गुणों का व्यवहार उन जटिल परिस्थितियों पर निर्भर करता है जिनमें व्यक्ति की प्रकृति एवं स्वभाव के साथ ही समाज में उसके द्‌वारा प्राप्त स्तर भी सम्मिलित होता है। वास्तव में, नैतिक जीवन एक सीधी लकड़ी की भांति नहीं बना है। कृष्ण ने संदेह की स्थिति में दो सामान्य सिद्‌धांतों को प्रतिपादित किया है। प्रथम, व्यक्ति को उन महान व्यक्तियों के उदाहरणों को अपनाने का प्रयास करना चाहिए, जो उन्होंने ऐसी स्थितियों में अपनाए थे। द्‌वितीय, व्यक्ति को समाज के कल्याण के लिए अपने निजी हितों को गौण बना देना चाहिए। मनु ने धर्म की अवधारणा का निष्कर्ष एक शब्द – 'उपकार' में प्रस्तुत किया है।

धर्म, राज्य, कानून और समाज

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि भले ही धर्म की अवधारणा कानून और राज्य से सीधे संबंधित नहीं है परंतु इसका प्रभाव दोनों पर है।

आप पिछली कक्षा में 'पंथनिरपेक्ष राज्य' के विषय में पहले ही पढ़ चुके हैं। 'पंथनिरपेक्ष राज्य' से हमारा अभिप्राय है ऐसा राज्य जिसका अपना कोई पंथ नहीं होता। वह सभी नागरिकों को पंथ, जाति, प्रजाति के आधार पर भेदभाव किए बिना सुरक्षा प्रदान करता है। जैसा कि आप जानते हैं कि भारतीय संविधान भी इस बिंदु पर बल देता है। धार्मिक स्वतंत्रता तथा कानून के समक्ष समानता का अधिकार, संविधान के मौलिक अधिकार वाले भाग में सम्मिलित किए गए हैं।

'पंथनिरपेक्ष राज्य' को बनाए रखने के पीछे एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ऐसे राज्य की आधारशिला के रूप में एक पंथनिरपेक्ष समाज का होना अति आवश्यक है। इसका यह अर्थ है कि समाज के सदस्य दूसरे पंथ के सदस्यों की भावनाओं को ठेस न पहुंचाए और उनकी भावानाओं का आदर भी करें। पंथनिरपेक्षता एक सकारात्मक धारणा है। भारत में सहनशीलता और अन्य सदस्यों के साथ सौहार्दपूर्ण वातावरण में रहने की एक लंबी परंपरा है।

उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में धर्म का सही रूप से अंग्रेज़ी के शब्द 'रिलिजन' (Religion) से अनुवाद नहीं किया जा सकता। हमारी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति में धर्म एक 'संयुक्त शब्द' है जो चार तत्त्वों से मिलकर बना है। इसका अर्थ है :

- सदाचार,
- कर्तव्य,
- वैधता, और
- उचित दावे।

पाश्चात्य परंपरा में धर्म का सार इस आदेश वाक्य में निहित है ''मेरा कार्यस्थल और मेरा कर्तव्य''। इसका अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने कार्य-स्थल पर अपने कर्तव्यों का पालन निष्ठापूर्वक करना चाहिए। भारतीय परंपरा के अनुसार ये चार 'वर्णों' के मध्य का दर्शन है। प्लेटो के मतानुसार न्याय, आदर्श राज्य में समाज के तीन वर्गों में 'श्रम का विभाजन' तथा 'कार्यों का विशेषीकरण' है। उसके लिए आदर्श समाज अथवा आदर्श राज्य में समाज के तीनों वर्ग जन्म के आधार पर नहीं बल्कि उनमें निहित गुणों के आधार पर संगठित होंगे। यह तीन गुण हैं - इच्छा, साहस तथा विवेक। जिनमें इच्छा का बाहुल्य है वे सारे समाज के लिए उत्पादन करते हैं ; जिनमें साहस अधिक है वे राज्य अथवा समाज के रक्षक होते हैं तथा जिनमें विवेक की प्रमुखता होती है वे दार्शनिक शासक अथवा दार्शनिक राजा बनते हैं। इस प्रकार न्याय का अर्थ है एक व्यक्ति का अपने वर्ग के अनुसार निष्ठापूर्ण कार्य करना तथा दूसरे के

कार्यों में हस्तक्षेप किए बिना अपने कार्यों में दक्षता प्राप्त करना।

गांधीजी ने धर्म को दयनीय अवस्था वाले लोगों के प्रति करुणा से जोड़ा। (गांधीजी के विचार के बारे में आप विस्तार से अध्याय 16 में पढ़ेगें) वस्तुत: धर्म की संकल्पना अस्पष्ट है। उदाहरण के लिए एक उदारवादी की दृष्टि में संपत्ति का अधिकार अनिवार्य हो सकता है परंतु एक साम्यवादी का दृष्टिकोण ठीक इसके विपरीत हो सकता है। अहिंसा का सिद्धांत महत्त्वपूर्ण एवं मूल्यवान है। कोई भी 'अहिंसा परमोधर्म:' कहावत पर प्रश्नवाचक चिह्न नहीं लगा सकता। किंतु यथार्थ रूप में 'अधिक उपयुक्त' या 'कम उपयुक्त' दृष्टि से किसी का भी चयन कर सकता है। अत: महर्षि मारकण्डेय ने घोषणा की कि "सदाचार के मार्ग जटिल, कठिन, विविध एवं अनंत हैं।" जब जीवन, संपत्ति अथवा नैतिक मूल्यों को किसी प्रकार खतरा हो तो मौलिक परिस्थितियों से हटा जा सकता है। तदापि अधिकांश मामलों में हटने की अनुमति केवल सार्वजनिक कल्याण की दृष्टि से ही है।

इस प्रकार धर्म की संकल्पना बहुत व्यापक ही नहीं अपितु अत्यधिक आदर्शात्मक भी है। आदर्शवादी दृष्टिकोण के अतिरिक्त इसमें नैतिक व्यवस्था की आवश्यकता पर बल दिया गया है। नैतिक संदर्भ में यह राज्यों और व्यक्तियों, दोनों पर ही लागू होता है। जिस तरह व्यक्ति नैतिक नियमों से बंधे हुए हैं, उसी तरह राज्यों को भी नैतिक मूल्यों को स्वीकार करना होगा। कुछ प्राचीन ग्रंथों के अनुसार अगर कोई शासक धर्म की अवहेलना करता है तो वह सदाचारी नहीं है और अवगुणों से भरा है। संक्षेप में 'धर्म' का दर्शन, हमारा ध्यान जीवन की जटिलताओं की ओर आकर्षित करता है और जीवन को जीने-योग्य बनाने में सहायक होता है।

अभ्यास

1. हमारे सामाजिक, राजनीतिक और नागरिक जीवन में धर्म के महत्त्व की व्याख्या कीजिए।
2. प्राचीन भारत में धर्म की अवधारणा की व्याख्या करें।
3. क्या आप इस कथन से सहमत हैं कि धर्म की धारणा अस्पष्ट और आदर्शवादी है ? उदाहरण सहित समझाइए।
4. धर्म एक प्रकार के उच्चतम नैतिक, सामाजिक और नागरिक सद्गुणों से युक्त है। समझाइए।
5. निम्नलिखित पर टिप्पणियां लिखें :
   (क) पंथनिरपेक्षता
   (ख) मेरा कार्यस्थल और मेरा कर्तव्य
   (ग) चतुर्वर्ण

इकाई दो

राज्य और नागरिक

अध्याय 7

अधिकार तथा कर्तव्य : अर्थ एवं संबंध

अधिकार क्या हैं ?

नागरिकों के अधिकार उनके अच्छे जीवन के लिए आवश्यक हैं। वे उन बाह्य स्थितियों का निर्माण करते हैं जो व्यक्तित्व के विकास के लिए अपरिहार्य हैं। राज्य मानव व्यक्तित्व को समृद्ध करने के लिए ही बना है। यह सब कुछ अपने में समाहित करने वाला 'लेवायथन' (Leviathan)नहीं है बल्कि मानव विकास को संभव बनाने वाली एक आवश्यक युक्ति है। कुछ मानकीय दार्शनिकों की यह दृढ़ *मान्यता है कि यथार्थ में कोई राज्य कहलाने का तभी* अधिकारी है जब वह अपने नागरिकों को कुछ न्यूनतम अधिकार उपलब्ध कराए। वास्तव में, अधिकार कुछ दावों के रूप में प्रकट होते हैं, लेकिन सभी दावों को अधिकार की संज्ञा नहीं दी जा सकती। अधिकार वस्तुत: वे दावे होते हैं जिन्हें समाज मान्यता देता है और जो राज्य द्वारा लागू किए जाते हैं। ऐसी मान्यता के अभाव में अधिकार केवल खोखले दावे ही सिद्ध होंगे। समाज की प्रकृति सावयविक होती है, अत: किसी व्यक्ति को स्पष्टत: ऐसे कोई अधिकार नहीं मिल सकते जिन्हें समाज स्वीकृत न करता हो। समाज के अभिन्न अंग के रूप में व्यक्ति केवल उसी के माध्यम से अपने अस्तित्व के उद्देश्यों को प्राप्त कर सकता है। अत: कोई भी स्वार्थपूर्ण दावा अधिकार नहीं हो सकता। अधिकार कहलाने के लिए यह आवश्यक है कि उसका उद्देश्य समाज का हित हो एवं समाज की सामान्य धारणा द्वारा मान्य हो। यदि अधिकार समाज की मान्यता पर निर्भर न हों तो हर कोई अपनी सुविधानुसार अधिकारों के नाम पर हर प्रकार के दावे प्रस्तुत करने लगेगा। परस्पर विरोधी दावों की स्थिति में उनका सापेक्षिक औचित्य निर्धारित करना कठिन होगा। केवल समाज ही कुछ सीमाओं के भीतर ऐसा कर सकता है। समाज से ऐसा करने के दौरान त्रुटि हो सकती है लेकिन अधिकारों के पारस्परिक विरोध की स्थिति में समाज की व्यापक बुद्धिमत्ता पर भरोसा किया जा सकता है। अत: किसी भी राज्य में अधिकारों की विषय-वस्तु संबंधित समाज में व्याप्त सामान्य मत अथवा सर्वसहमति द्वारा निर्धारित होता है। यह हो सकता है कि हम उन्हें अधिक मानवीय बनाने के क्रम में उनमें समय-समय पर परिवर्तन करें लेकिन अंतत: उनकी प्रकृति व विषय-वस्तु का निर्धारण समाज द्वारा ही किया जाता है।

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि अधिकारों के संदर्भ में सामाजिक मान्यता तथा राज्य द्वारा उन्हें दी जाने वाली मान्यता में पर्याप्त अंतर है। अधिकार सदैव कानून की उपज नहीं होते जैसा कि हाब्स व बेन्थम का विश्वास था। अधिकार, मानव व्यक्तित्व के विकास की अनिवार्य शर्त हैं अतएव वे उन सिद्धांतों का सूत्रपात करते हैं जिनसे स्वयं राज्य-कानून अपना औचित्य प्राप्त करते हैं। किसी भी राज्य के

मूल्यांकन का आधार वास्तव में वे परिस्थितियां है जिन्हें राज्य अपने नागरिकों के वैयक्तिक विकास के लिए सुलभ कराता है। 'अधिकार' उन्हीं परिस्थितियों का दूसरा नाम है। वैधानिक सिद्धांत के अनुसार अधिकार राज्य-इच्छा की उत्पत्ति है। जैसाकि लास्की की मान्यता है कि "अधिकारों को राज्य-इच्छा की उत्पत्ति मानने वाला कोई भी कानूनी सिद्धांत, राजनीतिक दर्शन को समृद्ध नहीं कर सकता। ऐसा सिद्धांत तो हमें केवल यही बताता है कि राज्य की प्रकृति क्या है। वह हमें यह नहीं बता सकता कि मान्यताप्राप्त अधिकार अनिवार्य है अथवा नहीं।" अधिकार वास्तव में वे दावे होते हैं जिनके बिना कोई व्यक्ति अपने अस्तित्व के उद्देश्य को प्राप्त ही नहीं कर सकता। राज्य, मानवीय सुख अर्जित करने के लिए बना है, अतएव वह तभी सफल हो सकता है जबकि वह अपने नागरिकों को वह अधिकार दे जिनकी वे अपने विकास के लिए मांग करते हैं।

कभी राज्य द्वारा स्वीकृत अधिकारों व समाज द्वारा मान्यता प्राप्त अधिकारों से संघर्ष भी हो सकता है। राज्य कुछ विशेषाधिकार सुरक्षित करने की चेष्टा कर सकता है जैसा कि 1789 से पहले फ्रांस के शासन ने किया था और जिसके फलस्वरूप फ्रांसीसी राज्य क्रांति की ज्वाला भड़क उठी थी। ऐसी परिस्थितियों में आदर्श अधिकारों के पक्षधर राज्य के पुराने आधारों को नगण्य करते हुए किसी नई राज्य व्यवस्था के सूत्रपात करने की कोशिश करते हैं। उनके प्रयास का लक्ष्य किसी ऐसी राज्य व्यवस्था की स्थापना है जो सामाजिक इच्छा के अनुरूप व्यक्ति के आदर्श दावों की पोषक हो।

लॉक ने अपने विचारों में प्राकृतिक अधिकारों के उस सिद्धांत का समर्थन किया था जो व्यक्तियों को प्राकृतिक अवस्था में उपलब्ध थे। सभ्य समाज के उदय से पूर्व प्राकृतिक अधिकारों व कर्तव्यों की व्यवस्था थी जो पारस्परिक दावों और दायित्वों पर आधारित थे। लॉक ने प्राकृतिक अवस्था को पारस्परिक दावों और दायित्वों के एक व्यापक जाल के रूप में प्रस्तुत किया था। उसके अनुसार प्राकृतिक अवस्था में व्यक्ति के अधिकार स्थायी व अलोप्य थे। ऐसे अधिकारों में जीने का अधिकार तथा स्वतंत्रता व संपत्ति विषयक अधिकार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण थे। हॉब्स और लॉक दोनों ही कभी स्पष्ट नहीं कर सकें कि 'प्रकृति' क्या है। कभी-कभी तो उनके सिद्धांत में 'प्रकृति' से अभिप्राय उस स्वाभाविक खोज से होता है जो व्यक्ति सुरक्षा व अधिग्रहण के उद्देश्य से करते हैं। यहां तक कि उसमें प्राय: उनकी आक्रामक प्रवृत्ति को संतुष्ट करने के अंश भी दिखाई देते हैं। कभी-कभी उनका अभिप्राय विवेकपूर्ण आचरण से भी होता है। वास्तव में प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत के अनुसार मानवजाति की शैशवास्था में अधिकारों की यह उपभोगकारी कल्पना है। यह इस भ्रांत धारणा पर आधारित है कि समाज से पृथक भी हमारे कोई अधिकार अथवा कर्तव्य हो सकते हैं। बर्क ने इस बात को अत्यंत प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करते हुए कहा था कि हम नागरिक तथा गैर-नागरिक अवस्था के अधिकारों का एक साथ उपभोग नहीं कर सकते। प्राकृतिक अधिकार अमूर्त रूप में जितने ही पूर्ण होंगे, व्यवहार में उनकी स्वीकृति उतनी ही कठिन होगी।

अधिकार वस्तुत: सामाजिक परिस्थितियों का परिणाम होते हैं। वे समाज से पृथक नहीं हो सकते। यदि वे प्राकृतिक होते भी है तो केवल इस अर्थ में कि वे हमारे वांछित उद्देश्यों की अभिव्यक्ति करते हैं। वे केवल उसी अर्थ में प्राकृतिक हैं कि उनके बिना कोई भी व्यक्ति अपना पूर्ण विकास नहीं कर सकता। अत: एक ओर तो वे उन दावों के परिचायक हैं जिनके बिना व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं कर

सकता, और दूसरी ओर वे समाज से मान्यता प्राप्त ऐसी सुविधाएं हैं जिनसे व्यक्ति अपने दावों की पूर्ति कर सकता है। समाज ही हमारे दावों को मान्यता दे सकता है, वही उन्हें औचित्य प्रदान करता है। वैयक्तिक अधिकारों की सार्थकता तथा महत्त्व केवल तभी तक होता है जब तक उनसे व्यक्ति की भलाई के साथ सामाजिक कल्याण भी संभव हो। ये ही वे माध्यम हैं जिनके द्वारा व्यक्ति अपने कल्याण की भांति समाज का कल्याण भी कर सकता है। अधिकार हमारी क्षमता की उन स्थितियों के परिचायक हैं जिनके अंतर्गत हम सामाजिक कल्याण में अपनी भागीदारी निभा पाते हैं। कोई समाज केवल तभी विकसित हो सकता है जब उस समाज के सदस्य एक-दूसरे के दावों को इस आधार पर मान्यता दें कि उन दावों से सामाजिक कल्याण चरितार्थ होता है। ऐसी पारस्परिक मान्यता ही अधिकारों की आधारशिला है।

इस प्रकार अधिकार सामाजिक प्राणी के रूप में व्यक्ति के कल्याण की परिस्थितियां हैं। ये सामाजिक जीवन की वे परिस्थितियां हैं जिनके अभाव में व्यक्ति सामाजिक हितों से अपने निजी हितों का तादात्म्य स्थापित नहीं कर सकता। राज्य तो ऐसी परिस्थितियों को केवल लागू ही करता है। राज्य का यह उद्देश्य है कि वह व्यक्ति के सामान्य सुख की परिस्थितियां पैदा करे। इस कारण यदि राज्य व्यक्ति के विकास के लिए आवश्यक अधिकारों की परिस्थितियों को उपलब्ध करने में विफल होता है तो उसके प्रति हमारी आस्था का दावा समाप्त हो जाता है। निस्संदेह, सामान्य हित का निर्धारण करना कठिन है। व्यवहार में उसका अर्थ अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम कल्याण या बहुसंख्यक का हितसाधन हो सकता है। इसका उद्देश्य समाज के कल्याण की सरकारी धारणा भी हो सकता है। किस दावे को अधिकार के रूप में स्वीकार किया जाए यह एक व्यावहारिक समस्या है। अधिकार की अंतर्निहित विषय-वस्तु काफी अंशों में किसी समय-विशेष में किसी विशिष्ट समाज के रीतिरिवाजों व लोकाचार पर निर्भर करती है। अधिकारों की कोई भी ऐसी सूची नहीं निर्मित की जा सकती जिसको सार्वभौमिक या सामान्य रूप से सभी परिस्थितियों में लागू किया जा सकता हो। ऐसा कोई भी प्रयास वास्तव में किसी युग-विशेष के मूल्यों को पूर्ण सत्य के रूप में प्रतिष्ठित करने के बराबर होगा। अधिकारों के किसी भी ऐसे परिकल्पनात्मक विचार की उस सिद्धांत के संदर्भ में बहुत कम प्रासंगिकता होती है जो सामान्य नियम प्रतिपादित करने को तत्पर होता है। अतीत में आदर्श अधिकारों के सूचीबद्ध करने के सभी प्रयास वस्तुत: उस प्रवृत्ति के शिकार रहे हैं जिसे तकनीकी भाषा में 'अवधारणा का मूर्तिकरण' (reification of conception) कहा जाता है। इस प्रवृत्ति से बाध्य होकर कोई समाज अपने विशिष्ट मूल्य को सामान्य अथवा सार्वभौमिक मूल्य स्तर तक उठाने का प्रयास करता है। अत: इस दिशा में लॉक या थॉमस पेन, दोनों ने ही अपने-अपने संदर्भों में अपनी-अपनी प्राथमिकताओं को पूर्ण सिद्धांत बनाने की चेष्टा की थी। वास्तविकता यह है कि हर युग व हर समाज को सदैव नए सिरे से अपने लिए यह तय करना पड़ता है कि वह किन विशिष्ट अधिकारों को अपनाएंगे ताकि वे अधिकार किसी भी संदेह से मुक्त रह सकें। उदाहरण के लिए लॉक ने संपत्ति के अधिकार को प्राकृतिक माना था। हम अब ऐसा बिल्कुल नहीं मानते क्योंकि आज परिस्थितियां बदल चुकी हैं।

अब तक की चर्चा से यह स्पष्ट है कि अधिकार अपनी प्रकृति में पूर्ण अथवा निरंकुश नहीं हो सकते। समाज के सदस्य के रूप में व्यक्तियों का कल्याण वास्तव में उनके वैयक्तिक अधिकारों व

सामाजिक हितों के बीच स्थापित किसी सुखद समझौते में ही निहित है। अधिकारों से संबंधित किसी भी सूची को निर्मित करते हुए यह अनिवार्यत: स्वीकार करना चाहिए कि पूर्ण अथवा अनियंत्रित अधिकार नाम की कोई चीज हो ही नहीं सकती। ऐसी किसी भी स्थिति का परिणाम समाज में अराजकता व अव्यवस्था होगा। अधिकारों की किसी भी प्रभावी प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि उन पर सामाजिक नियंत्रण हो। अमेरिका के संविधान में पहले दस संशोधनों द्वारा सम्मिलित किए गए मौलिक अधिकारों पर एक लंबे समय तक कोई प्रतिबंध नहीं लगाया गया, लेकिन कालांतर में इस व्यवस्था की अव्यवहारिकता समझ में आने लगी। वहां यह अनुभव किया जाने लगा कि इस व्यवस्था के होते हुए सार्वजनिक व्यवस्था बनाए रखना कठिन था। समाज में भ्रष्टाचार का उन्मूलन दुरूह-सा हो गया और उन सबसे अपराध-वृत्ति को बढ़ावा मिलने लगा था। अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय को, जिसे संविधान की व्याख्या का दायित्व प्राप्त है, शीघ्र ही 'निहित शक्ति के सिद्धांत' (Doctrine of Implied Powers) को स्थापित करना पड़ा। इसके अंतर्गत यह स्वीकार किया गया कि राज्य को एक समन्वयकारी अधिकरण के रूप में समान हितों की सुरक्षा के लिए मूल अधिकारों पर उचित प्रतिबंध लगाने का अधिकार प्राप्त है। भारत का संविधान भी मूल अधिकारों पर सीमाएं स्वीकार करता है।

अधिकारों के प्रकार

हमारे अपने युग में नागरिकों के लिए आवश्यक विशिष्ट अधिकारों में पहला अधिकार *व्यक्तिगत स्वतंत्रता* का अधिकार है। यह अधिकार 'कानून के शासन' की धारणा में निहित है। हमारे संविधान की यह मान्यता है कि "कानून द्वारा स्थापित कार्य-विधि के अतिरिक्त किसी भी व्यक्ति की निजी स्वतंत्रता का हनन नहीं किया जाना चाहिए।" व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकार का अर्थ यह नहीं है कि किसी व्यक्ति को कुछ भी करने की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त है। कोई अपराधी- जो सदैव समाज विरोधी मनोवेगों से ग्रस्त रहता है, व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकार का दावा नहीं कर सकता। वास्तव में व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकार का यह अर्थ है कि हमें किसी सुनिश्चित कानून के उल्लंघन की स्थिति में ही दंड मिले और वह दंड भी निष्पक्ष कानूनी जांच-पड़ताल के बाद उचित कानूनी प्रक्रिया पर आधारित हो।

सभ्य समाजों में निष्पक्ष मुकद्मे के बिना किसी भी व्यक्ति की नजरबंदी वास्तव में व्यक्तियों के अधिकारों का हनन ही कहा जाएगा। हमारे संविधान में उल्लिखित 'निवारक नजरबंदी' ऐसा ही प्रावधान है। हालांकि बहुत गंभीर राष्ट्रीय विपत्तियों अथवा युद्ध की स्थितियों में बात दूसरी हो जाती है। कोई भी राज्य अपनी सुरक्षा को खतरे में डालने की अनुमति किसी भी स्थिति में नहीं दे सकता।

दूसरा महत्त्वपूर्ण अधिकार *समानता का अधिकार* है। समानता का यहां दो अर्थों में उल्लेख किया जा रहा है-

- अवसर की समानता और
- कानून के सम्मुख समानता तथा कानूनों द्वारा समान संरक्षण।

जैसा कि पहले चर्चा की जा चुकी है कि पूर्ण समानता का अधिकार संभव नहीं है। पूर्ण समानता न केवल अव्यावहारिक है बल्कि वह वांछनीय भी नहीं है। समानता तो केवल आनुपातिक हो सकती है। इसका यह अभिप्राय है कि समाज में कुछ लोगों के पास अत्यधिक धन होने से पहले सब लोगों को सम्मानजनक जीवन की न्यूनतम आवश्यक सुख

सुविधाएं प्राप्त होगी। हर राज्य का यह कर्तव्य है कि वह अपने समस्त नागरिकों को बिना वर्ग या सामाजिक स्थिति का ख्याल किए ऐसी न्यूनतम सुविधाएं उपलब्ध कराए। सही अर्थों में नागरिक होने की यह पूर्व शर्त है कि हम भुखमरी व बेरोजगारी के भय से मुक्त हों।

कानून के समक्ष समानता का अर्थ है विशेषाधिकार की अनुपस्थिति, व सभी सामाजिक वर्गों पर कानून की समान बाध्यता। देश के कानून तथा न्यायालयों द्वारा शासित प्रक्रिया दुर्बल एवं सबल दोनों ही वर्गों पर समान रूप से प्रभावी होती है। कानून के समक्ष समानता का अर्थ है समान परिस्थितियों में समान व्यवहार। इसका केवल यही अर्थ है कि समान व्यक्तियों से समान व्यवहार किया जाना चाहिए। किंतु राज्य कुछ वर्गीकरण भी कर सकता है। यहां अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के आरक्षण संबंधी कानून का उदाहरण दिया जा सकता है। यह वर्गीकरण हर हाल में तर्कसंगत होना चाहिए और उसे जनकल्याण के अतिरिक्त अन्य किसी मापदंड से न्यायोचित सिद्ध नही किया जाना चाहिए। यदि सबके कल्याण की प्रेरणा पाते हुए कोई कानून समाज के वर्ग-विशेष से कोई सरोकार रखें तो उक्त कानून समानता के सिद्धांत को प्रतिष्ठित करता है।

तीसरा महत्त्वपूर्ण अधिकार, जो नागरिकों को अनिवार्यत: प्राप्त होना चाहिए वह है, *अभिव्यक्ति व भाषण की स्वतंत्रता का अधिकार*। यह अधिकार व्यक्तियों को अपनी शिकायतों को अभिव्यक्त करने का अवसर प्रदान करेगा। साथ ही सार्वजनिक महत्त्व के प्रश्नों पर जनमत संगठित करने में सक्षम हो सकेगा। इसके अतिरिक्त शासन भी ऐसी स्वतंत्र अभिव्यक्ति की स्थिति में मस्तिष्क को समझने में सक्षम होगा। जॉन स्टुअर्ट मिल ने भाषण व अभिव्यक्ति के अधिकार के पक्ष में उत्कृष्ट तर्क प्रस्तुत कर इस बात पर बल दिया था कि संपूर्ण मानव-समुदाय को भी यह अधिकार नहीं है कि वह किसी एक भिन्न मत रखने वाले किसी एक व्यक्ति की भी आवाज़ दबा दे। कौन जानता है कि शायद वही एक व्यक्ति अंतत: सही सिद्ध हो और बाकी सब गलत। सुकरात, ईसा मसीह तथा गेलीलियों के उदाहरण हमें सदैव यह याद दिलाते रहेंगे कि व्यक्ति की अभिव्यक्ति व भाषण की स्वतत्रता पर प्रतिबंध वस्तुत: वैयक्तिक स्वतंत्रता का ही निषेध है। इस निषेध को इस आधार पर न्यायसंगत नहीं ठहाराया जा सकता कि ऐसी अभिव्यक्ति संभवत: ईश-निंदा हो सकती है या समाज के कल्याण के विपरीत हो सकती है।

कुछ विचारकों का मत है कि भाषण व अभिव्यक्ति का अधिकार एक ऐसा अधिकार है जो युद्ध-काल में भी निषिद्ध नहीं होना चाहिए। कोई भी कार्यपालिका जो युद्ध अथवा गंभीर राष्ट्रीय संकट की स्थिति में नागरिकों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति को खुलेआम दबाती है वह अधिकतर अपनी शक्ति का दुरुपयोग भी कर सकती है। दूसरे विश्व युद्ध से पूर्व जर्मनी व इटली को ऐसी ही परिस्थिति का सामना करना पड़ा और वे इस प्रक्रिया में नष्ट हो गए, किंतु यह विचारणीय है कि व्यवहार में सरकार इस अधिकार के प्रयोग को किस सीमा तक प्रतिबंधित कर सकती है। कोई भी सरकार अपने नागरिकों के किसी भी भाग को विध्वंसात्मक प्रचार की अनुमति नहीं दे सकती। सरकार किसी को यह भी अनुमति नहीं दे सकती कि वह युद्ध के समय राष्ट्रीय सेनाओं से यह कहे कि वे युद्ध में भाग न लें। यदि वह ऐसा करने दे तो वह सरकार कहलाने योग्य ही नहीं रहेगी। इसी प्रकार कोई भी सरकार गृह-युद्ध या देश के विघटन की किसी वकालत को भी सहन नहीं कर सकती। राज्य का पहला कर्तव्य तो स्वयं अपनी अखंडता अक्षुण्ण

रखना है। यदि स्वयं राज्य का अस्तित्व नहीं रहा तो वह भाषण व अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को किसी प्रकार जीवित रख सकेगा ? यहां इस बात पर विशेष बल देना प्रासंगिक है कि भाषण व अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का आशय अपमानजनक आरोप लगाना या जनता को अपराध करने के लिए उकसाना नहीं है। यदि इस अधिकार का ऐसा कोई दुरुपयोग किया जाता है तो उससे प्रभावित हर व्यक्ति का यह अधिकार है कि वह उसके समुचित निराकरण का प्रयत्न करे।

चौथा महत्त्वपूर्ण अधिकार है, *काम का अधिकार* तथा पर्याप्त मजदूरी पाने का अधिकार। नागरिकों को यह अधिकार है कि उन्हें उपयुक्त रोजगार मिले। यह राज्य का दायित्व है कि वह उन्हें ऐसा रोजगार सुलभ कराए। रोजगार के अधिकार का अर्थ यह नहीं है कि उसके नाम पर नागरिक किसी व्यवसाय विशेष का दावा कर सकते हैं। इसका अर्थ केवल यह है कि उन्हें समाज में ऐसा लाभप्रद काम मिल सके जिससे वे अपना व अपने आश्रितों का भरण-पोषण कर सकें। इसी आधार पर प्रायः यह कहा जाता है कि यदि किसी सुनिश्चित अवधि तक किसी को रोजगार प्राप्त न हो तो राज्य उसे योग्यता के अनुरूप बेरोजगारी भत्ता दे। पर्याप्त मजदूरी पाने के अधिकार का जन्म इसी अधिकार से ही हुआ है। इस अधिकार का भी यह अर्थ निकालना गलत होगा कि सभी को आय की समानता प्राप्त हो। इसका अभिप्राय तो समानता के सामान्य सिद्धांतों से अनुरूपता स्थापित करना ही है। काम का अधिकार व्यक्तियों द्वारा प्रस्तुत एक ऐसा दावा है जिससे वे समाज में अपना सुनिश्चित स्थान बना सकते हैं और इस स्थान के अनुरूप अपना कार्य संपादित कर सकते हैं।

नागरिकों का पाचवां महत्त्वपूर्ण अधिकार पर्याप्त *स्वास्थ्य सुविधाएं* प्राप्त करना है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि राज्य हमें समस्त रोगों से मुक्ति दिला सकता है। ऐसी मुक्ति तो हमें स्वयं हमारी स्वास्थ्य साधना से ही मिल सकती है। यदि पक्षाघात से पीड़ित कोई व्यक्ति राज्य द्वारा दी जाने वाली स्वास्थ्य सुविधाएं लेने से इंकार कर दे तो राज्य को इसके लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता। स्वास्थ्य संबंधी अधिकार का सहज अर्थ यही है कि किसी भी व्यक्ति को जो चुस्त-तंदुरुस्त रहने का इच्छुक हो, समुचित स्वास्थ्य चिकित्सा सुविधाएं उपलब्ध होनी ही चाहिए। राज्य का यह दायित्व है कि वह सभी को पर्याप्त चिकित्सा व उपचार की सुविधाएं उपलब्ध कराए। राज्य को यह सुनिश्चित करना होता है कि गरीब रोगियों की चिकित्सा में उपेक्षा नहीं होगी, उनके इलाज में कोई अकुशलता नहीं होगी। राज्य का यह भी दायित्व है कि वह संक्रामक रोगों के फैलाव को रोकने के पर्याप्त उपाय करे। राज्य टीके लगवाकर ऐसा प्रभावी उपाय कर सकता है।

समुचित शिक्षा का अधिकार मानव विकास का एक अन्य महत्त्वपूर्ण घटक है। नागरिकों को ऐसे साधन सुलभ होने चाहिए जिनसे लाभान्वित होकर वे सार्वजनिक विषयों की चर्चा में रुचि ले सकें तथा देश की सामाजिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक प्रक्रियाओं की बुद्धिमत्तापूर्वक मांग कर सकें, किंतु शिक्षा के अधिकार का यह अर्थ नहीं है कि सबको समान शिक्षा प्राप्त हो। स्पष्टतः लोग क्षमताओं व अभिरुचियों की दृष्टि से भिन्न होते हैं और इसलिए वे समान रूप से शिक्षा के अधिकारी नहीं हो सकते। इस अधिकार का यह भी अर्थ नहीं है कि समाज में हर किसी को विश्वविद्यालय शिक्षा प्राप्त हो ही, चाहे वह इसके योग्य हो अथवा नहीं। समाज के अनुपयुक्त व अनिच्छुक सदस्यों को पढ़ाना वास्तव में मानव संसाधनों का दुरुपयोग ही होगा। आवश्यक यह है कि समाज में हर किसी को न्यूनतम शिक्षा सुविधा प्राप्त हो जो

उनकी नागरिकता को सार्थक बनाए और वे समाज के आवश्यक कार्यों को संपन्न कर सकें।

अन्य अधिकारों में राज्य के मामलों में भागीदारी का अधिकार विशेष उल्लेखनीय है। जिसके अंतर्गत मतदान व चुनाव लड़ने के अधिकार है। ऐसे अधिकारों में संघों का गठन तथा विश्राम के पर्याप्त घंटों का प्रावधान भी उल्लेखनीय है। किसी राज्य को वास्तविक अर्थों में एक राजनीतिक समुदाय बनाने के लिए अधिकार नितांत आवश्यक हैं। इन अधिकारों की मदद से ही हम सक्रिय नागरिक बन सकते हैं। प्र इन अधिकारों की मान्यता का अनुपात किसी राज्य की प्रकृति के अनुसार घटता-बढ़ता रह सकता है। तथ्यतः, राज्य अक्सर इन अधिकारों को प्राथमिकता के क्रम में ही समायोजित करता है। यह प्राथमिकता संबंधित समाज की विशिष्ट प्रकृति व समस्याओं पर निर्भर करती है। किसी ऐसे समाज में जहां व्यापक स्तर पर गरीबी हो, आर्थिक अधिकारों को राजनीतिक अधिकार पर वरीयता दी जाएगी। इसी प्रकार आर्थिक दृष्टि से विकसित किसी समाज में राजनीतिक अधिकारों पर अधिक बल देने की आवश्यकता प्रतीत होगी। सोवियत संघ जैसे आर्थिक दृष्टि से विकसित कुछ साम्यवादी देशों में राजनीतिक जीवन व तत्संबंधी प्रक्रियाओं को उदार बनाने पर जो अत्यधिक बल दिया जा रहा था वह इस बात का प्रमाण है कि कोई भी समाज राजनीतिक अधिकारों को मान्यता प्रदान किए बिना एक सुदृढ़ एवं स्थायी सामाजिक संगठन की स्थापना नहीं कर सकता।

वास्तव में, किसी सरकार का स्वरूप महत्त्वपूर्ण नहीं होता बल्कि महत्त्वपूर्ण होता है उसके मूल भाव व उपलब्धियों का, उसके नागरिकों को उनके वास्तविक जीवन प्रसंगों में उपलब्ध सुख की सीमा का तथा सरकारी उद्देश्यों के प्रति विकसित जनविश्वास का। यह संभव है कि किसी राज्य में लोगों को मतदान का अधिकार प्राप्त हो और फिर भी वह राज्य नितांत कुशासन का शिकार हो। यदि कोई राज्य, उक्त वर्णित अधिकारों को अपने नागरिकों के लिए चरितार्थ करे, और उनको निष्ठापूर्वक लागू करे तो अन्य समस्त अधिकार स्वतः प्राप्त हो जाएंगे।

जब तक कोई राज्य अपनी जनता को सुखी रख समर्थ होता है तब तक यह इतना महत्त्वपूर्ण होता कि उसकी जनता अधिकार-पत्र के रूप में अधिकारों का या उनका उपभोग करती है अथवा नहीं। इतिहास में अनेक ऐसे उदाहरण उपलब्ध हैं जहां संविधान में निरूपित अधिकार-पत्र के रूप में नागरिकों को अधिकार सुरक्षित कराए गए हैं फिर भी व्यवहार में वे अनुपलब्ध ही रहे हैं। यह हो सकता है कि संविधान में अधिकारों के उल्लेख से अधिकारों को अधिक मान्यता अवश्य प्राप्त होती है लेकिन इससे उसकी उपलब्धि सुनिश्चित नहीं होती। हिटलर और मुसोलिनी अपने-अपने देशों में तानाशाह के रूप में प्रकट हुए, यद्यपि इन देशों के संविधान अत्यधिक लोकतांत्रिक थे। इन अधिकारों की वास्तविक प्राप्ति के लिए प्रबुद्ध जनमत और शिक्षित जनता का होना एक पूर्व शर्त है।

अब प्रश्न उठता है राजनीतिक आज्ञाकारिता का। क्या लोगों को एक अवैधानिक सत्ता के प्रति आज्ञाकारी होना चाहिए ? वास्तव में स्वेच्छाचारी एवं तानाशाही शासन के विरोध में प्रतिकार करने का अथवा ऐसी सत्ता का प्रतिरोध या अवज्ञा करने का अधिकार सबसे अधिक मौलिक और अंतर्निहित अधिकार है। कोई अच्छी से अच्छी सरकार भी इस अधिकार को नहीं छीन सकती। जनता के हाथों में यह अंतिम प्रभावी सुरक्षा उपाय है। राज्य हित अंततः समाज और उसके सदस्यों के हितों की पूर्ति पर ही आधारित है। दोनों राज्य के प्रति आवश्यक रूप से एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। राज्य के प्रति

हमारा कर्तव्य आखिरकार किसी ऐसे राज्य के प्रति ही है जो हमारे जीवन के संरक्षण व अनुरक्षण में समर्थ हो, जो हमारे विकास की समुचित स्थितियों को सुरक्षित करता है। लॉक का यह तर्क था कि राज्य एक न्यास (ट्रस्ट) है और इस कारण उसे जीवन, स्वतंत्रता तथा संपत्ति की रक्षा करना ही है। यदि वह उस कार्य को संपादित करने में विफल होता है जिसके लिए उसे शक्ति प्रदान की जाती है या वह उन साध्यों की उपलब्धि में असमर्थ रहता है जिनसे सामान्य सुख सुलभ कराया जा सके तो ऐसी स्थिति में वह सामान्य आज्ञापालन का अपना दावा भी खो देता है। ऐसी परिस्थितियों में नागरिकों का यह दायित्व हो जाता है कि वे प्रभावी सत्ता का प्रतिरोध करें ताकि उसको बदला जा सके और किसी बेहतर सरकार को उसका स्थान दिलाया जा सके। कोई भी राज्य तब तक सहज निरंतरता के प्रति आश्वस्त नहीं हो सकता जब तक कि समाज के इस अधिकार (अवज्ञा के अधिकार) को अंतिम रूप से सुरक्षित व पवित्र अधिकार के रूप में मान्यता नहीं दी जाती। निसंदेह समाज द्वारा ऐसे अधिकार को मान्यता देने में कई खतरे या जोखिम विद्यमान होते हैं। ऐसे खतरों को यथासंभव कम करने या दूर करने के लिए यह जरूरी है कि राज्य ऊपर वर्णित सुरक्षा उपायों के लिए आवश्यक सावधानी बरते।

अधिकार व कर्तव्य के बीच संबंध

इस बात पर पर्याप्त बल देना आवश्यक है कि अधिकारों के साथ-साथ उनके कर्तव्य व दायित्व भी जुड़े हुए हैं। इन दोनों में सह-संबंध व्याप्त है। नागरिकों के अधिकार व कर्तव्य वास्तव में एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इन दोनों में दो प्रकार के संबंध दिखाई देते हैं।

प्रथम, कोई भी समाज पारस्परिकता के सिद्धांतों पर ही क्रियाशील हो सकता है। उदाहरण के लिए हमारे अधिकारों के संदर्भ में समाज का यह दायित्व है कि वह उन्हें यथोचित सम्मान दे। इसके साथ ही हमारा भी कर्तव्य बन जाता है कि हम दूसरों के ऐसे ही अधिकारों को समान मान्यता प्रदान करें। समाज इस सिद्धांत पर कार्य करता है कि "जो पाता है वह देता है और जो देता है वह पाता भी है।" वास्तव में हमारा अधिकार समाज के सभी सदस्यों के सामूहिक कल्याण का एक अटूट हिस्सा है। इस कारण किसी अधिकार विशेष संबंधी हमारे उपभोग का अनुपात अनिवार्यत: इस तथ्य पर टिका होता है कि समाज के अन्य सदस्य इस अधिकार का उतना ही उपभोग कर पाते हैं अथवा नहीं। हमारे अधिकार इस अर्थ में समाज के अन्य सभी सदस्यों के उक्त अधिकार से अटूट रूप से जुड़े हुए है। एक पक्ष दूसरे के बिना अस्तित्व में रह ही नहीं सकता। किसी समाज में जहां लोग अपने कर्तव्यों पर उतना ध्यान नहीं देते जितना कि अपने अधिकारों पर, वह समाज कभी-कभी विघटित हो जाता है। दूसरे व्यक्तियों के मूल्य पर उनके स्वयं के अधिकारों को अक्षुण्ण रखने संबंधी उनके निरंतर प्रयास वास्तव में उस समाज को एक ऐसे जंगल के रूप में बदल देते हैं जिसमें अंतत: 'बल का कानून' ही हावी हो जाता है। हर कोई अपने अधिकारों का समान उपभोग कर सके, इसके लिए यह आवश्यक है कि हम दूसरे के प्रति अपने दायित्व व कर्तव्यों को सहज स्वीकार करें। हम यह बिल्कुल नहीं कह सकते कि हम तो हर प्रकार से मुक्त रहेंगे, जबकि अन्य सभी लोग अपने दायित्वों के बंधनों से जकड़े रहेंगे। ऐसी कोई भी मान्यता न केवल संगतहीन है बल्कि अमानवीय भी है।

द्वितीय, अधिकारों व कर्तव्यों के तर्क का यह भी निहितार्थ है कि यदि राज्य के विरुद्ध हमारे

कोई दावे हैं तो उसकी समृद्धि की दिशा में हमारे कुछ उत्तरदायित्व भी हैं। इन दायित्वों का निर्वाह हम ऐसे कार्यों द्वारा करते हैं जो सामाजिक दृष्टि से उपयोगी होते हैं। राज्य उन स्थितियों का निर्माण करता है जिनमें हम अपने आपको सर्वाधिक उपयुक्त रूप से पा सकते हैं ; अर्थात अपने व्यक्तित्व व क्षमता का सर्वोत्तम विकास कर सकते हैं। इसके बदले हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम इन स्थितियों का सर्वोत्तम लाभ उठाएं और उनको अपना सर्वोत्कृष्ट योगदान दें। समाज को हमारा सबसे अच्छा योगदान केवल यही हो सकता है कि हम जीवन में अपने निर्दिष्ट स्थान पर रहते हुए अपना उत्तरदायित्व निभाएं, अपनी सामाजिक जिम्मदारियों को स्वीकार करें तथा समाज के अन्य सदस्यों के अधिकारों को अपना पूर्ण सम्मान दें। समाज में कोई भी व्यक्ति प्रधानमंत्री के पुत्र अथवा कवि के रूप में ही अपना योगदान दे यह आवश्यक नहीं है। आवश्यक यह है कि वह अपने आपको स्वयं पहचानते हुए अपनी क्षमता व सामर्थ्य के आधार पर ईमानदारी से समाज को अपना योगदान । हममें से हर एक का यह कर्तव्य है कि हम हर स्थिति में अपने व्यक्तित्व का विकास करें ताकि हम समाज को सर्वोतम योगदान दे सकें। यह संभव है कि हम जीवन में पर्याप्त सफलता न पा सके लेकिन यदि हम समाज के प्रति अपने सक्षम योगदान की दिशा में गंभीर व निष्ठावान प्रयासों का पर्याप्त संकेत भी दे देते है तो हमारा कर्तव्य पूरा हो जाता है। हर नागरिक को उन स्थितियों और सवालों पर अपना मूल्यवान निर्णय देने के लिए तत्पर रहना चाहिए जिनका वह दैनिक जीवन में लगातार सामना करता है। उसे अनिवार्यत: राज्य को अपना कर (Tax) देना चाहिए तथा किसी भी स्थिति में समाज के अन्य सदस्यों के समान अधिकार क्षेत्र में हस्तक्षेप से बचना चाहिए। जब तक राज्य व्यक्तियों के सुख के अनुकूल वातावरण बनाने में मदद करता है तब तक नागरिकों को भी एक कर्तव्य के रूप में कानून व व्यवस्था स्थापित करने में राज्य की आवश्यक सहायता करनी चाहिए। उनसे यह भी अपेक्षा की जाती है कि वे ईमानदारी से अपने सार्वजनिक दायित्वों का पालन करें, अपने देश को मजबूत बनाने में कोई कसर न उठा रखें और आवश्यकता पड़ने पर अपने देश की रक्षा के लिए तैयार रहें।

पारस्परिकता के बंधन में बंधे ये दायित्व व्यक्तियों के अधिकारों पर कोई पाबंदी नहीं लगाते। इसके विपरीत, वे उन्हें अधिक पूर्णता तथा अधिक वास्तविकता प्रदान करते हैं। यह सोचना कि हमारे अधिकार हमारे कर्तव्यों से अलग हो सकते हैं वास्तव में कोरा स्वार्थी होना है। समाज में रहते हुए जब हम सामाजिक दृष्टि से कोई उपयोगी कार्य करते हैं तो हमारा वही कार्य हमारे समाज को समृद्ध करता है। ऐसे राज्य में जहां नागरिक अपने अधिकारों की परवाह अधिक करते हैं और कर्तव्यों की कम, वहां खतरनाक स्थिति पैदा हो सकती है; वहां अराजकता उत्पन्न हो सकती है जो अंतत: राज्य को विघटित कर सकती है। हमारे अधिकारों के समुचित संरक्षण प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि पहले हम समाज को इस बात के प्रति आश्वस्त करें कि उन अधिकारों की सुरक्षा प्रदान करके समाज हमें वास्तव में लोककल्याण से प्रेरित भागीदारी के लिए ही तैयार कर रहा है। हमें समाज को यह समझाना ही होगा कि जब तक समाज हमारे अधिकारों की सुरक्षा नहीं करता तो वास्तव में वह हमें अभीष्ट मानव स्तर से गिरा देता है और उस सीमा तक वह हमें सामाजिक कल्याण को समृद्ध करने के अवसर से वंचित कर देता है। समाज के सदस्यों में व्याप्त वैयक्तिक कार्यों

व सामाजिक कल्याण के उचित समीकरण द्वारा ही हम अधिकार के किसी वास्तविक सिद्धांत की रचना कर सकते हैं और समाज को उसकी स्थापना का ठोस आधार मिल सकता है।

अभ्यास

1. अधिकार किसे कहते हैं ? अधिकार और दावे में क्या अंतर है ?
2. अधिकार व्यक्ति की उन्नति के लिए क्यों आवश्यक हैं ?
3. क्या अधिकार असीम होते हैं ? अपने उत्तर के समर्थन में तर्क दीजिए।
4. मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास में शिक्षा की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
5. नागरिक किन परिस्थितियों में राज्य की अवज्ञा कर सकता है ?
6. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए :
   (क) समानता का अधिकार।
   (ख) भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता।
   (ग) काम करने का अधिकार।

अध्याय 8

राज्य गतिविधि की बदलती प्रकृति

व्यक्ति जब दूसरे व्यक्तियों के संपर्क में आता है तो किसी न किसी प्रकार का संघर्ष होना स्वाभाविक है। समाज में यह संघर्ष अव्यवस्था एवं भ्रम की स्थिति पैदा न कर दे, इस हेतु एक ऐसी संस्था की आवश्यकता उत्पन्न होती है जो कानून एवं व्यवस्था को सुनिश्चित कर सके तथा सामाजिक संबंधों में सौहार्द बनाए रख सके ; वह संस्था 'राज्य' है। हमारे समाज विरोधी आवेगों को नियंत्रित करने एवं समाज में विभिन्न दावों में सामंजस्य पैदा करने हेतु हमें राज्य की आवश्यकता होती है ताकि सामाजिक संबंधों में सौहार्द्रता हो सके। राज्य, उन बाह्य दशाओं को उत्पन्न करने के लिए अस्तित्व में आता है जो मानव व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक होती हैं। राज्य की भूमिका मानव शरीर में पेट की भूमिका के समान है। यह सत्ता के प्रतिरूप को अभिव्यक्त करता है। यह विभिन्न एवं परस्पर विरोधी हितों में सामंजस्य पैदा करता है। यह वस्तुओं एवं सेवाओं के शांतिपूर्ण विनिमय को सुनिश्चित करता है।

मानव व्यवहार को नियंत्रित करने के लिए राज्य कानूनों एवं नियमों का निर्माण करता है। कानूनों के उल्लंघन की स्थिति में वह उनके अनुपालन के लिए सदस्यों को बाध्य कर सकता है। समाज में राज्य के दावें किसी भी अन्य के दावों से उच्चतर होते है। आर. एम. मेकियावर के शब्दों में "राज्य एक ऐसा संघ है जो कि सरकार के जारी कानूनों द्वारा कार्य करता है। इस उद्देश्य को वह दमनकारी शक्तियों के साथ संपन्न करता है। निश्चित भूभाग में समुदाय के अंतर्गत सामाजिक व्यवस्था की सर्वव्यापकीय बाह्य दशाओं को बनाए रखता है।" राज्य का प्रारंभिक कर्तव्य नागरिकों के अधिकारों की आंतरिक खतरे या गड़बड़ी से तथा युद्ध, आदि जैसे बाह्य खतरों से सुरक्षा प्रदान करना एवं शांति स्थापित करना है। इसे अपने सदस्यों के विकास हेतु भी कार्य करना होता है। राज्य के इन्हीं कार्यों के कारण प्राचीन काल में अरस्तू ने कहा था कि 'राज्य जीवन के लिए अस्तित्व में आया, और अच्छे जीवन के लिए सतत विद्यमान है।'

राज्य गतिविधि की बदलती अवधारणा

बीसवीं शताब्दी में विज्ञान एवं तकनीकी विकास द्वारा व्यापक सामाजिक परिवर्तन आया है। इन सभी परिवर्तनों के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय संप्रभुता तथा आर्थिक गतिविधियों के नियंत्रण हेतु राज्य एवं सरकार के संपूर्ण तंत्र पर एक नए परिप्रेक्ष्य की आवश्यकता होती है। हमें एक नया दृष्टिकोण विकसित करना होगा, जिसमें व्यक्तिवाद एवं समूहवाद दोनों को समाहित किया जा सके तथा आधुनिक विश्व की दशाओं के अनुरूप उन्हें व्यवस्थित भी किया जा सके।

राज्य की व्यवस्था केवल व्यवस्था मात्र के लिए नहीं है। जैसा कि कौटिल्य ने कहा है कि यह सुरक्षा, संरक्षण, विकास एवं वितरण के लिए भी है। यह

नागरिकों को सुरक्षा प्रदान करता है, प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण करता है, उनके विकास करने हेतु कदम उठाता है तथा नागरिकों के मध्य राष्ट्रीय संपदा का वितरण करता है। 'व्यवस्था' की अवधारणा का विस्तार संरक्षण में होता है, संरक्षण का विस्तार जिस किसी को भी संरक्षित किया गया है उसके विकास में तथा जो विकसित किया गया है उसके उचित बंटवारे में हो जाता है। 19वीं सदी में स्थायित्व एवं सुरक्षा प्रदान करना राज्य का मुख्य कार्य माना जाता था। साथ ही निजी उद्यमियों को देश में एवं विदेश में समर्थन प्रदान करने की भी आशा की गई थी।

आज राज्य के कार्य भिन्न हैं। इनमें कानून एवं व्यवस्था और विदेश नीति-निर्माण को आज भी सम्मिलित किया जाता हैं। किंतु इनके अतिरिक्त इन कार्यो में व्यापक सेवाओं एवं उद्योगों के प्रबंधन एवं प्रशासन को भी सम्मिलित किया जाता है। औद्योगिक क्रांति, राष्ट्र राज्य के उद्भव तथा नीतियों में जनसहभागिता के परिणाम-स्वरूप राज्य की भूमिका का विस्तार हुआ है। यद्यपि जब राज्य संरचना पूर्ण विकसित नहीं थी, लोग विकास की आवश्यक परिस्थितियों के निर्माण के लिए राज्य की ओर नहीं देखते थें। किंतु अब लोग यह आशा करते हैं कि राज्य भूमि बटवारें, संपत्ति, आय, प्रजाति एवं रंग के कारण उत्पन्न असमानताओं को खत्म करें। इंग्लैंड की महान औद्योगिक क्रांति तथा अमेरिका में 1929-1933 की 'महामंदी' ने गंभीर आर्थिक संकट पैदा कर दिया था। प्रथम स्थिति के कारण संपत्ति कुछ हाथों में केंद्रित हो गई। इससे जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग गरीब हो गया और यह गरीब वर्ग अपने श्रम की बिक्री के लिए बाध्य हो गया। दूसरी स्थिति में आर्थिक संकटों ने व्यापक बेरोजगारी को बढ़ावा दिया। निजी संपत्ति, दुर्बल राज्य और स्थानीय कार्यक्रम व्यापक समस्याओं का सामना करने में बहुत ही अपर्याप्त थे। इसलिए राज्य को व्यापक राहत कार्य करने पड़े थे।

राज्य के अनिवार्य कार्य सदा लगभग एक जैसे ही रहे हैं, किंतु विभिन्न कालों में विभिन्न गतिविधियों को प्रमुखता दी गयी है। 19वीं सदी में राज्य को प्राथमिक रूप से कानून एवं व्यवस्था के लिए उत्तरदायी एक संगठन के रूप में देखा गया। यह प्रारंभिक उदारवाद का समय था, जिसमें उदारवादियों ने स्वतंत्र बाजार एवं अधिकतम व्यक्तिगत स्वतंत्रता की वकालत की। उन्होंने राज्य को एक बुराई के रूप में माना, किंतु प्रतियोगी समाज के आधार को बनाए रखने के लिए राज्य आवश्यक माना गया जो कानून एवं व्यवस्था बनाए रखने के लिए जरूरी था। ये उदारवादी, स्वतंत्र बाजार, स्वतंत्र व्यापार तथा आर्थिक मामलों में राज्य के अहस्तक्षेप के समर्थक थे। राज्य का प्राथमिक कर्तव्य यह सुनिश्चित करना था कि नागरिक अपनी निजी वस्तुओं एवं अपनी खुशी के लिए एक-दूसरे को क्षति न पहुंचाए। यह मत अहस्तक्षेपकारी *(Laissez Faire)* राज्य के सिद्धांत के रूप में जाना जाता है। इसका अर्थ है - पितृवत सरकार की अनुपस्थिति तथा व्यापार एवं वाणिज्य की स्वतंत्रता।

कल्याणकारी राज्य

राज्य गतिविधि के बारे में एक अन्य मत है। जिसमें राज्य अहस्तक्षेप सिद्धांतवादियों की भांति एक सीमित कार्य करने की संस्था नहीं माना जाता है। इस सिद्धांत में राज्य को सभी के कल्याण के लिए समाज को रूपांतरित करने के एक अभिकरण के रूप में माना जाता है। अर्थात् इस प्रक्रिया में राज्य सार्वजनिक कल्याण के लिए एक अभिकरण बन जाता है। जॉन मेनार्ड कीन्स (1883-1946) द्वितीय विश्वयुद्ध के समय की घटनाओं के संदर्भ में इस विचार के अग्रदूत रहें हैं। अधिक आग्रह इस बात पर दिया गया है कि राज्य को जनस्वास्थ्य एवं गरीबी उन्मूलन के क्षेत्र में सक्रिय भूमिका का निर्वाह करना चाहिए। यह आशा की गई

कि राज्य द्वारा ऐसी मूलभूत सुविधाओं को विकसित किया जाए जिससे जनता द्वारा राज्य के मामलों में सक्रिय सहभागिता हेतु प्रत्येक व्यक्ति को न्यूनतम शिक्षा की प्राप्ति हो सके। साथ ही, राज्य को सभी नागरिकों के लिए काम के अधिकार, आय को अर्जित करने के अधिकार तथा आवास के अधिकार को सुनिश्चित करना चाहिए। राज्य इस प्रकार नियंत्रक, प्रोत्साहक, एवं एक प्रबंधक सब कुछ बन जाता है। सभी को न्याय प्रदान करने के लिए राज्य निजी उद्यमों को नियंत्रित करता है। यह कृषि को आर्थिक सहायता (सब्सिडी) प्रदान करता है एवं भूमि-सुधार हेतु कार्य करता है। यह सार्वजनिक क्षेत्र एवं निजी क्षेत्र में उद्यम स्थापित करके उद्योगों को व्यवस्थित करता है।

स्वतंत्रता उपरांत, भारतीय राज्य ने हमारी पंचवर्षीय योजनाओं के अंतर्गत इन्हीं सिद्धांतों के आधार पर कार्य किया है। हमनें समाज में असमानताओं को कम करने, सुरक्षा का वातावरण पैदा करने तथा सभी को राष्ट्रीय न्यूनतम स्तर सुनिश्चित करने के व्यापक प्रयास किए हैं। 'गरीबी हटाओं' एवं 'सभी के लिए रोजगार' जैसे नारे आम हो गए है। राज्य ने अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति सहित दुर्बल अल्प वर्ग के सामाजिक अधिकारों की सुनिश्चितता के लिए अतिरिक्त प्रयास किए हैं। बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया। प्रमुख उद्योग सार्वजनिक क्षेत्र में स्थापित किए गए। इस प्रकार राज्य देश में सबसे बड़ा नियोक्ता बन गया। निजी क्षेत्र को व्यापक राज्य नियंत्रणों के अधीन कर दिया गया, परंतु राज्य नियंत्रित अर्थव्यवस्था का अनुभव इनकी कमियों को भी उजागर करने लगा। यह अनिवार्यत: नौकरशाहीकरण एवं लालफीताशाही की ओर अग्रसर करता है। उदाहरण के लिए भारत में इसे 'लाइसेंस-परमिट राज' के रूप में जाना जाता है। यह प्रोत्साहनों, अवसरों एवं उत्तरदायित्वों को दबा देता है, एवं स्वैच्छिक गतिविधियों को बढ़ावा देना बहुत कम हो जाता है। साथ ही राज्य से अपेक्षाएं बढ़ जाती हैं। परिणामस्वरूप राज्य पर बहुत ज्यादा दबाव पड़ने लगता है। राज्य से अधिकतम लाभ की मांग के लिए प्रत्येक हित एक निहित स्वार्थ में बदल जाता है। प्रारंभिक वर्षों में विभिन्न वर्गों को रियायतें देने की कुछ क्षमता राज्य के पास थी। साथ ही नेतृत्व वर्ग को भी, उनके स्वतंत्रता आंदोलन में सहभागिता के कारण, बहुत प्रतिष्ठा प्राप्त थी, किंतु जैसे ही पुराना नेतृत्व ओझल होने लगा वैसे ही बढ़ती हुई मांग का सामना करने की राज्य की क्षमता घटने लगी। राजनीतिक व्यवस्था में संकट के चिह्न दिखलाई पड़ने लगे। व्यक्ति के निजी पहल की क्षमता दमित हो गयी और राज्यतंत्र भ्रष्ट हो गया।

राज्य गतिविधि की प्रकृति के तृतीय मतानुसार, आज, निजी उत्पादन एवं सामाजिक उपयोग पर जोर दिया जाता है। मान्यता यह है कि राज्य को स्वयं आर्थिक गतिविधियों का संचालन तथा इसे केवल मददगार या नियंत्रक के रूप में ही कार्य करना चाहिए। एक तरफ राज्य एवं निगमों तथा दूसरी तरफ राज्य एवं कृषि के मध्य एक नए संबंध उत्पन्न हो रहे हैं। यह सोच बढ़ती जा रही है कि जितना ज्यादा हम निजी प्रतियोगिता एवं पहल को बढावा देगें, हमारी अर्थव्यवस्था का उतना ही विकास होगा। प्रतियोगिता को नियंत्रक एवं मददगार राज्य के विचार के साथ जोड़ा जाए। यह राज्य का दायित्व है कि वह यह सुनिश्चित करे कि प्रतियोगिता की दशाएं एवं शर्तें तथा सामाजिक-आर्थिक क्रियाएं, न्याय संगत एवं निष्पक्ष हों। जॉन रॉल्स ने अपनी पुस्तक *ए थियोरी ऑफ जस्टिस* (A Theory of Justice) में इन मान्यताओं को विशेषरूप से सामने रखा है। इस प्रारूप की सफलता की एक मूल शर्त यह है कि राज्य को सभी के लिए समान अवसर सुनिश्चित करने चाहिए। पूर्व व्यवस्था ने आर्थिक सहायता (सब्सिडी) एवं आरक्षण के संदर्भ में इसे प्राप्त करने का प्रयास किया। इसने राज्य तथा उसके निर्णयों से

प्रभावित होने वालों, विशेषकर कमजोर वर्ग के मध्य, संरक्षक-ग्राहक (patron-client relationship) संबंध पैदा किए। इस नए माडल का जोर इस बात पर है कि राज्य को शिक्षा एवं स्वास्थ्य में अधिकतम निवेश करना चाहिए। ये ऐसी आधारभूत आवश्यकताएं हैं जिनके अभाव में अवसर की समानता नहीं हो सकती, जो कि एक निष्पक्ष एवं न्यायपूर्ण समाज के लिए बहुत ही आवश्यक है। साथ ही यह भी महसूस किया जा रहा है कि राज्य को यह भी सुनिश्चित करना चाहिए कि आर्थिक विकास हमारे पर्यावरण को विध्वंस न कर सकें। यह वास्तव में राज्य का दायित्व है कि वह अपने सभी नागरिकों को मूल सुरक्षा कवच प्रदान करे।

उपर्युक्त पृष्ठभूमि में राज्य गतिविधि से संबंधित एक अन्य मत हाल ही में उजागर हुआ है। यह मत एक ओर तो वैश्वीकरण और दूसरी ओर लोककल्याणकारी अर्थव्यवस्था के अंतर्गत श्रमिकों में व्याप्त निराशा के परिणामस्वरूप विकसित हुआ है। विकासशील देशों की अर्थव्यवस्था को विश्व-अर्थव्यवस्था से भी एकीकृत करने का अभियान चला है। ऐसा माना जाता है कि लोककल्याणकारी या समाजवादी अर्थव्यवस्था की अपेक्षा बाजार अर्थव्यवस्था, आर्थिक विकास को बेहतर ढंग से प्रेरित कर सकती है। आर्थिक विकास में गति की तीव्रता धीरे-धीरे गरीबी को कम कर सकती है। इससे बेहतर राजनीतिक प्रबंध भी संभव हो सकेगा।

वैश्वीकरण

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, कुछ वर्षों से वैश्वीकरण की प्रक्रिया चल रही है जिसने राज्य गतिविधि की प्रकृति को प्रभावित किया है।

वैश्वीकरण भिन्न-भिन्न लोगों के लिए भिन्न-भिन्न अर्थ रखता है। कुछ लोगों के लिए यह साहसपूर्ण नई दुनिया है जहां कोई भी अवरोध नहीं है। दूसरों के लिए इसका तात्पर्य नव-उपनिवेशवाद की प्रक्रिया से है, जहां अंततः संपन्न देश ही प्रभुत्व स्थापित कर लेंगे।

उपर्युक्त दोनों विचार दो विपरीत छोर पर हैं। वैश्वीकरण वह प्रक्रिया है जिसमें विचारों, सूचनाओं, तकनीकियों, वस्तुओं और सेवाओं के आदान-प्रदान से अर्थव्यवस्थाएं प्रभावकारी ढंग से समाहित होती हैं। यह हाल में हुई प्रौद्योगिक क्रांति की उपज है जो संचार-गति की तीव्रता के परिणामस्वरूप पूंजी, वस्तुओं एवं सेवाओं की गति में तीव्रता सन्निहित करती है। वैश्वीकरण का सार है– 'संबंधता'। इस प्रकार के एकीकरण के अनेक आयाम हैं– सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं आर्थिक।

वैश्वीकरण के संबंध में कई आशंकाएं हैं। अधिकांश आशंकाएं इस संभावना से उठती हैं कि सांस्कृतिक एवं सामाजिक समाकलन, स्थानीय रीति-रिवाज एवं परंपराओं को खतरे में डाल सकती है, किंतु वर्तमान युग में इस प्रकार के खतरे से बचा नहीं जा सकता; क्योंकि पूंजी और वित्त, वस्तुओं और सेवाओं के आर्थिक समाकलन का प्रभाव, जो प्रौद्योगिकी का परिणाम है, सर्वत्र व्याप्त है।

यहां यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि वैश्वीकरण कोई नया तथ्य नहीं है। इसकी शुरुआत काफी पहले हो चुकी थी। सन 1870 और 1940 के बीच व्यापार के क्षेत्र में आर्थिक दृष्टि से तीव्र एकीकरण हो रहा था, किंतु अंतर्युद्धकाल में स्थानीय उद्योगों की रक्षा के लिए राज्य द्वारा सीमा शुल्क के अवरोध निर्मित किए गए। फिर भी प्रौद्योगिकी की तीव्र गति ने राज्यों के बीच अंतःक्रिया को हाल में पुनः बढ़ावा दिया है। वास्तव में अधिकांश अर्थशास्त्रियों के मत में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार, विकासशील देशों के साथ ही सामान्यतः सभी देशों के लिए भी लाभकारी है। उदाहरण के लिए विदेशी पूंजी के प्रवाह ने पूर्वी एशियाई अर्थव्यवस्था पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाला है।

अगर विकासशील देश वास्तव में वैश्वीकरण प्रक्रिया से पूरा लाभ उठाना चाहते हैं तो उन्हें विभिन्न प्रकार की भूमिका निभाने के लिए अपने को तैयार करना होगा। उन्हें यह आश्वस्त करना होगा कि उनकी अर्थव्यवस्था पूर्ण क्षमता को प्राप्त कर सके। उन्हें विदेशी मुद्रा के आगमन एवं निर्गमन को भी नियंत्रित करना होगा ताकि अचानक अस्थिरता उत्पन्न हो जाने से अर्थव्यवस्था में कोई संकट न उपस्थित हो जाए, जैसा कि हाल ही में पूर्वी-एशियाई अर्थव्यवस्था में हुआ था। वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने विश्व व्यापार संगठन (WTO) को जन्म दिया है जिसे स्वतंत्र एवं निष्पक्ष आर्थिक क्रियाकलापों के लिए एक समुचित ढांचा विकसित करने का उत्तरदायित्व सौंपा गया। यद्यपि विकसित देशों ने मुक्त व्यापार का समर्थन किया है, तथापि वे सदा 'निष्पक्ष' नहीं रह सके हैं क्योंकि बहुत सारे उत्पादों पर उनके व्यापार-शुल्क की सीमाएं अपेक्षाकृत अधिक ऊंची रही हैं। उदाहरणार्थ, कुछ विकसित देशों में मुख्य खाद्य-उत्पादों पर 'व्यापार-शुल्क सीमा' शत-प्रतिशत से भी अधिक है।

कुछ भी हो, चूंकि वैश्वीकरण को प्रौद्योगिक प्रगति से जोड़ा गया है, अत: इसका होना अपरिहार्य है। विकासशील राज्य पर्यावरण के क्षेत्र में, श्रम-स्तर एवं देशज ज्ञान एवं उत्पादों की रक्षा की दिशा में अपने सामर्थ्य के अनुसार अधिकतम प्रयास द्वारा अधिकतम लाभ प्राप्त कर सकते हैं। उन्हें अपने एक स्वाधिकार क्षेत्र (Patent Regime) को सुदृढ़ करना होगा। किंतु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि राज्यों को, अपने घरेलू आर्थिक विकास की गति-तीव्रता द्वारा अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर स्पर्धा करने में सक्षम होना होगा। उदाहरण के लिए, सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में कौशल के स्थानांतरण का अर्थ होगा सूचना प्रौद्योगिकी के विशेषज्ञों का देशांतरण। इस संबंध में भारत को यह सुनिश्चित करना होगा कि उसकी लाभप्रद स्थिति बनी रहे और इसमें कोई गिरावट न आए। वैश्वीकरण राज्यों को बाध्य करता है कि वह शिक्षा, स्वास्थ्य और पर्यावरण के क्षेत्र में अधिक निवेश करके समाज के गरीब और कमजोर वर्गों को सुरक्षा प्रदान करे। निश्चय ही इससे घरेलू स्तर पर न्याय एवं स्थानीय उद्योग व उत्पादों की कुशलता सुदृढ़ होगी जो विदेशों में स्पर्धा कर सके। वास्तव में राज्यों से अधिकाधिक मांग की जाती है कि वह वैश्वीकरण की पूरी प्रक्रिया को मानवीय स्वरूप प्रदान कर सके।

अभ्यास

1. 'राज्य एक अनिवार्य संस्था है' इस कथन की पुष्टि के लिए तीन तर्क दीजिए।
2. कौटिल्य के अनुसार राज्य की भूमिका की व्याख्या कीजिए।
3. बीसवीं शताब्दी में राज्य की बदलती हुए भूमिका के कारणों पर प्रकाश डालिए।
4. अहस्तक्षेपकारी राज्य (Laissez Faire) की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
5. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए :
   - (क) लोककल्याणकारी राज्य
   - (ख) 'लाइसेंस परमिट राज'
   - (ग) वैश्वीकरण

इकाई तीन

तुलनात्मक राजनीति

अध्याय 9

तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन के उपागम : पारंपरिक एवं आधुनिक

राजनीति क्या है?

प्राचीन यूनान में प्रशासन की इकाई 'नगर-राज्य' था और यह 'पोलिस' नाम से जाना जाता था। राजनीति शब्द, राज्य (पोलिस) के इस अभिप्राय से उपजा। अत: राजनीति विज्ञान राज्य का अध्ययन अथवा ज्ञान है। तभी से यह नामकरण अभी भी प्रचलन में है। यद्यपि अब हम बड़े राज्यों के युग में रह रहे हैं जिनकी विस्तृत प्रादेशिक सीमाएं है, बड़ी मात्रा में जनसंख्या है।

व्यापक रूप में, राजनीति-विज्ञान, राजनीतिक सिद्धांत और राजनीतिक दर्शन, यह सब राज्य संबंधी ज्ञान और राज्य के अध्ययन से संबद्ध हैं और इनका प्रयोग प्राय: एकार्थी रूप में होता है। किंतु, यदि हम सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो इनमें कुछ अंतर स्पष्ट हो जाता है। राजनीति का प्रयोग सामान्य रूप में हो सकता है। राजनीतिक सिद्धांत जहां राज्य से संबंधित मुद्दों के सामान्यीकरण से संबद्ध है, वहां राजनीतिक दर्शन इन मुद्दों के नैतिक तथा मीमांसक शास्त्रीय आधार के अध्ययन पर जोर देता है। पुन: राजनीतिक दर्शन जहां राज्य विषयक मामलों में 'क्या होना चाहिए', पर बल देता है, वहीं राजनीति विज्ञान राज्य के मामलों में 'क्या हो रहा है' का अध्ययन करता है। राजनीति विज्ञान आनुभविक है; और आनुभविक उपागम वैज्ञानिक है।

तुलनात्मक राजनीति

तुलनात्मक राजनीति समसामयिक राजनीतिक विज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण घटक है। यह वैज्ञानिक एवं व्यवस्थात्मक तरीके से राजनीतिक मुद्दों के अध्ययन में सहायक है। तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन के क्षेत्र और उपागम अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अनेक विकासों के कारण निरंतर व्यापक होते जा रहे हैं।

तुलनात्मक राजनीति अधिकांशत: राजनीतिक संस्थाओं, राजनीतिक प्रक्रियाओं, वैचारिक आधारों, विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं के नियमों एवं सामाजिक संरचनाओं के तुलनात्मक विश्लेषणों से संबंद्ध है। तुलनात्मक राजनीति एवं तुलनात्मक सरकारों के मध्य एक अंतर पाया जाता है। तुलनात्मक सरकार में राज्य व्यवस्थाओं के विभिन्न रूपों, उनकी संस्थात्मक संरचनाओं एवं कार्य तथा उनकी संविधानिक पृष्ठभूमियों एवं सूत्रीकरणों के अध्ययनों पर विचार विमर्श किया जाता है। दूसरी तरफ तुलनात्मक राजनीति का गैर-राज्य संस्थाओं, राजनीतिक प्रक्रिया एवं व्यवहार, सामाजिक संरचना के नियमों एवं मूल्यों से अधिक संबंध है। अत: तुलनात्मक राजनीति का क्षेत्र एवं ढांचा अधिक व्यापक एवं विस्तृत हो जाता है।

अरस्तू को तुलनात्मक राजनीति का जनक तो माना जाता है, किंतु राज्यों की कानूनी संस्थाओं के ऐतिहासिक परीक्षण में उनकी अधिक रुचि थी। उनके अध्ययनों में सरकारों के राजनीतिक व्यवस्थाओं के अनौपचारिक

संगठनों जैसे– जनजातियों, समुदायों, सामाजिक वर्गों एवं हित अभिकरणों के नियमों एवं व्यवहारों तथा शासक अभिजनों के विश्वास प्रतिमानों के विश्लेषण पर बहुत ज्यादा ध्यान नहीं दिया गया।

उपागम : अभिप्राय

साधारण शब्दों में एक 'उपागम' का निरूपण किसी वस्तुविशेष के अभिप्राय तथा विशेष संदर्भ में उसकी व्याख्या से है। इसका परिप्रेक्ष्य अत्यधिक विस्तृत भी हो सकता है, जैसे, एक पूरे देश की राजनीति अथवा संकीर्ण भी हो सकता है, जैसे, क्षेत्रीय, स्थानीय, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के कुछ मुद्दे।

राजनीति के अध्ययन के कई उपागम हैं, और कभी-कभी कुछ उपागम एक-दूसरे से मिलते-जुलते भी होते हैं। व्यापक अर्थों में इनका वर्गीकरण दो श्रेणियों में हो सकता है : पारंपरिक और आधुनिक।

पारंपरिक उपागम विचारात्मक और मूल्यात्मक प्रकृति के होते हैं और इसके विपरीत आधुनिक उपागम आनुभविक तथा वैज्ञानिक हैं।

सारांशत: पारंपरिक उपागमों में सम्मिलित हैं : (i) दार्शनिक, (ii) ऐतिहासिक (iii) कानूनी या वैधिक, और (iv) संस्थागत उपागम।

आधुनिक उपागमों के अंतर्गत हैं : (i) व्यवहारवादी उपागम और (ii) व्यवस्था उपागम। व्यवस्था–उपागम के अधीनस्थ हैं : निवेश– निर्गत एवं संचरनात्मक – कार्यात्मक उपागम।

पारंपरिक उपागम

दार्शनिक उपागम अथवा दार्शनिक नैतिक उपागम

राजनीतिक अध्ययन के अंतर्गत यह सर्वाधिक प्राचीन उपागम है। दार्शनिक उपागम अपने स्वरूप में आदर्शात्मक होता है। इसका आग्रह राज्य कार्यों के प्रतिमानों पर रहा है। इस उपागम पर जोर देने वाले राजनीति शास्त्री राज्य व्यवस्थाओं की कार्यप्रणाली में उच्च नैतिक सिद्धांत एवं प्रतिमानों में विश्वास करते हैं। इस उपागम में विश्वास रखने वाले विचारकों में प्लेटो, रूसो, कान्ट, हीगल, लियो स्ट्रास, आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

दार्शनिक उपागम के आलोचक इसे अत्यधिक भावात्मक मानते हैं। यह हमें वास्तविकता से बहुत दूर ले जाता है और अव्यवहारिक है। यह सत्य है कि इस उपागम के समर्थक अपने सामने कुछ ऐसे आदर्श रखते हैं जो अप्राप्य हो; किंतु यह भी सत्य है कि इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के प्रयास में आधुनिक मापदंडों में निश्चित ही सुधार होगा, चाहे वे भले ही प्राप्त न किए जा सकते हों ।

ऐतिहासिक उपागम

ऐतिहासिक उपागम 19वीं सदी के अंतिम चतुर्थांश में लोकप्रिय बना। यह इस विचार पर आधारित है कि राजनीतिक संस्थाओं एवं प्रक्रियाओं की उपयुक्त समझ के लिए यह जरूरी है कि राज्य संस्थाओं की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की स्पष्ट जानकारी हो। इसका गुण है कि यह राज्य एवं उसकी संस्थाओं को उनके परिवर्तन की प्रक्रिया के संदर्भ में समझने का प्रयास करता है। किंतु सिद्धांतों तथा सामान्य प्रवृत्तियों की खोज में यह व्यक्तियों एवं संस्थाओं की केंद्रीय भूमिका एवं संस्थाओं की परिवर्तन की प्रक्रिया को दृष्टिलोप कर देता है।

किंतु, ऐतिहासिक उपागम के महत्त्व को झुठलाया नहीं जा सकता क्योंकि इसके अंतर्गत राजनीतिक संस्थाओं, उनकी उत्पत्ति और विकास के संबंध में जानकारी प्राप्त करने में यह उपागम महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। जी. एच. सेबाइन, मैकलेनिन, ए.जे. कार्लाइल, कैटलिन, डॅनिंग तथा अनेक विचारकों ने इस उपागम के महत्त्व को समझा और अपनाया है। ऐतिहासिक उपागम इस प्रकार प्लेटो और अरस्तू से लेकर आधुनिक काल में लासवैल, रॉल्स, नोजिक आदि महत्त्वपूर्ण विचारकों के विचारों को समझने में यथेष्ट सहायक रहा है।

कानूनी पद्धति उपागम अथवा कानूनी-न्यायिक उपागम

यह उपागम राज्य के कानूनी एवं न्यायिक पक्षों के अध्ययन पर बल देता है। यहां यह जान लेना आवश्यक है कि इस उपागम के अंतर्गत कानून और न्याय को मात्र न्याय शास्त्र से नहीं जोड़ा जाता है। राजनीतिक सिद्धांती जो इस उपागम में विश्वास रखते हैं वे राज्य को प्रभावी एवं समतापूर्ण कानूनी व्यवस्था के संरक्षण एवं लागू करने पर बल देते हैं। अतः यह उपागम राज्य को प्रमुख रूप से एक ऐसा संगठन मानता है जो कानून के निर्माण और उसके लागू करने का साधन है।

जीन बोदां और हाब्स, जिन्होंने प्रभुसत्ता की अवधारणा को प्रतिपादित किया, इस उपागम के प्रारंभिक समर्थक थे। दोनों विचारक यह मानते थे कि संप्रभु सर्वोच्च कानून निर्माता ही नहीं है, बल्कि उसका आदेश ही कानून है। बेन्थम, ऑस्टिन एवं डायसी जैसे दार्शनिकों की रचनाएं इसी श्रेणी में आती हैं।

इस उपागम की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि कानून लोगों के जीवन के केवल एक ही पक्ष पर बल देता है। इस प्रकार यह राजनीतिक मानव के समस्त व्यवहार को प्रतिबिंबित नहीं करता।

संस्थात्मक उपागम अथवा संरचात्मक-संगठनात्मक उपागम

इस उपागम के विशेषज्ञ चाहते हैं कि तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन क्षेत्र को औपचारिक संस्थाओं जैसे विधायिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के सांविधानिक प्रावधानों तक ही सीमित होना चाहिए। यह उपागम राजनीतिक संस्थाओं के तुलनात्मक विश्लेषण पर भी बल देता है। संस्थात्मक उपागम 20वीं सदी के प्रथम चौथाई वर्षों के दौरान लोकप्रिय रहा। इस उपागम के समर्थकों में वाल्टर बेज़हॉट, जेम्स ब्राईस तथा जी. सारतोरी आदि उल्लेखनीय हैं।

इस उपागम की इस आधार पर आलोचना की जाती है कि इसका अध्ययन बहुत संकुचित है। यह उपागम राजनीतिक व्यवस्था की औपचारिक तथा अनौपचारिक संगठनों को क्रियाशील बनाने में मानव की भूमिका को दृष्टिलोप करता है। इसके अतिरिक्त यह राजनीतिक व्यवस्था के अनौपचारिक संगठनों जैसे दबाव समूहों का विश्लेषण नहीं करता और न ही यह सामाजिक संदर्भों में संस्थाओं की क्रियाप्रणाली पर ध्यान देता है। यह भी तर्क दिया जाता है कि यह उपागम अत्यधिक संस्कृतिबद्ध है क्योंकि यह मात्र यूरोप तथा अमरीका की संस्थाओं के विश्लेषण पर ही बल देता है। यह सत्य है कि इस उपागम का धीरे-धीरे अप्रत्यक्ष रूप से महत्त्व बढ़ा है और इसीलिए यह व्यवहारवादी उपागम में सन्निहित हो गया है। हम व्यवहारवादी उपागम के संबंध में अगले कुछ पृष्ठों में पढ़ेंगे। इसके अतिरिक्त यह उपागम औपचारिक नियमों और संस्थाओं की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है और इसीलिए इसे महत्त्वपूर्ण उपागम भी माना जाता है।

आधुनिक उपागम

व्यवहारवादी उपागम

पारंपरिक उपागमों के अंतर्गत हम चार विभिन्न उपागमों की जानकारी प्राप्त कर चुके हैं। ये सभी सिद्धांत मूलतः नियामक ही नहीं अपितु मूल्यनिष्ठ भी हैं। आलोचकों के अनुसार मूल्यनिष्ठ उपागम मूलतः आदर्शवादी और स्वप्नवादी होते हैं। इसी कारण अव्यवहारिक हैं। विज्ञान में कारकों अथवा तथ्यों का अध्ययन होता है, मूल्यों का नहीं। आधुनिक उपागमों के समर्थक सभंवतः इसीलिए राजनीति से संबंधित मामलों का अध्ययन करने के लिए वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करते हैं। वैज्ञानिक पद्धति मूलतः प्रासंगिक तथ्यों के संबंध में आनुभविक विश्लेषण पर बल देती है। वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा पर्यवेक्षण, सांख्यिकीकरण, सामान्यीकरण तथा एकीकरण का प्रयोग किया जाता है।

आधुनिक उपागम की सुस्पष्ट अभिव्यक्ति व्यवहारवाद में होती है। यह पद्धति राजनीतिक नायकों तथा संस्थाओं के बाह्य व्यवहार के प्रदर्शन में विश्वास रखती है। इस सिद्धांत का विश्वास है कि राजनीतिक नायकों तथा संस्थाओं के बाह्य व्यवहार के प्रदर्शन तथा उनके व्यवहार का वैज्ञानिक पद्धति द्वारा विश्लेषण राजनीतिक व्यवस्था के संबंध में जानकारी प्रदान करता है। यह प्रधानतया समाजशास्त्री तथा मनोवैज्ञानिक उपागमों से बहुत कुछ ग्रहण करता है। जमर्नी के प्रसिद्ध समाज-शास्त्री मैक्स वेबर के अनुसार समाजशास्त्र राजनीति का आधार है। इसी प्रकार जो मनोवैज्ञानिक उपागम में विश्वास रखते हैं वे राजनीतिक संस्थाओं और तथ्यों का अध्ययन मनोवैज्ञानिक नियमों के द्वारा करते हैं। उनका विश्वास है कि मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के यंत्र राजनीतिक व्यवहार के अध्ययन में अत्यधिक प्रमुख रूप से सहायता करते हैं।

अमरीका में 20वीं शताब्दी के द्वितीय दशक में व्यवहारवादी क्रांति का उद्भव हुआ। व्यवहारवादी उपागम के प्रमुख दार्शनिकों में चार्ल्स मैरियम, हैंज़ यूलाऊ, राबर्ट डैहल, लासवेल, डेविड एस्टन तथा आमंड प्रमुख हैं।

व्यवहारीवादी उपागम के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं :

- व्यवहारवादी, अभिकर्ता और समूहों के बाह्य आचरण और राजनीतिक प्रक्रियाओं के माध्यम से राजनीति का अध्ययन करते हैं।
- वे एक नई पद्धति की वकालत करते हैं; और सर्वेक्षण संबंधी अन्वेषण पर बल देते हैं।
- उनकी पद्धति मूलतः अंतर्विषयी है।

यह कहा जा सकता है कि यह उपागम मूलतः प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों से बहुत कुछ ग्रहण करता है।

यूलाऊ को उद्धृत करते हुए कह सकते हैं कि व्यवहारवादी उपागम की केंद्रीय मान्यता रही है- कि 'व्यक्ति आधार है।' संस्थाएं केवल संरचना प्रदान करती हैं, जिसमें राजनीतिक अभिकर्ता (जो व्यक्ति होते हैं) अपनी भूमिकाओं का निर्वाह करते हैं। राजनीतिक अभिकर्ताओं की परस्पर अंतःक्रियात्मकता ही संरचना को निर्धारित करती है। वास्तव में, व्यवहारवादी उपागम, हमें राजनीतिक प्रक्रियाओं में गहरी समझ प्रदान करता है। वह इस बात को भी बताता है कि इस राजनीतिक प्रक्रिया में सामान्य नागरिक किस प्रकार भाग लेते हैं। यह लोकमत, दबाव समूह एवं हमारे अध्ययन के चुनाव परिमाणात्मक परिणामों को समझने में हमारी सहायता करती है। किंतु, जब संस्थाओं या प्रक्रियाओं का आसानी से परिमापन नहीं किया जाता तो यह उपागम कमजोर पड़ जाता है। एक प्रकार से व्यवहारवाद और संस्थात्मक, दोनों ही उपागम दो अतिवादी विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

व्यवस्था विश्लेषण उपागम

व्यवस्था विश्लेषण व्यवहारवादी उपागम का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है, क्योंकि व्यवहारवादियों द्वारा राज्य के स्थान पर 'राजनीतिक व्यवस्था' का अध्ययन किया जाता है। व्यवस्था की परिभाषा है 'अनेक तत्त्वों की पारस्परिक अंतःक्रिया'। राजनीतिक व्यवस्था का विश्लेषण करने वाले यह जानना चाहते है कि

- राजनीतिक व्यवस्था के कार्य कौन-से हैं,
- राजनीतिक व्यवस्था की संरचना कैसी है, तथा
- किन दशाओं में व्यवस्था कार्य करती है।

उपर्युक्त तथ्यों को जानने के लिए व्यवस्था का विश्लेषण करने वाले दो प्रकार के उपागमों का प्रयोग करते है : (i) निवेश-निगर्त विश्लेषण, और (ii) संरचनात्मक-कार्यात्मक विश्लेषण।

निवेश-निर्गत उपागम : इस उपागम को लोकप्रिय बनाने वालों में से डेविड ईस्टन का नाम उल्लेखनीय है। एक निवेश-निर्गत ढांचे का निर्माण करते समय

ईस्टन नए संचार-विज्ञानों से प्रभावित हुए। इस उपागम के अंतर्गत प्रमुख धारणा यह थी कि राजनीतिक व्यवस्था के अंतर्गत पुनर्निवेश एक यंत्र के रूप में कार्य करते हैं जो विभिन्न सकारात्मक अथवा नकारात्मक सूचनाओं को स्थानांत्रित करते हैं। पुनर्निवेश के दो निवेश महत्त्वपूर्ण हैं- 'मांग' तथा 'समर्थन'। यदि किसी व्यवस्था में मांग अत्यधिक हो और सरकार उन्हें व्यावहारिक रूप न दे सके तो व्यवस्था टूट जाती है। दूसरी ओर, यदि जनसाधारण नियमों का समर्थन करता है तो व्यवस्था अपने आप को केवल बचा ही नहीं लेती अपितु स्थायी भी हो जाती है। इस प्रकार ईस्टन के राजनीतिक व्यवस्था की कार्यपद्धति का विश्लेषण गतिशील है, जबकि आमंड की व्यवस्था विश्लेषण स्थिर है।

संरचनात्मक- कार्यात्मक उपागम : संरचनात्मक उपागम की असफलता ने इस उपागम को उजागर किया। जैसा कि हम पहले देख चुके है कि संस्थागत उपागम के अंतर्गत तुलनात्मक राजनीति के आधीन अनेक संस्थाओं, जैसे विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका का मुख्य रूप से अध्ययन किया जाता है। संस्थाओं का विवरण देने वाले विचारक यह मानते हैं कि ये संस्थाएं निश्चित सीमाओं में लगभग स्थायी होती हैं, किंतु संरचनात्मक- कार्यात्मक उपागम, विभिन्न स्थितियों का वर्णन करते हुए विशेषतया विकासशील राष्ट्रों के संदर्भ में जहां लगातार परिवर्तन की प्रक्रिया चलती रहती है, इसे उचित नहीं मानते। जैसा कि देखने में आया है कि विकासशील देशों में संस्थाओं का व्यवस्थापन अस्थिर है; अतः इस उपागम के अनुसार राजनीतिक व्यवस्था के लिए कुछ ऐसे राजनीतिक कार्यों की पहचान करना आवश्यक है जिसे किसी भी राजनीतिक व्यवस्था को अपनेआप को स्थायी बनाने के लिए क्रियान्वयन करना जरूरी है। यह संस्थाओं के अस्तित्व और प्रवीणता के औचित्य का राजनीति व्यवस्था परिप्रेक्ष्य में परीक्षण करता है। इस उपागम के आमंड एवं पावेल अग्रणी प्रतिपादक है। जिन्होंने तीन कार्यों, जैसे राजनीतिक भर्ती, राजनीतिक सामाजीकरण एवं राजनीतिक संचार पर जोर दिया है। इन कार्यों का संबंध व्यवस्था के रखरखाव से है। साथ ही उनका कार्यों के बारे में यह भी मानना रहा है कि वे मांगों को नीति-निर्माण एवं नीति-क्रियान्वयन में परिवर्तित कर देते हैं। इनके *अनुसार मांगों को सत्तात्मक निर्णयों एवं* नीतियों में परिवर्तित होना चाहिए।

कार्यात्मक उपागम-तुलनात्मक राजनीति के अवधारणात्मक आधार को व्यापक करने का एक महत्त्वपूर्ण प्रयास है। यह तुलनात्मक राजनीति को संस्कृति मुक्त उपागम प्रदान करता है और उन कारकों के संदर्भ में राजनीति को समझने का प्रयास करता है जो कि स्थायित्व एवं कार्यदक्षता प्रदान करते हैं किंतु इस उपागम की यह आलोचना की गई है कि यह बहुत ही रुढ़िवादी है। यह तर्क दिया जाता है कि विशेषकर विकासशील देशों के संदर्भ में यह उपागम राजनीतिक जीवन में संघर्ष एव परिवर्तन के तथ्य की उपेक्षा करता है। इन देशों में जहां कि अत्यधिक गरीबी रही है, स्वाभाविक रूप से लोगों की ज्यादा रुचि स्थायित्व की अपेक्षा परिवर्तन की प्रक्रिया में होती है। इसको कार्यात्मकवादी ढांचे में आसानी से समायोजित नहीं किया जा सकता।

मार्क्सवादी उपागम

यहां यह उल्लेखनीय है कि हम एक अन्य उपागम मार्क्सवादी उपागम के बारे में भी जानकारी प्राप्त करें जो पारस्परिक और आधुनिक उपागमों से सर्वथा भिन्न है। मार्क्सवाद मुख्यतः वर्ग संघर्ष के संदर्भ में राजनीति की व्यवस्थाओं एवं प्रक्रियाओं के परीक्षण के लिए सशक्त ऐतिहासिक ढांचा प्रदान करता है। मार्क्स ने अपनी विचारधारा के अंतर्गत द्वंद्वात्मक भौतिकवाद तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धांतों का प्रयोग

किया है, ताकि अपनी संकल्पना के औचित्य को न्यायसंगत सिद्ध कर सके। इस संदर्भ में उसका मानना है कि प्रत्येक समाज में दो वर्ग होते हैं एक वे जिनका उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व होता है (अमीर वर्ग) और दूसरे वे जो शारीरिक श्रम के माध्यम से अपना जीवनयापन करते हैं (गरीब वर्ग)। इन दोनों वर्गों में परस्पर संघर्ष चलता रहता है। यह तब तक चलता रहेगा जब तक वर्ग-विहीन एवं राज्य-विहीन समाज की स्थापना नहीं हो जाती। (हम मार्क्सवाद के बारे में और अधिक विस्तार से पुस्तक के अंतिम भाग में जानकारी प्राप्त करेंगे।)

मार्क्सवादी उपागम 'व्यवहारवादी उपागम' से भिन्न है क्योंकि जहां व्यवहारवादी उपागम आधुनिक व्यवस्था (मूलत: पाश्चात्य) का संरक्षण करता है और उसका प्रयास रहता है कि यथास्थिति बनी रहनी चाहिए क्योंकि यह व्यवस्था अच्छी है; इसके विपरीत मार्क्सवादी उपागम आधुनिक व्यवस्था को पूर्णतय: नकारते हुए उसे अन्यायसंगत मानता है और उसे परिवर्तित करने का समर्थन करता है।

पारंपरिक और आधुनिक उपागमों के संक्षिप्त अध्ययन के पश्चात यह कहा जा सकता है कि कई बार दोनों उपागमों के कुछ तत्त्वों में एक-दूसरे पर छाने की प्रवृति दिखाई देती है। उदाहरणतय:, प्राचीन काल में अरस्तू के राजनीति दर्शन में अनुभववाद के गुणों की झलक है। इसी प्रकार आधुनिक युग के विचारक डेविड ईस्टन की विचारधारा में सापेक्षिक मूल्यों की जड़े दिखलाई देती है। इसका अभिप्राय है कि विभिन्न अध्ययनों के अंतर्गत राजनीति का अध्ययन अनेक प्रकार से अंतर्संबंधित है।

कुछ क्षेत्रों में तो राजनीतिक संस्थाओं और उनके कार्यों का अध्ययन, नीति-विश्लेषण पद्धति से किया जाता है, परंतु नीति-विश्लेषण का आधार राज्य के मौलिक तत्त्वों/मूल्यों पर आधारित होता है। तथापि, प्रत्येक उपागम के अपने-अपने समर्थन बिंदु होते हैं। आधुनिक काल में राजनीतिक वैज्ञानिक प्रभावकारी ढंग से उनका उपयोग करता है। वह संस्थाओं और प्रक्रियाओं, सामूहिक निर्णयों तथा शक्ति संबंधों को सामाजिक परिप्रेक्ष्य तथा उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में समझने की चेष्टा करता है। वास्तव में तुलनात्मक राजनीति का क्षेत्र इतना विस्तृत और व्यापक हो गया है कि यह राजनीतिक प्रणाली के विभिन्न पक्षों, जो औपचारिक व अनौपचारिक, गुणात्मक व संख्यात्मक हो सकते हैं, के अध्ययन का प्रयास करता है।

अभ्यास

1. तुलनात्मक राजनीति से आप क्या समझते है?
2. 'तुलनात्मक सरकार' के संबंध में किन्हीं दो पारंपरिक उपागमों के नाम लिखें।
3. तुलनात्मक राजनीति के अध्ययन के आधुनिक उपागमों का वर्णन करें।
4. संक्षिप्त टिप्पणी लिखें :
   (क) दार्शनिक उपागम
   (ख) व्यवहारवादी उपागम
   (ग) मार्क्सवादी उपागम

अध्याय 10

राजनीतिक सामाजीकरण, राजनीतिक सहभागिता तथा राजनीतिक विकास

राजनीतिक सामाजीकरण

राजनीतिक व्यवस्था का विश्लेषण करते समय कोई भी यह जानने को उत्सुक हो सकता है कि किस प्रकार राजनीतिक संस्कृति विकसित होती है और यह क्या है? लोगों में विशेष प्रकार की आस्थाएं एवं अभिमुखताएं किस प्रकार विकसित होती हैं? ये आस्थाएं एवं मनोवृत्तियां एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक किस प्रकार हस्तांतरित की जाती हैं? जिस प्रक्रिया के द्वारा मनोवृत्तियां, मान्यताएं एवं अभिमुखताएं एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तांतरित होती है, उसे राजनीतिक सामाजीकरण कहा जाता है। यह 'राजनीति के बारे में लोग क्या, कब एवं कैसे जानते है,' का अध्ययन है। अंतरपीढ़ीय निरंतरता राजनीतिक संस्कृति का सार है। नए विचारों एवं मान्यताओं को स्वीकार करने की लोगों की तत्परता यथोचित व्यवहार का मामला है। प्रचलित राजनीतिक संस्कृति को अधिगम करने की यथोचित प्रक्रिया को राजनीतिक सामाजीकरण के नाम से जाना जाता है। प्रत्येक सरल अधिगम सामाजीकरण का हिस्सा नहीं होता। सामाजिक प्रासंगिकता रखने वाला अधिगम ही सामाजीकरण की प्रक्रिया का हिस्सा होता है। सामान्य अंतर्क्रियाओं के माध्यम से ही व्यक्ति कुछ सामाजिक दायित्वों को ग्रहण करता है। राजनीतिक सामाजीकरण की प्रक्रिया के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह सचेत प्रक्रिया ही हो। राजनीतिक सामाजीकरण व्यक्ति के जीवनपर्यंत जारी रहता है। विभिन्न कारक जैसे, अंतर्राष्ट्रीय परिवर्धन, आंतरिक रूपांतरण, ऐतिहासिक घटनाएं एवं सामाजिक उत्तेजक परिस्थितियां राजनीतिक सामाजीकरण की प्रक्रिया को आकार प्रदान करते हैं।

राजनीतिक संस्कृति एवं राजनीतिक सामाजीकरण परस्पर संबंधित होते हैं। राजनीतिक सामाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा राजनीतिक सस्कृतियां बनती हैं, संरक्षित रहती हैं एवं परिवर्तित होती है। इस प्रक्रिया द्वारा लोग अपनी अभिमुखताएं विकसित करते हैं। जब सर्वाधिकारवादी राजनीतिक अभिजन (Totalitarian Political Elites) इतिहास के लेखा-जोखों को संशोधित करने का प्रयास करते हैं तो वे राजनीतिक सामाजीकरण के उद्भव की प्रक्रिया को स्वरूपित एवं नियंत्रित करने का ही सामान्य प्रयास करते हैं। अतः राजनीतिक सामाजीकरण की प्रक्रिया का अध्ययन करना अति महत्त्वपूर्ण है, ताकि राजनीतिक स्थिरता एवं राजनीतिक व्यवस्था के विकास को समझा जा सके।

राजनीतिक संस्कृति के प्रति व्यक्ति की मनोवृत्तियां उसके संपूर्ण जीवन काल में बदलती रहती हैं। यह एक सतत प्रक्रिया है। बहुत सारी घटनाएं व्यक्ति के जीवनकाल में उसके स्वयं की अभिमुखताओं को स्वरूपित एवं निर्देशित करती हैं।

प्रायः राजनीतिक सामाजीकरण की प्रक्रिया या तो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में परिलक्षित होती है। प्रत्यक्ष परिलक्षण की प्रक्रिया, राजनीतिक उद्देश्यों एवं संस्थाओं के बारे में सूचना, मूल्यों या भावनाओं के स्पष्ट संचार में निहित होती है। विद्यालयों में नागरिकशास्त्र के पाठ्यक्रम का शिक्षण एक प्रत्यक्ष राजनीतिक सामाजीकरण का उदाहरण है। अप्रत्यक्ष राजनीतिक सामाजीकरण की प्रक्रिया राजनीतिक व्यवस्था में संस्थाओं के प्रति गैर-राजनीतिक मनोवृत्तियों के रूपांतरण में निहित होती है, इसमें राजनीतिक व्यवस्था में सारगर्भित संस्कृति के मौलिक पक्ष सन्निहित होते हैं। सामान्य रूप से राजनीतिक व्यवस्था की सांस्कृतिक संरचना के प्रति धारणाएं एवं अभिमुखताएं व्यवस्थात्मक अंतक्रियाओं में समायोजनता या आक्रामकता की मनोवृत्ति, बच्चे को प्रभावित कर सकती है।

जब व्यक्ति अपने मित्रों, परिवार, चर्च, शिक्षकों या कुछ अन्य अभिकरणों को प्रभावित करने का प्रयास करता है, तो वह विचारधारा या सरकार की कार्यप्रणाली या नीतियों के बारे में भी प्रत्यक्ष रूप से ज्ञान प्राप्त करता है। इस प्रक्रिया को ही प्रत्यक्ष या प्रकट राजनीतिक सामाजीकरण कहा जाता है। दूसरी तरफ, अगर व्यक्ति प्रारंभिक अवस्था में ही सत्ताओं के प्रति मानव अभिवृत्तियों को विकसित करता है जो कालांतर में चलकर राजनीति अभिमुखता एवं प्रेरणा में परिवर्तित होती है; तो यही प्रक्रिया अप्रकट या अप्रत्यक्ष अनुकरणीयता, प्रत्याशित व्यवहार, राजनीतिक शिक्षा या राजनीतिक सहभागिता द्वारा अभिव्यक्त होती है। राजनीतिक सामाजीकरण की अप्रकट या अप्रत्यक्ष प्रक्रिया अंतर वैयक्तिक अन्योन्य क्रियाओं के द्वारा अभिव्यक्त होती हैं। जिसका तात्पर्य व्यक्तियों के निजी प्रभाव द्वारा मूल्यों, अभिवृत्त्यिों या विचारों की पारगम्यता से है।

राजनीतिक सामाजीकरण को प्रत्यक्ष राजनीतिक प्रशिक्षण एवं शिक्षा के द्वारा ग्रहण किया जा सकता है। इस प्रक्रिया में प्रदाता संस्था या संगठन के द्वारा पहल की जाती है। सामाजीकृत व्यक्तियों के साथ पहल नहीं की जा सकती। अधिकांश संगठन व संस्थाएं अपनी विचारधारा या अभिमुखताओं को प्रदान करने के लिए अपने औपचारिक एवं अनौपचारिक चैनल रखते हैं। राजनीतिक दलों की वार्षिक राजनीतिक बैठकें, ग्रेट ब्रिटेन में नागरिक पाठ्यक्रमों पर दिया जाने वाला जोर, गुएना के राजनीतिक अखाड़े, पूर्वी अफ्रीका में मसाइयों में होने वाला पहल समारोह तथा जनस्थानों पर प्रचार रैलियां, जैसी तकनीकें प्रत्यक्ष राजनीतिक सामाजीकरण के कुछ स्पष्ट उदाहरण हैं। प्रत्यक्ष राजनीतिक सामाजीकरण, राजनीतिक प्रक्रिया, राजनीतिक अभिजनों, संरचनाओं एवं घटनाओं के साथ व्यक्ति के निजी अनुभव के द्वारा अस्तित्व में आता है। अप्रत्यक्ष राजनीतिक सामाजीकरण अधिकांशतः अंतर्वैयक्तिक स्थानांतरण के द्वारा अस्तित्व में आता है। उदाहरण के लिए जो बच्चा परिवार के सर्वाधिकारवादी वातावरण में जन्म लेता है, अधिकांशतः सत्ता के सम्मुख आज्ञाकारिता की मनोवृत्ति को सीखता है।

राजनीतिक सामाजीकरण के कारक

राजनीतिक सामाजीकरण विभिन्न संस्थाओं एवं परिस्थितियों की सहायता से ग्रहण होता है। ये हैं : परिवार, समकक्षी समूह, शैक्षणिक संस्थाएं, गौण समूह; जैसे- कार्यस्थल, जनसंचार एवं सरकार तथा दलीय मशीनरी।

परिवार : परिवार राजनीतिक सामाजीकरण की प्रक्रिया का मूल कारक है। केवल परिवार के द्वारा ही व्यक्ति की राजनीतिक प्रवृत्ति तय एवं विकसित होती है। एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में मूल्यों के रूपांतरण में परिवार सहायता प्रदान करता है। जब बच्चा परिवार से अपनी भौतिक एवं भावनात्मक सहायताएं प्राप्त

करता है तो यह स्वाभाविक है कि बच्चा परिवार के सदस्यों की राजनीतिक मान्यताओं एवं मनोवृत्तियों के द्वारा व्यापक रूप से प्रभावित होगा। माता-पिता अपने बच्चों के मुख्य भूमिका प्रारूपक होते हैं।

यह ध्यान रखने योग्य है कि इस स्तर पर राजनीतिक सामाजीकरण अपने स्वरूप में अधिकांशत: रूढ़िवादी होता है। बच्चा इससे अधिक प्रभावित होता है कि परिवार के परंपरागत विचार एवं व्यवहार बने रहें एवं उनकी निरंतरता रहे। हालांकि बच्चों की कुछ मुख्य विशेषताओं विशेषकर सत्ता के प्रति उनकी मनोवृत्ति, नीति-निर्मात्री संस्थाओं के प्रति आज्ञाकारिता एवं राजनीतिक विचारधाराओं, दलों को स्वरूपित करने में परिवार की व्यापक भूमिका होती है, जिनमें आगे चलकर परिवर्तन भी आ सकते हैं। जब बच्चा बड़ा होकर प्रौढ़ अवस्था में आता है तब समाज एवं राजनीतिक प्रक्रियाओं के प्रति उसकी मनोवृत्ति राजनीतिक सामाजीकरण के अन्य अभिकर्ताओं के प्रभाव के कारण व्यापक रूप से बदल जाती हैं।

अभिजात तथा समकक्षी समूह : जहां पारिवारिक संबंध पदक्रम युक्त होता है, वहीं विकसित होते हुए बालक एवं समकक्षी समूह के सदस्यों के मध्य के संबंध अपने स्वरूप में पदक्रमरहित होते हैं। यही कारण है कि समकक्षी समूह राजनीतिक सामाजीकरण की प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। समकक्षी समूह बचपन के खेल समूह, मित्र संगठनों, कार्यसमूहों एवं ऐसे ही अन्य समूहों से बनते हैं। इस अवस्था में राजनीतिक सामाजीकरण नए आयामों को ग्रहण करता है। समकक्षी समूह, व्यक्तियों को उद्भव होते राजनीतिक वातावरण का सामना करने एवं जरूरी हो तो विशिष्ट राजनीतिक भूमिकाओं के लिए तैयार करते हैं। समकक्षी समूह व्यक्तियों एवं समकक्षी समूहों के सदस्यों के मध्य आत्मीय भाव को विकसित करने में सहायता करते हैं। अत: इन्हें राजनीतिक सामाजीकरण के महत्त्वपूर्ण अभिकर्त्ता के रूप में स्वीकार किया जाता है। परिवार की तुलना में राजनीतिक सामाजीकरण के अभिकर्ताओं के रूप में इन समकक्षी समूहों की भूमिका विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं में अलग-अलग होती हैं। फ्रांस, बेल्जियम तथा जर्मनी जैसे देशों में परिवारों का किशोरवय बच्चों पर ज्यादा समय तक नियंत्रण रहा है जबकि ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में परिवारों का अपने बच्चों पर कम नियंत्रण रहता है।

शैक्षिक संस्थाएं : विद्यालय, महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय जैसी शैक्षणिक संस्थाएं राजनीतिक सामाजीकरण के अन्य महत्त्वपूर्ण अभिकर्ता हैं। ये संस्थाएं राजनीतिक सामाजीकरण की प्रक्रिया में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों ही तरह से सहभागी होती हैं। प्रत्यक्ष राजनीतिक सामाजीकरण, पाठ्यक्रम द्वारा भूमिका निर्वाह करता है। विद्यार्थियों को राष्ट्रीय आंदोलनों एवं राष्ट्रीय परंपराओं तथा कई बार विशिष्ट विचारधाराओं के बारे में जानकारी दी जाती है। विद्यालय एवं विश्वविद्यालय के अनुभव अप्रकट राजनीतिक सामाजीकरण की प्रक्रिया में सहायता करते हैं। इस अवस्था में सहभागिता की रीतियों, मनोवृत्तियों एवं मूल्यों के स्वरूपण में सहायता प्रदान की जाती है। 1968 में फ्रांस का विद्यार्थी आंदोलन, वियतनाम युद्ध के प्रति अमेरिकी विद्यार्थी विरोध तथा 1960 के दशक के अंत में भारतीय विश्वविद्यालयों में नक्सलवादी आंदोलन की छाया राजनीतिक सामाजीकरण के कुछ उदाहरण हैं।

गौण समूह : गौण समूह समाज में राजनीतिक भूमिका के लिए प्रशिक्षण प्रदान करते हैं। विकसित राजनीतिक व्यवस्था और गौण समूह तीन प्रकार के होते हैं। प्रथम, वे गौण समूह जिनका संबंध विशिष्ट राजनीतिक अभिप्रेरणाओं से होता है, जैसे राजनीतिक दल एवं राजनीतिक युवा संगठन। ये समूह राजनीतिक विचारधारा में प्रशिक्षण और राजनीतिक क्रियाओं को गत्यात्मकता

प्रदान करते हैं, तथा राजनीतिक नेताओं की भर्ती करते हैं। द्वितीय प्रकार के वे गौण समूह होते हैं जो गैर-राजनीतिक उद्देश्यों के लिए बनाए जाते हैं। हालांकि ये समूह अपने विशिष्ट कार्यकलापों के साथ राजनीतिक शिक्षण का कार्य भी करते हैं। इस संदर्भ में विभिन्न श्रम संगठन उल्लेखनीय हैं। हालांकि एक श्रम संगठन मूलत: सामूहिक सौदेबाजी एवं अपने सदस्यों के कल्याण से जुड़ा होता है किंतु यह अपने सदस्यों को राजनीतिक शिक्षा और प्रशिक्षण भी प्रदान करते हैं। तीसरे प्रकार के गौण समूह न तो अपने सदस्यों को राजनीतिक शिक्षा देते है और न ही उनकी कोई राजनीतिक पहचान होती है। उनकी गतिविधियों में केवल सहभागिता ही राजनीतिक अभिमुखताएं प्रदान करती है, यह अप्रत्यक्ष राजनीतिक सामाजीकरण का एक स्पष्ट उदाहरण है। इस संदर्भ में क्लब, खेल-कूद एवं सांस्कृतिक संघ ऐसी संस्थाएं हैं जिन्हें गौण समूहों की श्रेणी में रखा जा सकता है।

जनसंचार : संचार एवं सूचना तकनीक ने राजनीतिक सामाजीकरण के अभिकर्ता के रूप में जनसंचार की भूमिका को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बना दिया है। जनसंचार जैसे रेडियो, टेलीविजन, अखबारों एवं पत्रिकाओं की भूमिका राजनीतिक व्यवस्थाओं की सामाजिक एवं राजनीतिक संरचनाओं के साथ भिन्न-भिन्न रूप में होती है। जनसंचार मूल्यों एवं विचारों की पारगम्यता में सहायक होता है जो प्रचलित संस्थापनाओं की निरंतरता में सहायता करते हैं। विकासशील देशों में जनसंचार का अधिकांशत: प्रयोग शासन अभिजन जनसामान्य को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए करता है।

सरकार एवं राजनीतिक दल : राजनीतिक दलों के सदस्यों तथा सरकारी सेवावर्गी लोगों के साथ व्यक्ति की निरंतर अंतर्क्रिया एवं कई बार सरकारी संगठनों के साथ उसका प्रत्यक्ष संबंध राजनीतिक मुद्दों एवं नीतियों के प्रति उसकी अभिमुखता एवं मनोवृत्तियों, जो उसने प्रारंभिक वर्षो में प्राप्त की है, को सुदृढ़ बनाने में सहायता करती है। कई बार सरकार राजनीतिक सामाजीकरण की प्रक्रिया में सीधे सहायता करती है। राजनीतिक दलों के द्वारा लोग समाज की राजनीतिक प्रक्रिया में सीधे शामिल होते हैं। राजनीतिक दलों के माध्यम से लोग राजनीतिक दृष्टि से समाजीकृत होते हैं एवं सिद्धांत बोध करते हैं। नागरिक समाज में केवल राजनीतिक दलों द्वारा ही क्रांतिकारी सामाजिक एवं राजनीतिक परिवर्तन लाया जा सकता है।

निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि एक राजनीतिक व्यवस्था की स्थिरता राजनीतिक सामाजीकरण के अभिकरणों के साथ गहन रूप से जुड़ी होती है। चूंकि राजनीतिक सामाजीकरण की प्रक्रिया एक निरंतर प्रक्रिया है, अत: राजनीतिक सामाजीकरण के अभिकर्ताओं में असंगतता का होना स्वभाविक ही है।

राजनीतिक सहभागिता

राजनीति सहभागिता प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था के मूल्यांकन एवं विश्लेषण के लिए केंद्रीय महत्त्व का विषय है। राजनीतिक व्यवस्था का चाहे कोई भी प्रारूप हो राजनीतिक सत्ताएं हमेशा शासन संचालन की प्रक्रिया में जनसामान्य की राजनीतिक भागीदारी को सुनिश्चित करने के लिए हमेशा प्रयासरत रही हैं। यहां तक कि आधुनिक गैर-लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्थाओं में भी जनसाधारण की राजनीतिक सहभागिता के विचार पर सर्वाधिकारवादी शासक भी हमेशा जोर देते हैं। शासन संचालन की लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में राजनीतिक सहभागिता के विचार पर अधिक महत्त्व दिया जाता है। राजनीतिक सहभागिता की इस प्रक्रिया द्वारा सत्ताओं एवं लोगों के मध्य एक सन्निकटता विकसित होती है।

राजनीतिक सहभागिता के अध्ययन का अभिप्राय जनसाधारण का यथार्थता नीतिनिर्माण प्रक्रिया में सम्मिलित होने से है न कि सम्मिलित होने की लोकप्रिय मनोवृत्ति मात्र से है। यह लोक नीतियों के निर्माण व क्रियान्वयन को प्रभावित करने के लिए समूहों या लोगों के द्वारा किए जाने वाले समस्त राजनीतिक गतिविधियों का अध्ययन करता है। यह उन लोगों के राजनीतिक सहभागिता के स्तर से संबध है जो अधिकांशत: सहभागिता में सम्मिलित होते हैं।

उदार लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में सहभागिता के विभिन्न रूपों का होना एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। चुनाव में मतदान केवल एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें अधिकांश जनता सहभागी के रूप में कार्य करती है। सहभागिता के अन्य प्रकार भी हैं; जैसे हित समूह, चुनाव प्रचार, राजनीतिक दल एवं सरकारी गतिविधियां; किंतु इनमें वास्तव में कम लोग ही सहभागी हो पाते हैं। यह एक रुचिकर बात है कि सहभागिता की प्रक्रिया एक समाज से दूसरे समाज में भिन्न होती है। कुछ समाजों में यह ऐसी राजनीतिक गतिविधियों का रूप भी धारण कर लेती है, जैसे राजनीतिक प्रतिरोध जिसमें इसके गैर-कानूनी एवं हिंसक रूप भी सम्मिलित हैं। वास्तव में बहिष्कार एवं हड़ताल व्यवस्थाओं को प्रभावित करने के कुछ शक्तिशाली तरीकों के रूप में उभरी है। हालांकि अधिकांश देशों में हिंसा एवं सार्वजनिक संपत्ति को क्षति पहुंचाने की आलोचना की जाती है तथा इन गतिविधियों को गैर-कानूनी करार दिया जाता है क्योंकि इन गतिविधियों से संरचनात्मक. आधारों पर टिकी राजनीतिक व्यवस्था का ढांचा चरमरा सकता है। यही कारण है कि आतंकवादी हिंसा की विश्वव्यापी निंदा की जाती है।

कुछ राजनीतिक वैज्ञानिकों ने राजनीतिक सहभागिता की चर्चा करते हुए 'श्रेणीबद्ध राजनीतिक संलग्नता' की अवधारणा पर बल दिया है – जैसे 'दर्शकों के क्रियाकलाप' (Spectator activities) और 'पूर्णतः सक्रीय क्रियाकलाप' (Gladiatorial activities)। दर्शकों के क्रियाकलाप उनके द्वारा मतदान किए जाने तक सीमित हैं। पूर्णत: सक्रिय क्रियाकलापों में सम्मिलित गतिविधियां राजनीतिक कोषों में अनुदान के लिए अनुनय विनय तथा सरकारी एवं दलीय. पदों पर आसीन होने तक होती है। जबकि 'दर्शकों के क्रियाकलाप' केवल मतदान तक सीमित रहते हैं। किंतु जनसंख्या को पूर्णत: इन दो पृथक भागों में नहीं बांटा जा सकता। लोग विभिन्न तरीकों के द्वारा सहभागी बनते है। इनमें विरोध के लिए मतदान तथा जनप्रदर्शन जैसे परंपरागत साधनों का भी प्रयोग किया जाता है। वास्तव में, पश्चिमी यूरोप एवं स्केन्डेनेवियन देशों के हाल के अध्ययनों से यह ज्ञात होता है कि लोकतांत्रिक अभिव्यक्ति एवं राजनीतिक गतिविधि के परंपरागत रूपों का धीरे-धीरे ह्रास होता जा रहा है। लोग राजनीतिज्ञों एवं राजनीतिक व्यवस्थाओं के अत्यधिक आलोचक हो गए हैं; तथा संभवत: इसीलिए वे निजी उद्देश्यों एवं लक्ष्यों की पूर्ति हेतु राजनीतिक क्रिया के गैर-संस्थात्मक रूपों में अधिक रुचि लेने लगे है।

सूचना एवं संचार तकनीक में हुए नए विकासों ने भी सहभागिता की प्रवृत्ति को रूपांतरित कर दिया है। यही नहीं, कंप्यूटर युक्त सुविधाओं ने स्थानीय एवं राष्ट्रीय, दोनों स्तरों पर नागरिकों की राजनीतिक सहभागिता के नए रूपों को जन्म दिया है। आजकल लोग इलेक्ट्रॉनिक मशीनों के द्वारा मत डालते हैं जिसके फलस्वरूप कंप्यूटर तकनीक ने तीव्रता के साथ सरकार तक अपने मत या राय पहुंचाने में नागरिकों को सक्षम कर दिया है।

इस संबंध में प्रश्न यह उठता है कि हम सहभागिता के विभिन्न स्तरों को किस प्रकार से स्पष्ट करें। जनसाधारण में कुछ लोग अन्य लोगों की अपेक्षा ज्यादा

सहभागी क्यों होते हैं? सहभागिता के अंतर को प्राय: आर्थिक एवं राजनीतिक स्रोतों तथा सहभागियों की रुचि के संदर्भ में स्पष्ट कर दिया जाता है। आर्थिक संसाधनों में संपत्ति को सम्मिलित किया जाता है जबकि राजनीतिक संसाधनों में शिक्षा एवं सूचना तक पहुंच जैसे कारकों को सम्मिलित किया जाता है। इन संसाधनों द्वारा व्यक्तियों में उन क्षमताओं को पैदा किया जाता है जिनका संबंध उनके अपने विचारों एवं रुचियों को अभिव्यक्त एवं विकसित करने से होता है, ताकि सत्ताधारियों तक उनकी आवाज पहुंच सके। वास्तव में जनसंख्या के इस भाग की सापेक्ष रूप से वंचित वर्ग की अपेक्षा राजनीतिक प्रक्रियाओं में अधिक भागीदारी होती है। व्यवस्था में ये लोग ज्यादा निहित हित प्राप्त करते हैं क्योंकि उनकी शिक्षा एवं स्रोत उनके हितों को प्राप्त करने में ज्यादा सशक्तता से सहायता कर सकते हैं। यही कारण है कि सामान्यत: यह माना जाता है कि लोकतंत्र मध्यम वर्ग या उच्च मध्यम वर्ग से संबंधित होता है। इसका एक कारण यह भी है कि राजनीतिक सहभागिता ने प्रचलित असमानताओं को अधिक सुदृढ़ करने का प्रयास किया है।

सहभागिता के प्रतिमान हम सभी को मौलिक रूप से प्रभावित करते हैं। मध्यम एवं उच्च वर्ग की सहभागिता इसलिए होती है, क्योंकि व्यवस्थाओं में उनका दाव लगा होता है। निम्न वर्ग को व्यापक आर्थिक सुविधाओं के नाम पर या अधिक स्पष्ट शब्दों में कहें तो रोटी, कपड़े और मकान के नाम पर या इंदिरा गांधी के 'गरीबी हटाओ' जैसे नारों के नाम पर राजनीतिक सहभागिता के लिए तैयार किया जाता है। किंतु उदार लोकतंत्र की अंतत: सफलता व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति की भागीदारी पर निर्भर करती है। जब लोक संसाधनों को मध्यम एवं उच्च वर्ग, निजी उपयोग के लिए प्रयोग करते हैं तो ऐसी व्यवस्था में प्रचलित आर्थिक असमानताएं और ज्यादा व्यापक होती हैं, तथा वहां राजनीतिक व्यवस्था के प्रति सामान्य नागरिकों की प्रतिबद्धता का स्तर कम अवश्य ही होता है। अमेरिका जैसे विकसित देशों की राजनीतिक संस्कृति हमारे यहां की राजनीतिक संस्कृति से इसी विशेषता के कारण भिन्न है। हम अभी तक सहभागिता की वह प्रक्रिया विकसित करने में सक्षम नहीं हो सके है, जिसमें प्रत्येक नागरिक यह महसूस करे कि व्यवस्था में बने रहना एवं उसकी निरंतरता में उसका अपना ही हित है।

सर्वाधिकारवादी राज्यों में भी सहभागिता पाई जाती है, किंतु इसका स्वरूप उदार लोकतंत्रों से भिन्न होता है। चीन जैसे राज्यों में इसका प्रयोग सरकार को पदयुक्त करना नहीं, अपितु उसे समर्थन की अभिव्यक्ति के रूप में किया जाता है। इस प्रकार की व्यवस्था में सहभागिता इस तरह से कार्य करती है कि मतदान के समर्थन द्वारा व्यापक जनसमूह संगठित किया जाता है। हालांकि शक्तियां केंद्रीय समितियों में ही निहित होती है, किंतु व्यवहार में नागरिकों को सभी स्थानीय सत्ताओं में सहभागिता की अनुमति प्रदान की जाती हैं। वास्तव में उन मामलों में श्रमिकों की निश्चित भागीदारी होती है, जो प्रत्यक्षत: उन्हें प्रभावित करती हैं। इसीलिए ऐसे कुछ देश सहकारी आंदोलनों को विकसित करने में सफल रहे हैं। यहां तक कि दलीय स्तर के सहभागियों में भी एक ओर कृषक एवं श्रमिक वर्ग है तो दूसरी ओर नौकरशाही एवं प्रबंधकीय वर्ग। चीन में विशेषकर प्रारंभिक पुरानी पीढ़ी ने अधिक शिक्षित एवं तकनीकी दृष्टि से प्रशिक्षित नेतृत्व वाली नई पीढ़ी को मौका प्रदान किया है। इसका परिणाम यह हुआ कि उदार लोकतंत्रों की भांति यहां भी सहभागिता के क्षेत्र को व्यक्ति की शिक्षा एवं स्रोतों के साथ जोड़ा जाता है।

राजनीतिक विकास

राजनीतिक विकास शब्द राजनीति विज्ञान के शब्द कोश में 1950 के दशक में सम्मिलित हुआ। विदेशी प्रभुत्व से तृतीय विश्व के बहुत सारे देशों के उद्भव होने के साथ ही राजनीतिक वैज्ञानिकों में विकासशील देशों की प्रक्रिया के अध्ययन के लिए व्यापक शैक्षणिक रुचि जाग्रत हुई। प्रमुख राजनीतिक वैज्ञानिक, गैब्रीयल ए. आमंड का कहना है कि राजनीतिक विकास की अवधारणा का विकासशील देशों के संदर्भ में एक नैतिक एवं राजनीतिक अच्छाई के रूप में विश्लेषण एवं विवेचन करना चाहिए।

वास्तव में, 1950 के दशक के अंत में एवं 1960 के दशक के प्रारंभ में एशिया, अफ्रीका एवं लेटिन अमेरिका के नए राष्ट्रों की अंतर्राज्य व्यवस्था अध्ययनों पर संपूर्ण विश्व में बौद्धिक रुचि बनी रही। इन नव स्वतंत्र राष्ट्रों के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं जनसांख्यिकी पक्षों पर बहुत सारे सांख्यिकीय एवं गुणात्मक आंकड़े एकत्रित किए गए हैं, ताकि इन देशों की अभिवृत्तियों, मूल्यों एवं व्यवहार प्रतिमानों का विश्लेषण हो सके। राजनीतिक विकास के अवधारणात्मक ढांचों पर समाज वैज्ञानिकों में कोई सर्वसहमत धारणा नहीं पनप सकी है। समाजशास्त्रियों, इतिहासकारों, राजनीतिशास्त्रियों तथा मानवशास्त्रियों ने राजनीतिक विकास की अवधारणा का अपने-अपने दृष्टिकोण से विश्लेषण किया है। किंतु इन राजनीतिशास्त्रियों एवं समाज वैज्ञानिकों में से अधिकांश ने विकसित देशों, विशेषकर अमेरिका की विकास प्रक्रिया के प्रारूप पर बल दिया है। यह कहा गया कि यह एक ऐसा मॉडल है, जिसे विकासशील देशों को भी अपनी राजनीतिक विकास प्रक्रिया के लिए अपनाना चाहिए।

रोस्टॉव के अनुसार विकासशील देशों को अपने स्वयं विकास हेतु विकसित देशों के राजनीतिक व्यवहार के नियमों तथा संस्थात्मक संरचना को अपना लेना चाहिए। उसका कहना था कि 'औद्योगिक समाज अन्य समाजों के लिए राजनीतिक विकास के प्रारूप का निर्धारण करता है।' एडवर्ड शिल्स ने राजनीतिक विकास की अवधारणा को राष्ट्र-राज्य निर्माण प्रक्रिया के समीकृत माना है।

राजनीतिक विकास के अधिकांश विद्वानों ने राजनीतिक विकास की अवधारणा को अमेरिकी विकास प्रक्रिया के अनुरूप देखा है। वे असंगत एकरूपता से सुसंगत विभिन्नता के अमेरिकी विकास के प्रतिमान को विकासशील देशों के राजनीतिक विकास के मॉडल के रूप में प्राय: उद्धृत करते हैं। ल्यूसियन डब्ल्यू. पाई, जिसे इस विषय का अधिकारिक विद्वान माना जाता है, ने राजनीतिक विकास का संबंध मुख्य तीन विषयों से जोड़ा है। ये विषय हैं : राजनीतिक जीवन में समानता, राजनीतिक क्षमता एवं सरकारी निष्पादन और संरचनाओं का विभिन्नीकरण एवं विशिष्टीकरण। पाई के अनुसार बढ़ता हुआ विभिन्नीकरण एवं विशिष्टीकरण समाज में व्यापक पंथनिरपेक्षीकरण को बढ़ावा देगा।

सैमुअल पी. हंटिंगटन ने पाई के विकास के नृजातीय मॉडल का एक सुधरा रूप प्रस्तुत किया है। उसका मानना है कि राजनीतिक स्थायित्व का अनुरक्षण राजनीतिक विकास के अंतिम लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। हंटिंगटन ने राजनीतिक विकास के मूल तत्त्वों के रूप में दो पक्षों पर जोर दिया है। ये हैं : राजनीतिक व्यवस्था में उच्च स्तरीय संस्थाकरण तथा लोकसहभागिता का बढ़ता हुआ स्तर। उसके अनुसार जहां एक ओर राज्य व्यवस्था में उच्च स्तरीय संस्थाकरण ही अनुकूलता, जटिलता, स्वायतत्ता एवं सुसंगतता को अच्छी तरह से अभिव्यक्त करता है। दूसरी ओर व्यवस्था, सामाजिक संरचनाओं के प्रत्येक स्तर पर निर्णय प्रक्रिया में जनसहभागिता को स्थायित्व

प्रदान करता है। इस मान्यता के अनुसार व्यवस्था के भीतरी स्तरों में स्थायित्व को संस्थाकरण एवं सर्वस्वीकृत सहभागिता से उत्पादित पारस्परिक क्रिया के रूप में देखा जा सकता है।

इल्लिस जैसे अर्थशास्त्रियों का मानना है कि आर्थिक विकास राजनीतिक विकास की पूर्व शर्त है। कुछ लोगों ने राजनीतिक विकास को राजनीतिक आधुनिकीकरण के समानार्थक माना है। कुछ अन्य लोगों ने इसे औद्योगिक समाज, प्रशासकीय एवं कानूनी विकास, लोकतंत्र का निर्माण, स्थायित्व एवं व्यवस्थात्मक परिवर्तन, शक्ति गत्यात्मकता और जनसहभागिता के प्रतीक के रूप में देखा है।

सामाजिक रूपांतरणों के विभिन्न चरणों में राजनीतिक विकास की अवधारणा में परिवर्तन आते रहे हैं। 1980 के दशक में औरगेन्सकी जैसे विद्वानों ने राजनीतिक विकास की अवधारणा की व्यवस्थात्मक आनुभविक वैधता की प्रक्रिया पर जोर दिया हैं। उसने विकास को सामान्य हित के लिए राष्ट्र के मानवीय एवं भौतिक संसाधनों के प्रयोग में बढ़ती हुई सरकारी कार्यदक्षता के रूप में परिभाषित किया है। उसने राजनीतिक विकास के मूल पक्ष के रूप में राष्ट्रीय राजनीतिक क्षमता की अवधारणा पर भी जोर दिया। राजनीतिक क्षमता की अवधारणा विकास के दो मूल पक्षों से संबंधित हैं। सरकार द्वारा चयनित नीतियों के क्रियान्वयन हेतु राजस्व एकत्र करने की क्षमता, तथा मानवीय स्रोतों को गतिशीलता प्रदान करने की क्षमता।

1990 के दशक में रॉबर्ट डब्ल्यू. जैकमैन जैसे विद्वानों ने राजनीतिक विकास का तात्पर्य वैधानिक राजनीतिक संस्थाओं के निर्माण के लिए व्यवस्थात्मक क्षमता माना। वैधता संरचना एवं शक्ति संबंधों के क्रियान्वयन के लिए आवश्यक है। वैधता, राजनीतिक विरोध पर शक्ति प्रयोग किए बिना भी संघर्षों के समाधान में सहायक होती है।

राजनीतिक विकास की अवधारणा में यह जानना जरूरी है कि राजनीतिक विकास में किसी भी सार्वभौम रणनीति को अपनाना विकासशील देशों के लिए अनिष्टकारी सिद्ध हो सकता है क्योंकि यह जनमानस में ऐसे भ्रम उत्पन्न कर सकता है जिसका उनके देश के सामाजिक, आर्थिक ढांचें एवं परिस्थितियों से कोई संबंध न हों। इसका तात्पर्य यह नही है कि बाहरी मॉडल सदैव अप्रासंगिक होते हैं।

विकास की प्रक्रिया को लोगों की रुचि से अलग नही किया जा सकता। भारत के राजनीतिक विकास प्रक्रिया में इस पक्ष को ध्यान रखने में चूक हुई है। मार्क्स के "स्वतंत्रता का साम्राज्य (Kingdom of Freedom) को जीतने पर जोर देने का कई विकासशील देशों की नीतियों एवं कार्यक्रमों पर व्यापक प्रभाव है। मॉओ ने 1940 में ही यह घोषित कर दिया था कि मार्क्सवाद को सफल बनाने के लिए इसे राष्ट्र विशेष के लक्षणों के साथ जोड़कर एक निश्चित राष्ट्रीयता का स्वरूप प्रदान करना होगा।

विकास के एक दिशा वाले मॉडलों के समर्थकों को यह महसूस करना होगा कि जीवन विभिन्नताओं की समृद्धता में ही विकसित होता है। विकासशील देशों को अपने-अपने ऐतिहासिक पहलुओं को विशिष्ट विशेषताओं से जोड़कर क्रमश: राजनीतिक विकास कार्यक्रमों से संलग्न करना होगा।

निष्कर्षत: हम यह कह सकते हैं कि निम्नलिखित तीन तत्त्वों के संदर्भ में राजनीतिक विकास का एक अधिक संतोषजनक अभिमत प्रतिपादित किया जा सकता है। सर्वप्रथम तो राजनीतिक विकास की किसी भी अवधारणा को आर्थिक पिछड़ेपन एवं निर्भरता की समस्याओं से अपना संबंध जोड़ना होगा। प्रत्येक व्यवस्था का मूल्यांकन इस तथ्य पर आधारित होना चाहिए कि क्या वह व्यवस्था अपने नागरिकों को न्याय, समानता और उर्वरता दिलाने में सक्षम है ? द्वितीयत: किसी भी

सिद्धांत को व्यवस्था के आनुभविक एवं नियमक व्यवहार के बीच सामंजस्य स्थापित करना चाहिए जो अच्छे समाज में सही आधार पर बल देता हो। व्यक्ति एवं समाज के मध्य आदर्श संबंध के संस्थापित आधार को पुन: सक्रिय किया जाना चाहिए। अंत में, राजनीतिक विकास की अवधारणा से संबंधित राजनीतिक व्यवस्था को पूर्ण निरपेक्ष स्थितियों के संदर्भ में जांचना चाहिए। राजनीतिक विकास अलगावयुक्त तथ्य नहीं है। इसीलिए सभी पश्चिमी आदर्शों को तृतीय विश्व के विकासशील देशों की सामाजिक-आर्थिक यथार्थताओं के साथ संबद्ध करना आवश्यक है।

अभ्यास

1. राजनीतिक सामाजीकरण से आप क्या समझते हैं?
2. राजनीतिक सामाजीकरण की प्रक्रिया में विभिन्न कारकों के योगदान का वर्णन कीजिए।
3. राजनीतिक सहभागिता के अर्थ और उसके महत्त्व का विश्लेषण कीजिए।
4. राजनीतिक विकास की व्याख्या कीजिए।
5. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :
   (क) गौण समूह (पियर ग्रुप)
   (ख) जनसंचार
   (ग) ल्यूसियन डब्ल्यू. पाई की राजनीतिक विकास संबंधी धारणा

अध्याय 11

प्रतिनिधित्व की पद्धतियां

समसामयिक राजनीतिक व्यवस्थाओं में लोकतंत्र को उदारवाद के साथ परिभाषित किया जाता है, किंतु 18वीं एवं 19वीं शताब्दियों में ऐसा नहीं था। तब संस्थापित उदारवाद (Classical Liberalism) का संबंध उस पूंजीवादी बाजार अर्थव्यवस्था से था, जिसने व्यक्ति द्वारा असीमित संपत्ति को अर्जित करने के अधिकार पर बल दिया था। तब संपत्ति की योग्यता को राजनीतिक प्रतिनिधित्व की प्रक्रिया में सहभागिता हेतु एक आवश्यक शर्त के रूप में स्वीकार किया जाता था। तदुपरांत ऐतिहासिक कारणों के फलस्वरूप संस्थापित उदारवाद की, जिसे कि प्रारंभिक संस्थापित अवस्था में लोकतांत्रिक मूल्यों एवं प्रक्रियाओं के मूलत: विपरीत माना जाता था, उसे अब लोकतंत्र के आवश्यक साझेदार के रूप में स्वीकार किया जाने लगा। पूंजीवाद एवं बाजार अर्थव्यवस्था ने बड़े पैमाने में औद्योगिकीकरण एवं शहरीकरण की प्रक्रिया को जन्म दिया। राजनीतिक व्यवस्था की निर्णय-निर्माण प्रक्रिया में सहभागिता हेतु श्रमिक वर्ग आंदोलन की मांग ने लोकतंत्र की अवधारणा को नई गति प्रदान की है एवं उसके क्षितिज को व्यापक बनाया है। इस प्रकार उदारवादी राज्य, स्वतंत्र बाजार अर्थव्यवस्था और सर्वव्यापक वयस्क मताधिकार के सिद्धांतों का संयुक्तीकरण हो गया है। सी.बी. मेकफरसन के मतानुसार, "उदारवादी राज्य की भांति उदारवादी सिद्धांत 19वीं शताब्दी तक किसी भी रूप में लोकतांत्रिक नहीं था। अधिकांशत: वह प्रत्यक्ष लोकतंत्र विरोधी था।"

आज लोकतंत्र शब्द को प्रतिनिधिक लोकतंत्र के समकक्ष समझा जाता है। प्रतिनिधिक लोकतंत्र में लोगों को सार्वभौम वयस्क मताधिकार के सिद्धांत के आधार पर सामयिक निर्वाचन के द्वारा अपने प्रतिनिधियों के चुनाव का अधिकार प्राप्त होता है। इस व्यवस्था के अंतर्गत जाति, पंथ, धर्म, भाषा एवं संस्कृति के आधार पर होने वाले भेदभाव को सामान्यत: प्रतिबंधित कर दिया जाता है। समय-समय पर होने वाले सामान्य चुनाव में सहभागिता हेतु निर्धारित आयु विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न होती है। भारत में आम चुनाव में भाग लेने की निर्धारित आयु 18 वर्ष है, जबकि ब्रिटेन एवं कुछ अन्य देशों में यह 21 वर्ष है। कुछ देशों में सामान्य निर्वाचन के दौरान नागरिकों को मतदान में सहभागिता हेतु कानून द्वारा बाध्य किया जाता है। ये देश हैं : नेदरलैंड्स (1917) तथा बेल्जियम (1893)।

प्रतिनिधित्व की दो वैकल्पिक व्यवस्थाएं होती हैं:

- क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व, एवं
- कार्यात्मक प्रतिनिधित्व।

क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व को भौगोलिक प्रतिनिधित्व के रूप में भी जाना जाता है। इस व्यवस्था के अंतर्गत संपूर्ण देश को लगभग समान जनसंख्या आधारित

क्षेत्रों में बांट दिया जाता है। कार्यात्मक प्रतिनिधित्व में पेशे या कार्यों के प्रतिनिधित्व पर बल दिया जाता है। लोगों का विभिन्न पेशों तथा कार्यों से संबंध होता है। अतः यहां इन्हीं के आधार पर प्रतिनिधित्व दिया जाता है। यद्यपि क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व व्यवस्था में लोगों का अपने प्रतिनिधियों के साथ निकट का संबंध संभव हो जाता है, किंतु कई बार इस व्यवस्था में राष्ट्रीय मुद्दों के स्थान पर स्थानीय मुद्दों को महत्त्व दे दिया जाता है।

जब किसी क्षेत्र का प्रतिनिधित्व एक प्रतिनिधि द्वारा किया जाता है तो उसे एक-सदस्यीय चुनाव क्षेत्र कहा जाता है। इसके विपरीत जब चुनाव क्षेत्रों का एक से अधिक प्रतिनिधियों द्वारा प्रतिनिधित्व किया जाता है तो वह बहु-सदस्यीय चुनाव क्षेत्र कहलाता है। स्वतंत्रता से पहले भारत में अल्पसंख्यकों एवं विशिष्ट हितसमूहों हेतु पृथक निर्वाचन क्षेत्र होते थे।

प्रोफेसर शेपर्ड के अनुसार प्रतिनिधित्व के तीन प्रमुख सिद्धांत हैं : प्रारंभिक आदिवासी सिद्धांत, सामंतवादी सिद्धांत एवं नैतिक सिद्धांत। ग्रीक नगर-राज्यों के समय जो राजनीतिक व्यवहार प्रचलन में था, उसे प्रतिनिधित्व के आदिवासी सिद्धांत के रूप में जाना जाता है। इस व्यवस्था के अंतर्गत मत के अधिकार को राज्य की सदस्यता के लिए आवश्यक शर्त के रूप में स्वीकार किया जाता था। सामंतवादी सिद्धांत राज्य में मताधिकार के लिए संपत्ति की शर्त पर जोर देता है। नैतिक सिद्धांत यह स्वीकार करता है कि मताधिकार प्रत्येक नागरिक का प्राकृतिक एवं अंतः निहित अधिकार है।

प्रतिनिधित्व के सिद्धांत

निर्णय-निर्माण प्रक्रिया में प्रतिनिधियों की भूमिका के बारे में भिन्न-भिन्न मत रहे हैं। कुछ लोग जहां प्रतिनिधियों के लिए सीमित भूमिका का पक्ष लेते हैं वहीं अन्य नीति-निर्माण की संपूर्ण प्रक्रिया पर उनके नियंत्रण का समर्थन करते हैं। प्रतिनिधित्व के विभिन्न सिद्धांत इस मुद्दे का विभिन्न दृष्टिकोणों से विश्लेषण करने की चेष्टा करते हैं।

प्रतिनिधित्व का सत्तावादी सिद्धांत

थामस हॉब्स एवं अलेक्जेन्डर हेमिल्टन इस सिद्धांत के मुख्य प्रतिपादक थे। यह सिद्धांत व्यवस्था एवं सत्ता की भूमिका (जिसका प्रतिनिधित्व कार्यकारणी करती है), पर बल देता है। इस सिद्धांत के अंतर्गत लोगों के प्रतिनिधियों की भूमिका बहुत सीमित ही रहती है। यह सिद्धांत राजनीतिक नेताओं के श्रेष्ठ ज्ञान और बुद्धिमत्ता पर जोर देता है। इन पर लोक नियंत्रण का कोई प्रावधान नहीं होता। हाब्स ने विशेषतया राजा की सत्ता का समर्थन किया।

हाब्स के मतानुसार आनुमानिक सामाजिक समझौते के अंतर्गत लोगों ने आपस में समझौते के अनुसार अपनी शासन करने की शक्ति किसी व्यक्ति-विशेष अथवा व्यक्ति समूह (राजा/संसद) को सौंपी ताकि प्रत्येक व्यक्ति का जीवन सुरक्षित हो सके। इस प्रकार संप्रभु/सरकार की स्थापना लोकतांत्रिक पद्धति से हो जाती है, क्योंकि राज्य का निर्माण करने वाले लोगों ने इसके लिए अपनी सहमति प्रकट की है। लेकिन सत्ता प्राप्ति के बाद सत्ताधारी सरकार सर्वशक्तिमान हो जाती है।

प्रतिनिधित्व का उग्रवादी सिद्धांत

इस सिद्धांत के मुख्य समर्थक रूसों एवं नव वामपंथ के प्रस्तावक रहे हैं। यह सिद्धांत प्रतिनिध्यात्मक सरकार की व्यवस्था में विश्वास नहीं करता। यह शासन संचालन की प्रक्रिया में लोगों की प्रत्यक्ष सहभागिता में विश्वास करता है। विधि-निर्माण प्रक्रिया में जनता

द्वारा प्रत्यक्ष भागेदारी को प्रत्यक्ष लोकतंत्र कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, प्रत्यक्ष लोकतंत्र में नागरिक निर्णय-निर्माण में स्वयं भाग लेते हैं न कि उनके द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि, किंतु इस प्रकार की प्रत्यक्ष सहभागिता केवल छोटे प्रदेशों में ही संभव है। प्राचीन काल में यह एथेन्स के नगर-राज्य में पाई जाती थी। आज भी स्विट्जरलैंड में 'जनमत संग्रह' (Plebiscite) एवं 'वापस बुलाने' (Recall) की प्रक्रिया पाई जाती है।

प्रतिनिधित्व का प्रतिरूप सिद्धांत

जान लॉक एवं थामस जैफरसन इसके मुख्य प्रतिपादक है। यह सिद्धांत इस विचार पर जोर देता है कि विधायिकाओं को समाज का प्रतिबिंब होना चाहिए। प्रतिनिधियों को जनता के अभिकर्ताओं के रूप में स्वीकार किया जाता है एवं वे अपने क्षेत्र की मांगों को-नीति संरचनाओं में बदलते हैं। इस सिद्धांत का जनसामान्य की बुद्धिमत्ता में गहरा विश्वास है। यह समानता के सिद्धांत पर आधारित थी।

प्रतिनिधित्व का अभिजनवादी सिद्धांत

इस सिद्धांत की मान्यता है कि प्रतिनिधि ज्यों ही निर्वाचित होता है, जनसामान्य को नेतृत्व प्रदान करने का उसका विशिष्ट उत्तरदायित्व हो जाता है। वे केवल मतदाताओं द्वारा प्रदान किए गए निर्देशों तक ही अपने कार्य को सीमित नहीं रखते, बल्कि वे परिवर्तन के अभिकर्ताओं के रूप में यह भी निर्णय लेते हैं कि समाज के लिए सर्वोत्तम क्या है। इस सिद्धांत के विरोध में यह आरोप लगाया जाता है कि यह सिद्धांत इस अर्थ में अलोकतांत्रिक है कि यह राजनीतिक अभिजन वर्ग के राजनेताओं की बुद्धिमत्ता में विश्वास करता है। यह इस वर्ग को लोकहित का संरक्षक स्वीकार करता है। प्रतिनिधित्व का रूढ़िवादी सिद्धांत शासन संचालन की प्रक्रिया में लोकप्रिय सहभागिता को बढ़ावा नहीं देता। किंतु ऐसे समाज जिसमें निरक्षरता एवं गरीबी पाई जाती है तथा जहां लोग इस स्थिति में नहीं हैं कि वे जटिल मुद्दों को समझ सकें, वहां प्रतिनिधियों को संकीर्ण मतांधवादी हितों से ऊपर उठना चाहिए एवं संपूर्ण राष्ट्र के संदर्भ में दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। यह दृष्टिकोण हमारे जैसे देश के लिए, जहां भाषा, धर्म, जाति, वर्ग, आदि की भिन्नता है, वहां विशेषतया महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

प्रतिनिधि, निहित स्वार्थों एवं मतांधवादी हितों के कैदी न बन जाएं, इसलिए जरूरी है कि उन्हें विभिन्न विशिष्टताओं से ऊपर उठने में सक्षम होना चाहिए तथा एक पूर्ण राष्ट्र के संदर्भ में विषयों के प्रति एक समग्रता का दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। समसामयिक निर्णय प्रक्रिया एवं शासन संचालन का प्रारूप इतना जटिल है कि प्रत्यक्ष लोकतंत्र में सामान्य लोगों की सहभागिता संभव नहीं हो पाती। आज प्रतिनिधित्व करना बहुत ही जटिल कार्य हो गया है। एक तरफ उसे जिन लोगों का वह प्रतिनिधि है उनकी इच्छाओं को पूरा करना पड़ता है, तो दूसरी तरफ उसका दायित्व समाज के संपूर्ण हितों की अनुरूपता के साथ इन इच्छाओं को आकार देने का भी हो जाता है।

सही प्रतिनिधित्व प्रजातांत्रिक व्यवस्था की सफलता का केंद्र बिंदु है। लोकतंत्र की शास्त्रीय परिभाषा लोकतंत्र को जनता *का*, जनता *द्वारा* और जनता के *लिए* शासन समझती है। यदि ऐसा है तो, हम सभी लोगों को शासन को सफलतापूर्वक चलाने के लिए सजग रहना होगा। यह आवश्यकता जनता के उचित एवं राष्ट्रीय प्रतिनिधित्व की कामना करती है, और यह कामना शिक्षित नागरिकों एवं चैतन्य जनमत की मांग करती है। इसलिए कहा जाता है कि लोकतंत्र शासन का एक तरीका मात्र ही नहीं, अपितु एक जीवनपद्धति भी है।

अभ्यास

1. प्रतिनिधित्व के भिन्न-भिन्न सिद्धांत कौन-कौन से हैं?
2. प्रतिनिधित्व की दो वैकल्पिक व्यवस्थाओं का उल्लेख कीजिए।
3. लोकतांत्रिक व्यवस्था में प्रतिनिधित्व के महत्त्व का वर्णन कीजिए।
4. संक्षिप्त टिप्पणी लिखें :
   (क) कार्यात्मक प्रतिनिधित्व
   (ख) प्रत्यक्ष लोकतंत्र
   (ग) प्रतिनिधित्व का अभिजनवादी सिद्धांत

इकाई चार

प्रमुख राजनीतिक सिद्धांत

अध्याय 12

उदारवाद

उदय एवं विकास

उदारवाद एक सिद्धांत है जिसका अभ्युदय यूरोप में ज्ञानोदय, इंग्लैंड की गौरवपूर्ण क्रांति तथा फ्रांस की क्रांति के परिणामस्वरूप हुआ। इन घटनाओं से उदारवाद की मूल मान्यताओं का जन्म हुआ। ज्ञानोदय से यह विचार उभरा कि कोई भी ऐसा नैतिक उद्देश्य नहीं होता जिसे हम पूर्ण रूप से सही मान सकें और इस कारण किसी राज्य के नागरिकों पर कोई एक जीवन-शैली आरोपित करना अनुचित है। इंग्लैंड की गौरवपूर्ण क्रांति ने इस मान्यता को जन्म दिया कि किसी भी प्रकार के शासन तंत्र में दैवी अधिकार का कोई औचित्य नहीं हैं। इसी क्रम में फ्रांस की क्रांति ने इस धारणा को जन्म दिया कि व्यक्ति की स्वतंत्रता इतनी पावन है कि कोई भी सत्ता उसकी अवहेलना नहीं कर सकती। उदारवाद ऐसी राजतंत्रीय शक्ति के प्रत्युत्तर में जन्मा जिसका यह दावा था कि दैवी अधिकारों के आधार पर राजा की शक्ति निरंकुश होती है। इंग्लैंड में संपन्न वर्ग की प्रतिक्रिया राजा की उस शक्ति के विरूद्ध थी जिसके द्वारा वह बिना संसद की सहमति के प्रजा पर कर लगा सकता था। फ्रांस में भी उदारवाद राजतंत्र के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप में ही प्रकट हुआ, क्योंकि वहां राजा ने राजनीतिक प्रसंगों पर चर्चा तथा बहस रोकने की चेष्टा की थी। फ्रांसीसी मध्यम वर्ग ने अपनी आकांक्षाओं को "स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातृत्व" की विश्वप्रसिद्ध उक्ति के रूप में प्रस्तुत किया था। फ्रांसीसी मध्यम वर्ग में मुख्यतः व्यापारी, दुकानदार, बैंकर, बुद्धिजीवी एवं व्यवसायी सम्मिलित थे।

ये वर्ग उस सामंती अव्यवस्था और अराजकता का अंत चाहते थे जिसमें संभ्रान्त वर्ग के लोग लगातार एक-दूसरे से संघर्षरत थे। ये वर्ग पूंजी के संचय में अधिक रुचि रखते थे। सामाजिक अराजकता इनके लिए अनुकूल नहीं थी। वाणिज्यवाद (Mercantelism) के स्थान पर वे अहस्तक्षेप (Laissez Faire) के सिद्धांत पर आधारित मुक्त-व्यापार की आर्थिक व्यवस्था चाहते थे। ये वर्ग व्यापार, पूंजी-निवेश तथा व्यापारिक-वृद्धि के क्षेत्रों में पुराने हो चले आर्थिक नियंत्रण का भी अंत चाहते थे। उन्होंने बुर्जुआ वर्ग तथा कुलीनतंत्र में अंतर करने वाले वंशानुगत विशेषाधिकारों के अंत की भी पैरवी की। वे संसद की सर्वोच्चता चाहते थे। मॉन्टेस्क्यू की पुस्तक *दि स्पिरिट ऑफ लॉज*, बेन्थम की *फ्रेगमेंट ऑन गवर्नमेंट* तथा एडम स्मिथ की *वेल्थ ऑफ नेशन्स* उदारवाद के क्रमिक विकास की महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक अवस्थाओं का बोध कराती है।

उदारवादियों का तर्क था कि प्रत्येक व्यक्ति स्वंय निर्णय लेने वाला एक विवेकशील नागरिक है। अच्छा समाज वह है जो नागरिकों के हितों का अधिकतम

संवर्द्धन करता है। उन्होंने समाज को केवल ऐसे व्यक्तियों के समूह के रूप में निरूपित किया जिन्हें केवल अपने हितों की चिंता थी और जो इस उद्देश्य प्राप्ति हेतु शक्ति चाहते थे। उनकी दृष्टि में समाज में रहने वाले व्यक्तियों के कल्याण के अतिरिक्त और कुछ महत्त्वपूर्ण नहीं था। उनके विचार में सामाजिक कल्याण, सामूहिक कल्याण अथवा लोक-कल्याण जैसी मान्यताएं निरर्थक थीं। यदि समाज में कुछ था तो वह केवल व्यक्त्यिों का ऐसा समूह जिसमें हर किसी के निजी हित व्याप्त थे।

उत्पादन वृद्धि और बाज़ार तंत्र के माध्यम से ऐसे ही हितों को प्रोत्साहित किया गया। ये प्रयास व्यक्तिगत उद्यम तथा संपत्ति के असीमित अधिकार के विचारों पर आधारित थे। इनमें खुली प्रतियोगिता का प्रावधान था। प्रतियोगिता ही उत्पादनकर्ताओं, खरीददारों तथा उपभोक्ताओं के रूप में मानव संबंधों का निर्धारण करती थी। इसी से उत्पादन की प्रकृति तथा उत्पादित माल का मूल्य भी निर्धारित होता था। सभी आदर्शों के लिए बाजार प्रकिया ही प्रमुख प्रेरणा स्रोत थी। व्यक्ति अपने निजी हितों के आधार पर ही आवश्यक निर्णय लेता था। उदारवादियों का यह तर्क था कि यदि व्यक्तियों को उनके विवेकसम्मत हितों को पूरा करने की छूट दी जाए तो उस स्थिति में समाज में संतुलन बना रहेगा। उस स्थिति में वस्तुओं की कीमत का निर्धारण इस आधार पर होगा कि 'जो उत्पादित हुआ है उसे खरीददार खरीदने के लिए प्रेरित हो और उत्पादक वही उत्पादित करे जो खरीदा जा सके।' एडम स्मिथ के 'अदृश्य हाथ' की अवधारणा में यही मूल भाव व्यक्त किए गए हैं। इसका यह अभिप्राय था कि सामान्य कल्याण वास्तव में व्यक्ति की मूल अधिग्रहणकारी प्रवृत्ति के कारण से ही होता है। समाज का हर सदस्य वैयक्तिक रूप से जितना समृद्ध होता है ठीक उसी के अनुपात में राज्य भी समृद्ध होता है। इस विचार के परिणामस्वरूप समाज में विविध और परस्परविरोधी हितों में स्वत: ही सामंजस्य स्थापित हो गया था। उदारवादी विचार-योजना में व्यक्ति को उसके "स्वयं के रूप में ही" स्वतंत्र माना गया। राजनीति को स्वायत्त माना गया। यह माना गया कि राजनीति में संकीर्ण निहित स्वार्थों से ऊपर उठने की क्षमता विद्यमान है। समाज में मानव संबंधों के नियमन के लिए किसी केंद्रीय संगठन की आवश्यकता पर बल दिया गया। राज्य ऐसे ही संगठन का प्रतिनिधित्व करता है। राज्य की स्थापना व्यक्तियों ने अपनी हित-पूर्ति के उद्देश्य से की थी। उदारवादियों के अनुसार राज्य को कम से कम कार्य करने चाहिए। उनके विचार में सरकार का कार्य केवल परस्पर विरोधी हितों को समन्वित करना ही था। अपने इस रूप में सरकार को एक आवश्यक बुराई माना गया। इसी कारण जैसा बेन्थम ने कहा कि सर्वोत्तम सरकार वह है जो सबसे कम शासन करती है। उदारवादियों के अनुसार सरकार का मूल कार्य व्यक्ति के निजी संपत्ति विषयक प्राकृतिक अधिकार की सुरक्षा करना था। जॉन लॉक ने इस विचार को अभिव्यक्त किया। यदि सरकार यह सुरक्षा न दे सके तो उसके अस्तित्व का कोई औचित्य नहीं है। निजी हितों ने अपनेआप को प्रतिस्पर्धात्मक लोकतंत्र की संस्थात्मक व्यवस्थाओं द्वारा आगे बढ़ाना चाहा।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, स्वतंत्रता के सिद्धांत को, समानता के सिद्धांत से जोड़ा गया। स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातृत्व के मूल भाव फ्रांस की राज्यक्रांति में समाहित थे। स्वतंत्रता की अमेरिकी घोषणा में भी यही विचार निहित थे, परंतु ये उदारवादी व्यक्तियों में व्याप्त महत्त्वपूर्ण अंतरों के विषय में सचेत थे। उनका अभिप्राय यह था कि व्यक्तियों को उनकी महत्ता सिद्ध करने के लिए समान अवसर दिए जाएं। उन्होंने जन्म अथवा वंशानुगत आधार पर

कुलीनतंत्रीय दावे का प्रतिकार किया। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि समानता से संबंधित उदारवादियों का दावा केवल राजनीतिक दावा ही था। उनका आर्थिक समानता में कोई विश्वास नहीं था। उदारवादियों में से कुछ वस्तुत: यह मानते थे कि आर्थिक असमानता न केवल अपरिहार्य है बल्कि वह सभी संबंधित व्यक्तियों के लिए एक सकारात्मक गुण भी है।

द्वितीय चरण में, जॉन स्टुअर्ट मिल तथा थॉमस हिल ग्रीन जैसे विचारकों ने उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में उदारवादी सिद्धांत में सुधार किए। उनका यह विश्वास था कि व्यक्तियों के हित सामाजिक हितों से जुड़े हुए हैं। उन्होंने व्यक्ति के हित को सामान्य हित की भावना के साथ जोड़ दिया। ग्रीन ने ऐसे लोगों के अस्तित्व को स्वीकार किया जिन्हें उतनी भी स्वतंत्रता प्राप्त नहीं थी जितनी प्राचीनकाल में दासों को प्राप्त थी। इस बात पर भी ध्यान दिया गया कि एक ओर जहां अमीर और अधिक अमीर होते जा रहे थे वहीं दूसरी ओर गरीब उसी अनुपात में अधिक गरीब होते जा रहे थे। औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप एकाधिकारी प्रवृत्तियां पनपने लगी थीं। आर्थिक जीवन पर ऐसे थोड़े-से लोगों का नियंत्रण स्थापित होने लगा जो आर्थिक दृष्टि से समर्थ थे।

मिल तथा ग्रीन दोनों ने, तथा हमारे देश के महादेव गोबिंद रानाडे ने यह अनुभव किया कि प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार है कि उसे समान अवसर प्राप्त हों। ये सभी विचारक व्यक्ति और समाज के महत्त्व को निश्चित नहीं कर पा रहे थे। ग्रीन ने इस बात पर बल दिया कि व्यक्ति की स्वतंत्रता व उसकी संतुष्टि केवल समाज के माध्यम से ही संभव है। उसके अनुसार, ''समाज व्यक्ति की नैतिक मुक्ति का कार्य विविध सामाजिक एजेंसियों के माध्यम से निरंतर संपादित कर रहा है।'' इन उदारवादियों की यह भी मान्यता थी कि वितरण की समस्याओं के निराकरण की यह मांग है कि राज्य समाज के आर्थिक जीवन में सक्रिय हस्तक्षेप करें। राज्य को 'समुदायों का समुदाय' माना गया और यह अपेक्षा की गई कि वह समाज में सफाई व स्वास्थ्य के मानकों को लागू करे। यह भी अपेक्षा की गई कि वह सुनिश्चित करे कि मानवता का बड़ा भाग गरीबी व गंदगी की दुर्दशा में न रहे। राज्य से ऐसी परिस्थितियां बनाने की अपेक्षा की गई जिसमें सभी का समान विकास संभव हो सके। रानाडे इस विचार के समर्थक थे कि सभी को अवसर की समानता तथा पूर्ण रोजगार उपलब्ध कराते हुए राज्य को समाज में संपत्ति का पुनर्वितरण अवश्य करना चाहिए।

उदारवाद के इस नए रूप ने इस बात पर ठीक ही बल दिया कि सामाजिक अनुभव से व्यक्ति को जब कभी भी निराशा हो, उसे यह अपेक्षा करने का अधिकार है कि राज्य इन स्थितियों से उसका बचाव करेगा। समाज को केवल संपत्ति की वृद्धि के लिए ही नहीं अपितु मानव के संपूर्ण व्यक्तित्व के विकास हेतु अवसर प्रदान करने चाहिए। लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा ऐसे ही चिंतन का परिणाम है। 1930 के दशक में अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने इन्हीं आधारों पर अपना 'न्यू डील कार्यक्रम' प्रस्तुत किया था। सरकारों से यह अपेक्षा की गई थी कि वे मध्यम वर्ग के संपत्ति के स्वामित्व के प्रभाव का अंत करेंगी और वैयक्तिक अवसरों में अधिकतम वृद्धि करेंगी। आर्थिक कार्यक्षमता की गारंटी के रूप में मुक्त बाजार की धारणा को उन्होंने ठुकरा दिया। समान प्रतियोगिता की किसी व्यवस्था में 'अदृश्य हाथ' का महत्त्व हो सकता है, परंतु गंभीर विषमताओं वाली आर्थिक व्यवस्था में इसका कोई औचित्य नहीं है। चंद व्यापारिक घरानों के निर्णयों ने सभी व्यक्तियों के जीवन ढांचे को प्रभावित किया।

इस प्रकार लोककल्याणकारी राज्य ने शिक्षा को व्यापक स्तर पर उपलब्ध कराने का प्रयास किया। उसने श्रम की कार्यावधि, मजदूरी तथा श्रम की स्थितियों आदि को नियमित करने, कारखानों में बच्चों को मजदूरी पर लगाने तथा अर्थव्यवस्था में व्याप्त एकाधिकारी प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाने का प्रयत्न किया। यह माना गया कि सभी व्यक्तियों की राजनीतिक व नागरिक स्वतंत्रता के समुचित उपभोग के लिए आर्थिक स्वतंत्रता का विस्तार आवश्यक है। न्याय संबंधी अवधारणा में भी परिवर्तन हुआ। जॉन रॉल्स ने न्याय के विचार को इस प्रकार व्यक्त किया है : "राज्य को लाभ व बोझ की व्यवस्था इस ढंग से करनी होगी जिससे सबसे कम लाभ प्राप्त करने वाला व्यक्ति भी भाग्यशालियों के साधनों में हिस्सा प्राप्त कर सके।" आर्थिक चिंतन के क्षेत्र में जॉन मेनार्ड कीन्स तथा सामाजिक बीमे से संबंधित लॉर्ड बेवेरिज रिपोर्ट द्वारा क्रांति आई। इसमें सामाजिक बीमे को सामाजिक प्रगति की व्यापक नीति का एक भाग माना गया था। यह अभावों पर एक आक्रमण था। लॉर्ड बेवेरिज का यह तर्क था कि सुरक्षा संयोजित करते हुए राज्य को प्रोत्साहन व अवसर कम नहीं करने चाहिए। यद्यपि राज्य को सभी के लिए न्यूनतम संसाधन उपलब्ध कराने चाहिए, तथापि उसे स्वैच्छिक क्रियाओं के लिए पर्याप्त गुंजाइश भी रखनी चाहिए। भारत में महालेनोविस रिपोर्ट भी प्राय: इसी नीति पर आधारित थी। अर्थव्यवस्था में परिवर्तन लाने में थोड़े-थोड़े अनिश्चित व तदर्थ प्रयासों ने अपना आकर्षण खो दिया था। लोग अधिक व्यापक योजनाओं का समर्थन करने लगे थे। उनकी राज्य से यह अपेक्षा थी कि वह पूर्ण रोजगार तथा सुनियोजित आर्थिक वृद्धि के लिए कार्य करें जिसे रूजवेल्ट ने 'अभाव से मुक्ति' और इंदिरा गांधी ने 'गरीबी हटाओं' की संज्ञा दी। राज्य ने इस प्रकार सामाजिक व सांस्कृतिक कमियों को दूर करने का प्रयास किया। अत: मानव समानता, स्वतंत्रता व न्याय के आदर्शों के विकास की पराकाष्ठा लोककल्याणकारी राज्य का आदर्श है।

उदारवाद में अंतर्विरोध

उदारवाद में एक मूलभूत तनाव है। एक ओर तो वह समाज की बाजार संबंधी अवधारणा, संपत्ति के अधिग्रहण के असीमित अधिकार और अंतत: असमानता के विचार के साथ जुड़ा हुआ है। दूसरी ओर वह सामान्य हित एवं सभी को समान अवसर उपलब्ध कराने के उद्देश्य से संपत्ति के अधिकार को सीमित करना चाहता है। अनेक समकालीन विचारकों ने इस दावे को चुनौती दी है कि बाजारोन्मुख समाज उपयोगिताओं को बढ़ाता है। इसके विपरीत मैकफरसन का यह तर्क है कि व्यक्ति का सच्चा विकास उसकी स्वयं की शक्तियों के विकास में ही निहित है। उसके अनुसार प्रारंभिक उदारवाद दो आधारों पर परस्पर विरोधाभासी प्रतीत होता है। व्यक्ति के संबंध में इन दो दृष्टिकोणों के बीच परस्पर स्पष्ट तनाव है कि वह 'उपयोगिताओं का आकांक्षी है' तथा 'वह अपनी शक्तियों का उपभोग करने व विकास करने वाला है'। इसने एक ओर तो संपत्ति के असीमित अधिकार, पूंजीवादी अर्थव्यवस्था तथा अंतत: असमानता के दृष्टिकोण और दूसरी ओर समतावादी दृष्टिकोण के बीच एक भ्रम उत्पन्न किया है। अब तक इन दोनों को परस्पर समन्वित नहीं किया जा सका है। लोक-कल्याणकारी राज्य की त्रासदी यह है कि यद्यपि सिद्धांतत: उसका इस आदर्श में विश्वास है कि राज्य को न केवल संपत्ति बढ़ाने के अवसर उपलब्ध कराने चाहिए बल्कि संपूर्ण मानव व्यक्तित्व के विकास की चेष्टा भी करनी चाहिए, परंतु व्यवहार में वह उपयोगिताओं के अधिकतम संवर्द्धन तथा लाभ को

ही अंतिम सत्य मानता है। उसकी एक प्रमुख विसंगति यह है कि वह सामाजिक संरचना को किसी बुनियादी आधार पर नहीं बदल पाता। राज्य आर्थिक सहायता देता है और प्रतियोगिता, एकाधिकार, भूमि के उपयोग व श्रम को नियंत्रित करता है, परंतु अभी भी समाज के आर्थिक रूप से समर्थ कुछ लोगों के सोचे-समझे निर्णयों के प्रत्युत्तर में ही कीमतें निर्धारित होती हैं। अभी भी कीमतों से ही वस्तुओं का उत्पादन तय होता है। वे ही उसका आबंटन भी निर्धारित करती हैं। इसके कारण बड़े निगम मूल्यों का निर्धारण कर पाने में सक्षम होते है तथा हमारी अभिरुचियों व जीवनशैली को भी नियंत्रित करते हैं।

सामाजिक जीवन एक ऐसी सावयविक प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति के जीवन को बाहरी दुनिया का आनंद लेने की क्षमता में वृद्धि कर, संवर्धित करना है। एक उदारवादी समाज उपयोगिता का तो संवर्धन करता है परंतु वह हमारी शक्तियों को संवर्धित नहीं कर पाता अथवा वह हमको एक श्रेष्ठ इंसान नहीं बना पाता। बाजार की शक्तियां हम पर लगातार हावी रहती हैं। सार्वजनिक स्वामित्व व राष्ट्रीयकरण जैसे उपायों के परिणामस्वरूप नौकरशाही का प्रभाव बढ़ा है तथा सामाजिक जीवन में भ्रष्टाचार फैला है।

आनुभविक उदारवाद

आनुभविक उदारवाद की संक्षिप्त चर्चा यहां प्रासंगिक होगी। मिल व ग्रीन ने लोकतंत्र के नैतिक पक्ष पर बल दिया था। उनकी दृष्टि में नैतिक पक्ष मूल्यवान था क्योंकि मानवता के सुधार का यह एक प्रभावशाली माध्यम था। परंतु शुम्पीटर तथा ढल जैसे आनुभविक उदारवादियों की दृष्टि में लोकतंत्र समाज में संतुलन स्थापित करने की एक व्यवस्था मात्र है। आनुभविक उदारवादियों का नैतिक प्रश्नों से कोई सरोकार नहीं है। वे मिल तथा उस जैसे अन्य विचारकों के विचारों को काल्पनिक मानते हैं। उनके लिए लोकतंत्र, समाज को शासित करने की दृष्टि से, दो या उससे अधिक अभिजात वर्गों के बीच शक्ति की प्रतियोगिता का ही दूसरा नाम है। कुछ अमेरिकी राजनीतिक विद्वान तो यहां तक मानते है कि नागरिक भागीदारी का कम होना समाज में संतुलन स्थापित करने के लिए आवश्यक है। उन्नीसवीं शताब्दी के सिद्धांतवादियों की दृष्टि में लोकतंत्र एक मानवतावादी आकांक्षा थी। बीसवीं सदी के मध्य में उनके अमेरिकी प्रतिपक्षियों के लिए यह केवल बाजार-संतुलन की एक व्यवस्था थी। इस मत में एक अंतर्निहित अनुदारवाद व्याप्त है। उसके लिए जिससे भी काम चलता है वही वस्तुत: सही है। विद्यमान व्यवस्था को किसी न किसी प्रकार चलाते रहना ही आनुभविक उदारवादियों का अभीष्ट है। ऐसी व्यवस्था में बाजार की अवधारणाएं न्याय व समानता की धारणाओं को निगल जाती हैं।

बाद के वर्षों में मानव गरिमा तथा स्वायत्ता के नाम पर स्वतंत्रतावादी सिद्धांतों का कुछ पुनरूत्थान हुआ है। इसने उदारवाद को एक ओर उन्नीसवीं शताब्दी के व्यक्तिवाद की दिशा में तथा दूसरी ओर न्यायपूर्ण समाज की दिशा में प्रवृत्त किया है। बाद का पक्ष अब अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है। उन्नीसवीं शताब्दी के उदारवाद ने स्वतंत्रता पर बल दिया। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में स्वतंत्रता का स्थान समानता ने ले लिया। अब ये दोनों न्याय की अवधारणा से संश्लेषित व रूपांतरित होते दिखाई दे रहे हैं। यह रूपांतरण चरित्र, आत्मज्ञान, सद्गुण व सद्जीवन जैसे अरस्तूवादी आदर्शों के रूप में चरितार्थ हो रहा है। समाज को व्यक्तियों के समुदाय के रूप में देखा जा रहा है। समाज में आज व्यक्तियों की भी अपनी निजी स्वायत्तता है। अब यह तर्क दिया जाने लगा है कि समुदाय को सद्गुण व सद्जीवन के संबंध में नागरिकों के आत्मज्ञान को संयुक्त भावना पर आधारित होना चाहिए। यह

आत्मज्ञान किसी भी ऐसे बहुलवादी समाज की संस्थात्मक व्यवस्थाओं में अनिवार्यतः मूर्त होना चाहिए जहां हमारी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति एवं हितों की रक्षा के लिए नाना प्रकार की संस्थाएं हैं। इसे अनिवार्यतः ऐसी राजनीति की ओर अभिप्रेरित करना चाहिए जो हमें सच्ची मैत्री व सहयोग के परिवेश में 'ऐसे सामान्य हित का ज्ञान कराए जो हम अकेले ज्ञात नहीं कर सकते।'

अभ्यास

1. उदारवाद से आप क्या समझते हैं ?
2. उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में उदारवाद की अवधारणा में हुए विभिन्न सुधारों का उल्लेख कीजिए।
3. उदारवाद में अंतर्निहित विरोधाभासों की चर्चा कीजिए।
4. आनुभविक उदारवाद की व्याख्या कीजिए।

अध्याय 13

समाजवाद

उदय एवं विकास

समाज की कोई एक सर्वमान्य परिभाषा नहीं है। अनेक विद्वानों ने इसे परिभाषित किया है। एक विचारधारा के रूप में समाजवाद अनेक सिद्धांतों को समाहित किए हुए है, जैसे अराजकतावाद, श्रमिकसंघवाद तथा लोकतांत्रिक समाजवाद। राजनीतिक संगठन के संदर्भ में समाजवाद के अनेक प्रकार विद्यमान हैं। उनमें से कुछ अधिनायकवादी रहे हैं जबकि कुछ लोकतांत्रिक। आर्थिक संगठन के संदर्भ में भी समाजवाद के अनेक प्रकार प्रचलित हैं। कुछ अर्थव्यवस्थाएं अत्यधिक केंद्रीकृत रही हैं, जबकि अन्य पूर्णतः विकेंद्रीकृत। समाजवाद की ये सभी व्यवस्थाएं समानता की पक्षधर हैं, यद्यपि समानता के अर्थ के विषय में उनमें व्यापक मतभेद हैं।

समाजवाद को समझने से पूर्व यह देखना आवश्यक है कि आधुनिक काल में उसका उदय किस प्रकार हुआ। यह पूंजीवाद के उदय और विकास के विरुद्ध प्रतिक्रियास्वरूप प्रकट हुआ था। 'अहस्तक्षेप के सिद्धांत' ने समाज में गंभीर संकट उत्पन्न किए थे। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक 'अहस्तक्षेप के सिद्धांत' को व्यापक समर्थन मिलने लगा था। उस समय तक इंग्लैंड विश्व का प्रथम औद्योगिक राष्ट्र बन चुका था। विक्टोरियायुगीन इंग्लैंड की संपन्नता सहज देखी जा सकती थी। लोग इस बात के प्रति आश्वस्त थे कि प्रतियोगिता से समाज में कार्यक्षमता तथा संपत्ति बढ़ती है। वे सर्वाधिक 'समर्थवान के अस्तित्व के सिद्धांत' को सर्वमान्य प्राकृतिक नियम मानते थे। किंतु उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक इस सिद्धांत की विसंगतियां स्पष्ट होने लगी थीं। आर्थिक शक्ति कुछ हाथों में सिमट गई थी। अधिकांश लोग भयानक गरीबी की हालत में थे। उनके पास चयन की कोई स्वतंत्रता ही नहीं थी क्योंकि वे जिंदा रहने के लिए भी अपनी मजदूरी पर ही पूरी तरह निर्भर थे। वे इस स्थिति में भी नहीं थे कि अपनी आवश्यकताओं के बारे में कोई निर्णय ले सकें क्योंकि उनमें शिक्षा का सर्वथा अभाव था। यह भी अनुभव किया जाने लगा था कि 'हितों के सामंजस्य' से संबंधित सिद्धांत में भी कोई अधिक सच्चाई नहीं थी। उद्योगपति स्वयं अपने हित-साधन में ही व्यस्त थे। उनको सामुदायिक हितों की कोई विशेष परवाह नहीं थी। मध्यकालीन युग में उचित दर के प्रति एक सुनिश्चित सहमति व्याप्त थी परंतु अब उचित दर जैसी कोई बात नहीं थी। अब कीमतें नैतिक कानूनों से नहीं बल्कि आर्थिक कानूनों से नियंत्रित थीं। लोग इस बात को मानते थे कि यदि प्रत्येक को अपने ढंग से व्यापार करने दिया गया तो उस स्थिति में जंगल का कानून समाज पर हावी होने लगेगा।

प्रतियोगिता से भी वांछित परिणाम नहीं निकले। उसने स्वयं अपने उद्देश्यों को विफल कर दिया। प्रारंभिक अवस्था में उसने आर्थिक उद्यमों की कार्यक्षमता अवश्य बढ़ाई लेकिन जैसे ही बड़े संगठन आर्थिक

शक्ति पर अपना एकाधिकार स्थापित करने लगे वैसे ही छोटे-संगठनों के अस्तित्व मिटने लगे। हम अपने देश भारत में भी पूंजीवाद का प्रभाव देख सकते हैं। यहां अर्थव्यवस्था का अधिकांश गिने-चुने बड़े औद्योगिक घरानों के नियंत्रण में है। इस प्रकार स्वयं पूंजीवाद ने उद्यमियों की स्वतंत्रता को सीमित किया है।

पूंजीवाद ने वास्तव में विभिन्न देशों की संपदा में अभिवृद्धि की। इससे यूरोप में अभूतपूर्व संपन्नता आई। मज़दूरी में वास्तविक वृद्धि हुई। परंतु शीघ्र ही बाजारों में उत्पादित सामान की भरमार हो गई। ज्यों-ज्यों प्रतियोगिता बढ़ी, व्यवस्था में संकट उत्पन्न होने लगे, उत्पादन चरम सीमा तक पहुंच गया। लोगों को यह आशंका होने लगी कि एक स्थिति ऐसी भी आ सकती है जिसमें सभी विक्रेता हो जाएंगे और कोई खरीददार ही नहीं बचेगा। बहुलता तथा मंदी के व्यापार-चक्र बारंबार घटित होने लगे। बेरोजगारी एक आम बात हो गई। लोग यह अनुभव करने लगे कि बहुलता के बीच इतनी अधिक गरीबी क्यों है ? इनमें से कुछ कारणों ने कार्ल मार्क्स को इस भविष्यवाणी के लिए प्रेरित किया कि पूंजीवाद के विनाश के बीज स्वयं पूंजीवाद में ही निहित हैं। समाजवाद की यह मान्यता थी कि पूंजीवाद समतावाद का निषेध करता है, वह अक्षम है तथा वह सब के सुख तथा न्याय की उपेक्षा करता है।

विशेषताएं

समाजवाद का तात्पर्य निम्नलिखित परस्पर संबंधित तत्त्वों से है :

- समतावादी समाज
- मूल आवश्यकताओं की पूर्ति
- उत्पादन के महत्त्वपूर्ण साधनों का सार्वजनिक स्वामित्व, और
- सेवा का आदर्श।

समतावादी समाज

जी.डी.एच. कोल के शब्दों में समाजवाद, ऐसी मानव बंधुत्व की व्यवस्था पर बल देता है जो वर्ग, जाति व रंग-विषयक भेदों को नकारती है अथवा उनका खंडन करती है। इसका उद्देश्य समाज में समुचित समानता लाना है ताकि सभी समान शर्तों पर एक-दूसरे के साथ निर्वाह कर सकें। इसकी यह मान्यता है कि समानता के बिना वास्तविक स्वतंत्रता संभव नहीं हो सकती। सुरक्षा के अभाव में स्वतंत्रता नहीं रह सकती।

मूल आवश्यकताओं की पूर्ति

यह पहले तत्त्व पर आधारित हैं। समाजवादियों का यह तर्क है कि 'लाभ की इच्छा' का स्थान सेवा भाव को लेना चाहिए। कीमतें उपयोग से निर्धारित होनी चाहिए न कि विनिमय की शर्तों से। वितरण का आधार यह नहीं होना चाहिए कि वह कहां से अधिकतम कीमत पा सकेगा बल्कि यह होना चाहिए कि उसकी कहां सर्वाधिक आवश्यकता है। राज्य की संपत्ति इस प्रकार वितरित होनी चाहिए ताकि सबसे गरीब आदमी भी अपनी मूल आवश्यकताएं पूरी कर सके। हमें पहले सबके लिए पर्याप्त साधन अनिवार्यत: सुनिश्चित करने चाहिए तब कहीं अतिरिक्त लाभ की बात सोचनी चाहिए।

सार्वजनिक स्वामित्व

समाजवाद भूमि, शक्ति, बैंक आदि उत्पादन-साधनों के सार्वजनिक स्वामित्व व नियंत्रण में विश्वास रखता है। ये संसाधन समाज के किसी भाग विशेष के हित में प्रशासित न होकर सभी के हित में प्रशासित होने चाहिए। कुछ लोगों के सुख के बजाय सब का सुख इस व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण माना जाता है। समाजवादियों का यह भी विश्वास है कि सामूहिक

स्वामित्व वाला कोई उद्यम आर्थिक दृष्टि से अधिक कार्य-सक्षम और नैतिक दृष्टि से अधिक संतोषप्रद होता है। समाजवाद की यह मान्यता है कि संपत्ति की विषमाएं, समाज में अवसरों की विषमताएं पैदा करती हैं। भर्ती की व्यवस्था, श्रेष्ठता के चयन को निश्चित नहीं करती। संपन्न वर्ग के बच्चों को जो अवसर मिलते हैं, वे निर्धन वर्ग के बच्चों को नहीं मिल पाते। इस दृष्टि से गरीब अपने जीवन का प्रारंभ ऐसी स्थिति से करता है जो उसके लिए लाभप्रद नहीं है। विषमता की ऐसी स्थिति वास्तव में राज्य की स्थिरता के लिए खतरनाक है। इस प्रकार की विषमता पहल करने की प्रवृत्ति का विनाश करती है और इसलिए वह अमानवीय है।

सेवा का आदर्श

समाजवाद, सार्वजनिक भलाई अथवा सामान्य जनकल्याण के लिए सभी नागरिकों के समान उत्तरदायित्व पर बल देता है। वह कठोर भौतिकवाद तथा प्रतिष्ठित उदारवादियों के व्यक्तिवाद, दोनों का विरोध करता है। पूंजीवादी समाज विकृतियां पैदा करता है। वह अत्यधिक विशेषज्ञता का आग्रह करता है। कारीगरों को उनकी कारीगरी पर गर्व करने से वंचित करता है। सामंती समाज में शिल्पी किसी भी वस्तु का निर्माण पूरी तरह स्वयं करते थे। ऐसी कृति में उन्हें अपनी सृजनात्मक क्षमता का आभास पाकर आनंद प्राप्त होता था, लेकिन अब व्यक्ति मशीन का मात्र एक पुर्जा बनकर रह गया है। कोई पूर्ण कृति बनाने के बजाय वह केवल उसका एक छोटा भाग ही निर्मित करता है। यह संभव है कि उसे इस बात का पता ही न चले कि उसके द्वारा निर्मित भाग कहां, किस चीज से जोड़ा जाएगा। वह उत्पादन की शृंखला की केवल एक कड़ी ही बन कर सामने आता हैं। परंतु वह झुग्गी-झोंपड़ियों में रहने को बाध्य है या उसे हफ्ते-महीनों बाज़ार में मजदूरी के लिए खड़े रहना पड़ता है। आधुनिक उद्योगों की इन स्थितियों से वह हताश होता है। मज़दूर इन हालात में इंसान नहीं रह पाता। पूंजीवादी समाज के इसी लक्षण ने मार्क्स, रस्किन, मॉरिस, लास्की व गांधीजी को पूंजीवादी व्यवस्था के विरोध में आवाज उठाने के लिए प्रेरित किया। गांधीजी ने पूंजीवाद को अनैतिक ठहराया क्योंकि उनके मत में पूंजीवाद लोभ व धनलोलुपता को केवल क्षम्य ही नहीं मानता बल्कि उसको गौरवान्वित भी करता है।

समाजवाद तथा साम्यवाद शब्दों का प्राय: पर्याय के रूप में प्रयोग किया जाता है। ऐसा प्रमुखत: कार्ल मार्क्स के शक्तिशाली प्रभाव के कारण हुआ है। इसके बावजूद, इन दोनों में भेद बताना अत्यंत आवश्यक है क्योंकि साम्यवाद विविध मिश्रित सिद्धांतों से मिल कर आज एक स्पष्ट विचारधारा बन गया है जबकि समाजवाद अभी भी एक प्रवृत्ति है। इसे वैविध्यपूर्ण सिद्धांतों के लिए प्रयुक्त एक लेबिल माना जाता है। एक अर्थ में साम्यवाद भी समाजवाद का एक रूप है। इसकी विस्तृत व्याख्या अगले अध्याय में की जाएगी। यहां केवल यह स्पष्ट करना पर्याप्त होगा कि मार्क्स द्वारा प्रतिपादित साम्यवाद इस सुनिश्चित मान्यता पर आधारित है कि मानव इतिहास का भावी रूप क्या होगा जबकि समाजवाद की प्रकृति नैतिक है वह यह बताता है कि मानव इतिहास को क्या होना चाहिए। समाजवादियों को यह ज्ञान है कि पूंजीवादी व्यवस्थाओं में भी समानता की अधिक क्षमता विद्यमान है। वे सभी 'सर्वहारा की तानाशाही' के आदर्श को अस्वीकार करते हैं। उनके लिए क्रांति न तो अपरिहार्य है और न आवश्यक। लोकतांत्रिक समाज का मूल मंत्र क्रमिक विकास है। प्रचलित लोकतांत्रिक ढांचे मे आवश्यक सुधार किए जा सकते हैं।

मार्क्सवाद का हिंसक क्रांति में विश्वास था। मार्क्स ने ब्रिटेन जैसे देशों में शांतिपूर्ण परिवर्तन की संभावना को अवश्य स्वीकार किया था, लेकिन कुल मिलाकर उसकी यह मान्यता थी कि पूंजीवादी व्यवस्था का हिंसा के बिना तख्ता नहीं पलटा जा सकता, क्योंकि कोई भी सत्ताधारी वर्ग अपने आप शक्ति नहीं छोड़ता। इसके विपरीत, लोकतांत्रिक समाजवाद संसदीय लोकतंत्र के माध्यम से शांतिपूर्ण परिवर्तनों पर बल देता है। इसका स्वाभाविक अर्थ यह है कि इन दोनों व्यवस्थाओं का राज्य की प्रकृति व भूमिका के संदर्भ में भिन्न दृष्टिकोण है। मार्क्स के अनुसार राज्य पूंजीपतियों के हाथों में अपना प्रभुत्व स्थापित करने का ऐसा साधन है। जिसका पूंजीपति वर्ग ने जनसाधारण को दबाने व शोषण करने के लिए उपयोग किया है। इसके विपरीत, समाजवादियों ने राज्य को आर्थिक शक्तियों से स्वायत्त माना है। उनके विचार में राज्य के पास इतनी क्षमता है जिसके द्वारा वह समाज में आर्थिक व राजनीतिक शक्ति का पुनर्वितरण कर सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में ब्रिटेन के 'चार्टिस्ट आंदोलन' तथा बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में गिल्ड समाजवाद व फेबियन समाजवाद, सभी ने क्रांतिकारी तरीकों को अस्वीकार किया था। इसके स्थान पर उन्होंने मताधिकार के विस्तार (चार्टिस्ट), संरक्षणकारी राज्य (लोकतांत्रिक समाजवाद), सुधार के साधन के रूप में राज्य (फेबियन समाजवाद), उद्यमों के आत्म-संचालन से युक्त उत्पादक-राज्य (सिंडिकलिज्म), तथा मजदूर संगठनों के द्वारा शासन (गिल्ड समाजवाद) आदि कार्यक्रमों को अपनाया था।

स्वतंत्रता प्राप्ति के तुरंत बाद भारत भी समाजवाद का पक्षधर था। हमारे अधिकांश नेता जैसे नेहरू, जयप्रकाश नारायण तथा डा. लोहिया समाजवादी विचारों व सिद्धांतों के प्रबल समर्थक थे। इसी संदर्भ में समाजवादी-समाज को नियोजित अर्थव्यवस्था का एक लक्ष्य घोषित किया गया। हमने लोकतंत्र को फेबियन प्रकार के सामूहिक नियंत्रणों से समन्वित करने का प्रयास किया है, जो हमें आयात-निर्यात के नियमन, उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन पर रोक तथा औद्योगिक प्रतिष्ठानों के लाईसेंस आदि के लिए प्रेरित करते हैं। गरीबी का उन्मूलन तथा आर्थिक आत्मनिर्भरता भारतीय राज्य के दो प्रमुख कार्य माने गए हैं। नेहरू ने आर्थिक जीवन में राज्य के व्यापक हस्तक्षेप द्वारा सार्वजनिक क्षेत्र को प्रोत्साहित करना चाहा ताकि संसाधन जुटाए जा सकें और रोज़गार के उपयुक्त अधिक अवसर पैदा किए जा सकें। तथापि, अब भारत भूमंडलीकरण, उदारीकरण तथा निजीकरण के लक्ष्यों का अनुसरण कर रहा है।

कोयला, इस्पात, बैंक व ऊर्जा जैसे बुनियादी उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की दिशा में आवश्यक कदम उठाए गए हैं। भारत ने सार्वजनिक आवास, स्वास्थ्य, प्रौढ़ शिक्षा तथा भूमि सुधारों से संबंधित कार्यक्रम भी लागू किए हैं, परंतु भारतीय समाजवाद केवल इतना समाजवादी है कि उसने मात्र कुछ संसाधनों का पुनर्वितरण ही किया है। वह वास्तविक अर्थ में समाजवादी नहीं है।

अब यह अधिकाधिक अनुभव किया जाने लगा है कि किसी न किसी रूप में समाजवाद आवश्यक है। परंतु हम यह भी जान गए हैं कि केवल लोककल्याणकारी सेवाओं तथा सरकारी नियमनों से समाजवाद नहीं लाया जा सकता। वास्तव में, कुछ क्षेत्रों में इसने केंद्रीकरण तथा नौकरशाही को ही बढ़ावा दिया है। जयप्रकाश नारायण, राम मनोहर लोहिया तथा रॉजर गॉरौड़ी सरीखे समाजवादियों ने राजनीतिक शक्ति तथा अर्थव्यवस्था के विकेंद्रीकरण पर अत्यधिक बल दिया है। केंद्रीकृत नियोजन आर्थिक विकास की एक ऐसी समरूपी व्यवस्था निर्मित करता है जो वैयक्तिक आकांक्षाओं

की स्थानीय विविधता पर पूरा ध्यान केंद्रित नहीं कर पाती। किसी भी अच्छे समाज में कर्तव्यों का निर्धारण वास्तव में व्यक्तिगत क्षमताओं, अभिरुचियों, पुरस्कारों तथा सामान्य जीवन में व्यक्ति के योगदान के आधार पर किया जाना चाहिए। सामाजिक जीवन की जटिल प्रकृति की अनुभूति तथा विभिन्न समूहों की महत्ता समाजवाद को अति केंद्रीकरण, नौकरशाहीकरण तथा समरूपता की कमियों से बचा सकती है। हमें अनिवार्यत: ऐसी मानव आवश्यकताओं की पहचान करनी चाहिए तथा निर्णय-निर्माण के ऐसे व्यापक केंद्र स्थापित करने चाहिए जो विभिन्न स्तरों पर आर्थिक व राजनीतिक पहल का सिलसिला शुरू कर सकें। इस प्रकार के सिद्धांतों को कैसे व्यावहारिक रूप दिया जा सकता है, यही हमारे समय में समाजवाद के समक्ष सबसे प्रमुख चुनौती है।

आज यह भी अनुभव किया जा रहा है कि सार्वजनिक स्वामित्व तथा आर्थिक सहायता केवल बड़े निगमों को ही लाभ पहुंचाती है। वे व्यापारिक प्रतिस्पर्धा के खतरों को कम करती है। कर व्यवस्था भी मजदूरों की अपेक्षा केवल बड़े धनिकों को ही लाभ पहुंचाती है। अत्यधिक संपन्न वर्ग की संपत्ति को बहुसंख्यक निर्धन वर्ग में पुनर्वितरित करने के काम में इससे बहुत कम सहायता मिली है। इसने प्राय: संपत्ति का पुनर्वितरण मध्यम वर्ग तक ही सीमित रखा है।

अपने उद्देश्यों को कार्यरूप देने के लिए समाजवाद को स्वयं अपने-आप को रूपांतरित करना होगा। यह हो सकता है कि भविष्य में उसे एक ओर उदारवाद तथा दूसरी ओर मार्क्सवाद तथा एक ओर संभवत: वैयक्तिक पहल व न्याय तथा दूसरी और वर्ग-संघर्ष के मध्य से किसी प्रकार का संतुलन स्थापित करना पड़ेगा।

अभ्यास

1. समाजवाद की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. समाजवाद तथा साम्यवाद में अंतर बताइए।
3. भारत में कौन-कौन से समाजवादी प्रयास किए गए हैं?
4. टिप्पणी लिखिए :
   - (क) समतावादी समाज
   - (ख) लोकतांत्रिक समाजवाद
   - (ग) गिल्ड समाजवाद

अध्याय 14

मार्क्सवाद

उदय

सोलहवीं शताब्दी के अंत तक इंग्लैंड में औद्योगिक व्यवस्था पूर्ण रूप से स्थापित हो चुकी थी। मशीन निर्मित वस्तु की तुलना में हस्तशिल्पियों का संघर्ष निष्फल हो गया था। इसलिए उन्हें मजबूर होकर अपना काम छोड़कर श्रमिक के रूप में कारखानों में काम करना पड़ा। इस नई व्यवस्था ने श्रमिकों के लिए अनेक संकट पैदा किए। उन्हें प्राय: एक दिन में 16 से 18 घंटे तक श्रम करना पड़ता था। कपड़ा मिलों में सफाई व स्वास्थ्य की उपयुक्त सुविधाओं का अभाव था। कारखानों के बाहर ये मजदूर भीड़-भरी गंदी झुग्गी-झोपड़ियों में रहते थे। उनमें से अधिकांश छोटे ग्रामीण समुदायों से आकर शहरों में बस गए जिस कारण नए शहरी परिवेश में उनकी पहचान खो गई। कारखानों ने उन्हें अपने घरवालों तथा बिरादरी से पृथक कर दिया था। इस दशा में वे ऐसी मशीन का पुर्जा बनकर रह गए थे जिस पर उनका कोई बस नहीं था।

सेंट साइमन, राबर्ट ओवेन जैसे प्रारंभिक समाजवादी इन स्थितियों से बहुत संत्रस्त थे। मार्क्स उन सशक्त चिंतकों में से एक थे जिन्होंने प्रारंभिक औद्योगीकरण की उथल-पुथल को भली-भांति समझा था। यह बात *कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो* से भली-भांति प्रकट होती है जो उन्होंने फ्रेडरिक एंगिल्स के साथ मिल कर लिखा था। मानवीय आधार पर समाज को रूपांतरित करने के लिए मार्क्स उत्सुक था। उसकी तलाश अनिवार्यत: एक मानवोचित सामाजिक व्यवस्था की स्थापना से संबंधित थी। उसने एक ऐसे समाज की उलझनों को उजागर किया जो लाभ, प्रतियोगिता व 'अहस्तक्षेप के सिद्धांतों' पर आधारित था। उसने यह स्पष्ट किया कि दुर्दशा व अलगाव का स्रोत वास्तव में पूंजीवादी व्यवस्था में निहित है जो उक्त सिद्धांतों के आधार पर काम करती है।

मार्क्सवाद के सिद्धांत

मार्क्सवाद के प्रमुख सिद्धांत इस प्रकार हैं :

- द्वंद्वात्मक भौतिकवाद
- ऐतिहासिक भौतिकवाद
- वर्ग-संघर्ष
- पूंजीवाद की समालोचना
- क्रांति तथा सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद
- वर्गहीन समाज का उदय

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद

मार्क्स, हीगल के इस मत से सहमत थे कि इतिहास एक प्रक्रिया है, परंतु इस प्रक्रिया की प्रकृति के संबंध में वह हीगल से सहमत नहीं थे। जहां हीगेल ने विचारों व चेतना की प्राथमिकता के संदर्भ में मानव इतिहास की व्याख्या की, वहां मार्क्स ने भौतिक शक्तियों को प्राथमिकता दी। उसके अनुसार उत्पादन के साधन तथा

प्रकार ही परिवर्तन के अभिकरण होते हैं। उत्पादन का प्रकार वह तरीका है जिसमें उत्पादन के साधनों का प्रयोग किया जाता है। साधन वास्तव में ऐसे उपकरण व तकनीकें होती हैं जिनके द्वारा आर्थिक उत्पादन किया जाता है। मानव-श्रम तथा संगठन भी साधनों के ही उदाहरण हैं। उत्पादन प्रणाली वह तरीका है जिसके अनुसार सत्ताधारी वर्ग अपने हितों की पूर्ति के लिए उत्पादन के साधनों का प्रयोग करता है। इस प्रकार उत्पादन प्रणाली में उत्पादन के संबंध तथा साधन दोनों सम्मिलित होते हैं। सत्ताधारी वर्ग उत्पादन के साधनों पर अपना नियंत्रण बनाए रखता है ताकि समूची सामाजिक व्यवस्था पर उसका नियंत्रण स्थापित हो सके। ए *कंट्रीब्यूशन टु क्रिटीक पोलिटिकल इकोनॉमी* में मार्क्स ने यह घोषणा की कि समाज का इतिहास भौतिक उत्पादन का इतिहास है। वह भौतिक उत्पादनकारी शक्तियों तथा उत्पादन संबंधों के अंतर्विरोध का इतिहास है जो उनके परिणामस्वरूप प्रकट होते हैं। यह अंतर्विरोध वर्ग-संघर्ष की सहायता से सुलझाया जाता है।

मार्क्स, हीगल के इस विचार से भी सहमत थे कि इतिहास द्वंद्वात्मक संबंधों का क्रियान्वयन है। हीगल के 'द्वंद्वात्मकता का सिद्धांत' का संबंध केवल विचारों तक ही सीमित था, जबकि मार्क्स ने द्वंद्वात्मक प्रक्रिया में आर्थिक कारकों की भूमिका पर बल दिया। मार्क्स के अनुसार यह प्रकृति तथा मानव एवं क्रमिक बनने वाले सामाजिक संगठनों तथा प्रतियोगी सामाजिक वर्गों में व्याप्त तनावों का निराकरण है। द्वंद्वात्मकता एक ऐसी प्रक्रिया है जो ऐतिहासिक परिवर्तन को चरितार्थ करती है। इस परिवर्तन की प्रक्रिया के दौरान किसी समय-विशेष में सामाजिक शक्तियों के एक समूह को वाद, दूसरे को प्रतिवाद तथा तीसरे को संवाद के रूप में अभिव्यक्त किया जा सकता है इसके उदाहरणस्वरूप यह कहा जा सकता है कि वाद (जैसे सामंतवाद) का मुकाबला प्रतिवाद (जैसे पूंजीवाद) से होता है जो कि वर्ग-संघर्ष के माध्यम से विकास की अगली अवस्था में पहुंचता है जिसे संवाद (जैसे समाजवाद) कहा जा सकता है। इस संवाद में वाद तथा प्रतिवाद दोनों के सर्वोत्तम लक्षण समाहित होते हैं। प्रत्येक अवस्था, इस प्रक्रिया के दौरान संक्रमणशील होती है। उसके उदय के साथ ही उसके विषय में यह पूर्वानुमान भी रहता है कि कालांतर में वह विकास की अगली अवस्था के लिए स्थान बनाएगी।

ऐतिहासिक भौतिकवाद

ऐतिहासिक भौतिकवाद, सामाजिक संदर्भ में द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का क्रियात्मक रूप है, हीगल की भांति मार्क्स ने भी इतिहास को मानव गतिविधि का सर्वग्राही संदर्भ माना था परंतु फ्युअरबैक का अनुसरण करते हुए मार्क्स ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि व्यक्ति अपनी इच्छाओं, कार्यों तथा उस व्यापक आर्थिक व्यवस्था से संगठित होता है जिसका वह एक अंश है। उसके अनुसार आर्थिक गतिविधि समस्त अन्य गतिविधियों का आधार निर्धारित करती है। राजनीतिक व्यवस्था, न्यायिक विचार तथा नैतिक धारणाएं, ये सभी उस पद्धति से उत्पन्न होते हैं जिनसे आर्थिक गतिविधियां संरचित होती हैं। सामाजिक अस्तित्व मूलतः उत्पादन संबंधों की एक ऐसी शृंखला है जो सुनिश्चित उत्पादन के प्रकारों की समानुपाती है। *क्रिटीक ऑफ पोलिटिकल इकोनॉमी* में मार्क्स ने आर्थिक आधार (उत्पादन संबंध) तथा अधि-संरचना (संस्कृति, राजनीति, दर्शन साहित्य) में अंतर स्पष्ट किया है।

मार्क्स की यह मान्यता है कि इतिहास उत्पादनकारी शक्तियों के आत्मविकास का एक अभिलेख है। उसकी प्रत्येक अवस्था ऐसे सामाजिक स्वरूप से

चरितार्थ होती है जिसकी अपनी एक विशिष्ट उत्पादन पद्धति होती है। जब एक समाज किसी दूसरे समाज का स्थान लेता है तो इस स्थिति में इसकी उत्पादन पद्धति, दूसरी उत्पादन पद्धति का स्थान ले लेती है। सामाजिक स्वरूपों की इस शृंखला में आदिम समाज, दास समाज, सामंती समाज, बुर्जआ समाज तथा अंततः भावी वर्गहीन समाज क्रमशः आते हैं। यह भावी वर्गहीन समाज की अवस्था मानव प्रगति की चरम सीमा होगी। इससे एक व्यक्ति, दूसरे व्यक्ति के शोषण से मुक्त हो जाएगा। उत्पादन पद्धति में परिवर्तन के साथ स्वयं समाज का स्वरूप बदल जाता है तथा एक नई सामाजिक व्यवस्था जन्म लेती है। यह पूर्ववर्ती सामाजिक अवस्था से यथार्थ रूप में बेहतर होती है क्योंकि यह उत्पादन-संबंधों को उत्पादन-शक्तियों के परिवर्तनों के अनुरूप बनाती है।

वर्ग संघर्ष

मार्क्स ने आर्थिक वर्गों में संघर्ष की स्थिति स्थायी रूप से बने रहने पर बल दिया था। प्रौद्योगिकी (टेक्नोलॉजी) में परिवर्तन तथा कार्यों की विशेषज्ञता, प्रतिष्ठा, संपत्ति व राजनीतिक शक्ति में अंतर लाती है। इसके परिणामस्वरूप नए सामाजिक वर्ग विकसित होते हैं। उनमें से कुछ उत्पादन-साधनों के स्वामी होते हैं जबकि कुछ उनके सहारे जीते हैं। बहुत जल्दी ही इन दोनों प्रतिद्वंद्वी-वर्गों में अपरिहार्य संघर्ष प्रकट होता है। मार्क्स और ऐंगिल्स ने *कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो* में लिखा था कि "अब तक सभी समाजों का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास रहा है।" संघर्ष इसलिए है कि जिनका उत्पादन-साधनों पर स्वामित्व है वे मज़दूरों की कमज़ोर आर्थिक स्थिति का अपने हित में उपयोग करते हैं। वे मज़दूरों से अधिकतम काम लेते हैं और बदले में उन्हें कम से कम मज़दूरी देते हैं। पूंजीवादी समाज में समाज दो प्रतिद्वंद्वी वर्गों में बंट जाते हैं- *बुर्जुआ* वर्ग जिसके पास संपत्ति होती है तथा *सर्वहारा वर्ग* जो बहुसंख्यक होने के बावजूद बुर्जुआ वर्ग से शोषित होते हैं। कालांतर में यह संघर्ष अत्यधिक तेज हो जाता है क्योंकि इस स्थिति में मज़दूर न्यूनतम जीवनस्तर से नीचे का जीवननिर्वाह करने पर मजबूर हो जाते हैं। वे औद्योगिक व्यवस्था द्वारा उत्पादित सामान को नहीं खरीद पाते।

राज्य, विकास की एक विशिष्ट अवस्था में, आर्थिक दृष्टि से प्रभुताशाली वर्ग के हाथ का खिलौना बन जाता है। राजनीतिक शक्ति वास्तव में आर्थिक शवित की ही उपज है। जैसे ही आर्थिक शवित सामंती वर्ग से बुर्जुआ वर्ग के पास आ जाती है, वैसे ही राजतंत्र, प्रतिनिधि-लोकतंत्र के लिए जगह बना देता है जो कि उद्यमियों द्वारा नियंत्रित होता है। 'राजाओं के दैवी अधिकार का सिद्धांत' आधुनिक उदारवाद को अपना स्थान दे देता है। शवित की संरचना पर विशेषकर कानून, पुलिस तथा न्यायिक व्यवस्था पर प्रभुताशाली वर्ग के प्रभुत्व को सुदृढ़ करने के लिए उदारवादी सिद्धांतों का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार राज्य, समाज के कमजोर वर्गों के शोषण के लिए प्रभुताशाली वर्ग के हाथों में एक साधन बन कर रह जाता है।

पूंजीवाद की समालोचना

मार्क्स के सर्वाधिक दीर्घजीवी लेखन, विशेषतः दास *केपिटल* में पूंजीवाद की समालोचना थी। कोई भी अन्य लेखक उसके नैतिक उत्साह तथा सुव्यवस्थित विश्लेषण की बुलंदियों को आज तक छू नहीं सका है। मार्क्स का यह तर्क था कि पूंजीवादी व्यवस्था का मूल विरोधाभास यह है कि एक ओर जहां वह फैक्टरी प्रणाली के विकास के कारण विविध कार्यों में पारस्परिक निर्भरता का परिचय देती है वहीं दूसरी

ओर उससे निजी हितों में आर्थिक शक्ति का केंद्रीकरण होता है। इस प्रकार जहां उत्पादन का संगठन सामाजिक है वहीं उसका वितरण निजी हाथों में है। मार्क्स इस बात के प्रति आश्वस्त था कि पूंजीवाद का पतन अपरिहार्य है। इतिहास की द्वंद्वात्मक प्रक्रिया में मार्क्स का विश्वास ही उसे अपने पूर्ववर्ती विचारकों से अलग करता है।

मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी समाज की एक अन्य कमी यह है कि उससे अत्यधिक असमानता विकसित होती है। जनता का एक बहुसंख्यक वर्ग इस व्यवस्था में गरीबी व अभाव का शिकार होता है। पूंजीवादी व्यवस्था मज़दूरों के खून-पसीने पर टिकी हुई है और इसके बावजूद वे ही इस व्यवस्था के बुरी तरह शिकार होते हैं। इन्हें उत्पादन की तुलना में बहुत कम मिलता है। इस व्यवस्था में कुछ लोग, अधिकांश को गरीबी की हालत में रख कर स्वयं विलासिता का जीवन जीते हैं। किसी वस्तु के मूल्य-निर्धारण का एक मात्र तरीका उसके उत्पादन पर लगी मज़दूरी का आकलन ही होता है। इस मापदंड के अनुसार मज़दूर ही मूल्य के नियामक होते हैं पूंजीपति नहीं, लेकिन मज़दूरों को ही अपने भाग से वंचित रहना पड़ता है और उन्हें कम से कम मज़दूरी दी जाती है। मज़दूरों द्वारा उत्पादित अतिरिक्त लाभ पूंजीपति ले जाता है। मार्क्स ने उत्पादन मूल्य तथा विक्रय मूल्य के अंतर को अतिरिक्त मूल्य की संज्ञा दी है, जो पूंजीपतियों द्वारा मज़दूरों के शोषण का माध्यम बन जाता है। लाभ के लिए पूंजीपति भी आपस में प्रतिद्वंद्वी बन जाते हैं।

पूंजीवाद का एक लक्षण यह है कि वह मज़दूरों को एक करता है और उनमें सामुदायिक भाव पैदा करता है। सामंती युग के मज़दूर एक दूसरे से अलग एकाकी परिस्थितियों में रहते थे। माल का निजी उत्पादन होता था। आधुनिक फैक्टरी प्रणाली मज़दूरों को एकजुट करती है, उनमें वर्गीय चेतना पैदा करती है तथा इस प्रकार वह अंततः संगठित वर्गीय संघर्ष का मार्ग प्रशस्त करती है जो क्रांति की ओर जाता है। प्रारंभ में मार्क्स का यह विचार था कि क्रांति हिंसक ही होगी। बाद में, विशेषतः 1848 के उपरांत, मार्क्स ने अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन किया तथा क्रांति के अन्य रास्तों को भी अपने चिंतन में समाहित किया। उसके अनुसार समाजवाद की दिशा में संक्रमण किसी देश की सामाजिक आर्थिक स्थितियों के अनुरूप ही हो सकता है। इस संदर्भ में उसने इंग्लैंड का उदाहरण दिया जहां समाजवाद की दिशा में संक्रमण अधिक शांतिपूर्ण हो सकता था।

पूंजीवाद का मूल विरोधाभास यह है कि जहां एक ओर उसने फैक्टरी प्रणाली के माध्यम से मजूदरों को परस्पर निर्भरता की ओर प्रवृत्त किया, वहीं दूसरी ओर वह सभी के हित में संपत्ति वितरित करने में विफल रहा है। उत्पादन-साधनों के सामाजीकरण को निजी मुनाफे की किसी भी व्यवस्था से जोड़ा नहीं जा सकता। इस विरोधाभास को सामंतवाद व समाजवाद

	सामंतवाद (वाद)	*पूंजीवाद (प्रतिवाद)*	*समाजवाद (संवाद)*
उत्पादन का संगठन	निजी	सामाजिक	सामाजिक
वितरण का निजी सिद्धांत	निजी	निजी	सामाजिक

की निम्नलिखित विशेषताओं के संदर्भ में अच्छी तरह समझा-परखा जा सकता है।

क्रांति और सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवाद

जैसे ही समाजवादी क्रांति होती है, राजनीतिक-आर्थिक शक्ति सर्वहारा वर्ग के हाथों में आ जाती है और बुर्जुआ लोकतंत्र के स्थान पर सर्वहारा की तानाशाही स्थापित हो जाती है। इस तानाशाही में ही सच्चा लोकतंत्र प्रकट होता है क्योंकि यह व्यवस्था मूलत: चंद शोषकों के विरुद्ध व्यापक बहुमत वाली मजूदरों की सरकार होती है। इस व्यवस्था के दौरान सर्वहारा वर्ग उत्पादन-साधनों पर राज्य का नियंत्रण स्थापित करके तथा सभी नागरिकों को नई सामाजिक व्यवस्था में समान भागीदार बना के बुर्जुआ व्यवस्था के बचे-खुचे अवशेष भी ध्वस्त कर देता है।

वर्गहीन समाज का उदय

जैसे ही बुर्जआ वर्ग पूरी तरह नष्ट हो जाएगा वैसे ही राज्य विलुप्त हो जाएगा और ऐसा समाज पैदा होगा जिसमें न तो राज्य होगा और न कोई वर्ग। ऐसे समाज में हर व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार योगदान देगा और अपनी आवश्यकतानुसार पाएगा। मार्क्स को यह विश्वास था कि इस सामाजिक स्थिति से पैदा हुआ नया इंसान स्वाभाविक व स्वत: स्फूर्त रूप से समाज के सामान्य हित के अनुरूप अपने हितों को ढाल सकेगा। यहां यह उल्लेख आवश्यक है कि इन काल्पनिक विचारों के अतिरिक्त मार्क्स भावी समाज के विषय में कुछ नहीं कहता। उसका मूल उद्देश्य तो अपने चिंतन में पूंजीवाद की सशक्त समालोचना प्रस्तुत करना ही था। उसने हमारा ध्यान इस विचार की ओर आकर्षित किया कि व्यक्ति की दासता और अलगाव का स्रोत तो पूंजीवादी व्यवस्था में ही निहित है। व्यक्ति व्यवस्था द्वारा शोषित भी होता है और अपनी स्थिति और दासता के प्रति सचेत भी। वह व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह करता है क्योंकि यह एकाधिकारवादी पूंजीवाद, असमानता, वर्ग संघर्ष और जनसाधारण को कंगाली की ओर ले जाती है।

मार्क्सवाद की सीमाएं

मार्क्स ने राष्ट्रीय व देशभक्ति की भावनाओं के महत्त्व को पर्याप्त रूप से नहीं समझा। इस दृष्टि से उसका सिद्धांत वर्ण केंद्रिक (ethnocentric) है। उसने समकालीन पूंजीवादी समाज से संबंधित कुछ गहन व गूढ़ नैतिक प्रश्नों को भली-भांति समझा था। वह वर्गों तथा उनके संघर्षों से भी परिचित था, परंतु उसे *अन्य समाजों और उनकी विशिष्ट संस्थाओं* एवं परंपराओं की पर्याप्त जानकारी नहीं थी। ये संस्थाएं और परंपराएं प्राय: वर्गीय एकता को लांघ जाती हैं। उसने पूंजीवाद की स्वयं को परिवर्तित करने की क्षमता को कम आंका था। पश्चिम के अधिकांश देशों ने संघर्ष को मार्क्स की भविष्यवाणी के अनुरूप विकसित होने देने की अपेक्षा उसे अपने अनुकूल बनाने का प्रयास किया। इनमें से कुछ लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं में स्वयं राज्य ने समाज के सबसे कमजोर वर्गों के पक्ष में हस्तक्षेप करने की प्रवृत्ति प्रदर्शित की है। एक अन्य अर्थ में भी उसकी भविष्यवाणी खरी नहीं उतरी। मार्क्स का विश्वास था कि क्रांति सर्वाधिक उन्नत पूंजीवादी देशों में होगी जबकि वास्तव में यह पिछड़े अल्प-विकसित पूंजीवादी समाजों में ही हुई है।

राज्य को वर्गीय-प्रभुत्व के साधन के रूप में परिलक्षित करने के प्रयास में मार्क्स ने इस तथ्य की भी उपेक्षा की कि कोई भी राज्य तब तक अधिक समय तक नहीं टिक सकता जब तक कि वह विशेष हितों से ऊपर उठकर समाज के व्यापक हितों के लिए कार्य नहीं करता। केवल राज्य ही

हमें बेहतर व संगठित जीवन का ढांचा प्रदान कर सकता है। केवल वही हमारे दावों और प्रति-दावों का समाधान कर सकता है। कुशलतापूर्वक कार्य कर रही किसी व्यवस्था में विशिष्ट हितों को सार्वजनिक कल्याण की भावना से मर्यादित होना ही चाहिए। इसके बिना व्यवस्था बिखर जाएगी। विशेष-हितों का नियमन राज्य-गतिविधि का एक बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य है। वास्तव में, मार्क्स के पास राज्य का कोई सिद्धांत नहीं था। रूस में, व्यवस्था का ढांचा निर्मित करने के लिए लेनिन को राज्य के सिद्धांत का आविष्कार करना पड़ा। निःसंदेह पूंजीवादी व्यवस्था बुरी थी लेकिन केवल राजनीतिक शक्ति की मदद से ही उसे परिवर्तित, रूपांतरित अथवा प्रतिस्थापित किया जा सकता था। केवल राज्य ही सामान्य हित के कार्य कर सकता है। यह संभव है कि कोई पूंजीवादी राज्य किसी सर्वहारा-राज्य से प्रतिस्थापित हो जाए परंतु किसी समाज में समन्वय स्थापित करने के लिए हमें राज्य की साधन के रूप में आवश्यकता तो पड़ेगी ही।

लेनिन तथा माओ

रूस वह देश था जहां प्रथम मार्क्सवादी क्रांति हुई थी तथा व्लादीमिर इल्यीच लेनिन (1870-1924) उस क्रांति के वैचारिक प्रणेता थे। *व्हॉट इज टु बी डन* शीर्षक की अपनी पुस्तिका में लेनिन ने पूंजीवाद के अपरिहार्य पतन संबंधी मार्क्स के विचार का खंडन किया। मार्क्स का यह विश्वास था कि आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन से समाज व राजनीति की बाह्य-संरचना में अपने आप बदलाव कर देगा। उसकी यह घोषणा था कि हस्त-उद्योग हमें सामंती समाज देते हैं जबकि इस्पात मिल पूंजीवादी समाज में पहुंचा देती है। लेनिन ने इस सिद्धांत को नहीं माना। उसके अनुसार यद्यपि मजदूरों में मज़दूर संघ संबंधी चेतना विद्यमान थी परंतु इसे पाने के लिए उनमें आवश्यक क्रांतिकारी अभिकरण विकसित करने की इच्छा शक्ति नहीं थी। ऐसी एजेंसी के अभाव में उनकी एकमात्र इच्छा यह थी कि वे मजदूर संघों के माध्यम से अपनी मज़दूरी में ही वृद्धि चाहते थे। किसी भी समाज में क्रांतिकारी चेतना केवल व्यावसायिक क्रांतिकारी वर्ग के योगदान से ही लाई जा सकती है– ऐसे अग्रणी लोग बाहर से ही क्रियाशील होते हैं। इन व्यावसायिक क्रांतिकारियों की सर्वाधिक अभिव्यक्ति किसी राजनीतिक दल में ही संभव हो सकती है। अत: उसने मार्क्सवादी इतिहास की वस्तुगत शक्तियों का स्थान एक अत्यधिक अनुशासित राजनीतिक दल के सक्रिय हस्तक्षेप को दिया।

लेनिन ने इस बात की भी व्याख्या करने का प्रयास किया कि समाजवादी क्रांति, पश्चिम में क्यों नहीं घटित हो सकी, जैसा कि मार्क्स ने भविष्य-वाणी की थी। 1916 में लेनिन की *इम्पीरियलिज्म : दि हाइएस्ट स्टेट ऑफ केपिटलिज्म* प्रकाशित हुई जिसमें उसने यह तर्क दिया कि एकाधिकारी पूंजीवादी राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय न्यासों तथा उत्पादक-संघों की ओर प्रेरित करता है। वह इस बात के प्रति आश्वस्त था कि पूंजीवादी व्यवस्था की यह मूल प्रवृत्ति सर्वत्र एक जैसी थी। इस प्रवृत्ति के कमजोर होने का कारण यह था कि अमीर देशों ने दुनिया में उपनिवेश कायम कर लिए थे। ये देश उपनिवेशों से संसाधन जुटाते थे तथा बना माल उन्हें बेचते थे। इस स्थिति ने अतिरिक्त मूल्य का अंतर्राष्ट्रीयकरण प्रकट किया और साथ ही पूंजीपतियों की संपन्नता भी बढ़ गई। पूंजीपतियों ने अधिक से अधिक रियायतें देकर मज़दूरों से अपनी ऊपरी आमदनी कुछ हद तक बांटनी चाही। ऐसा उन्होंने मज़दूरों को अधिक मज़दूरी व कार्य-स्थितियों में अधिक रियायतें देकर किया। ये रियायतें, पूंजीपतियों की अपनी सुरक्षा के प्रति चिंता

का ही परिणाम थीं। इन रियायतों ने मज़दूरों में 'लघु-बुर्जुआ' भ्रांति पैदा की। इस भ्रांति से मजदूर नेताओं में भ्रामक-चेतना पैदा हुई और वे स्वयं 'मजदूर कुलीनतंत्र' में परिवर्तित हो गए। उपनिवेशों के शोषण के फलस्वरूप प्राप्त अधिक मजदूरी व अन्य कार्य सुविधाओं ने उन्हें भ्रष्ट कर दिया। ऐसी व्यवस्था को बनाए रखने से ही उनका निहित स्वार्थ सिद्ध हो सकता था।

लेनिन की यह भविष्यवाणी थी कि समाजवादी क्रांति संभवत: रूस में अधिक आसानी से हो सकती थी क्योंकि वह पूंजीवादी शृंखला की सबसे कमजोर कड़ी थी।

चीन में माओजेडांग क्रांति के लिए मुख्यत: उत्तरदायी था। उसके नेतृत्व में किसान-आधारित सेनाएं बनीं। सत्ता में आने के बाद माओ ने बुनियादी औद्योगीकरण व सामूहिकीकरण द्वारा कृषि-पैदावार में वृद्धि के प्रयास किए। मार्क्स ने साम्यवाद को विकसित पूंजीवाद के रास्ते आते देखा था। माओ की दृष्टि में साम्यवाद मूलत: उत्पादनकारी प्रक्रिया का सामूहिकीकरण तथा निजी संपत्ति का उन्मूलन था। उसने मार्क्सवाद को चीन की प्राकृतिक विशेषताओं में समन्वित करने का प्रयास किया। उसने व्यावसायीकरण के स्थान पर राजनीतिकरण पर बल दिया।

समसामयिक मार्क्सवाद में तनाव

रूस में मार्क्सवाद एक विभिन्न प्रकार के आधुनिक राज्य की स्थापना के लिए आवश्यक ढांचा तैयार करने में समर्थ सिद्ध हुआ था। वह रूसी समाज में युगों से चले आ रहे प्रतिमानों को बदलने में तथा 8 प्रतिशत राष्ट्रीय विकास दर प्राप्त करने वाली औद्योगिक व्यवस्था निर्मित करने में सफल हुआ था, परंतु क्रांतिकारी विचारों की यह दशा अधिक समय तक नहीं टिक पाई। पूर्ववर्ती समाजों की भांति रूस और चीन दोनों ने अपने-अपने शासक वर्ग विकसित किए जिनमें नौकरशाही के आधिक्य और दलीय नियंत्रण की शक्ति से मोहग्रस्त थे। नौकरशाही और दल दोनों ने कुछ विशेषाधिकार प्राप्त करने की कोशिश की और क्योंकि दल और राज्य दोनों घुले-मिले थे इसलिए दल का समाज पर पूरा नियंत्रण था। स्टालिन ने तो दल के भीतर बहस को समाप्त कर अंतिम निर्णय का अधिकार अपने पास रखा। जैसे ही विचारधारा संस्थाबद्ध हुई वैसे ही इसका कर्मकांड हुआ और यथास्थिति से तादात्मय स्थापित करने की प्रवृत्ति से पहचानी जाने लगी।

लोगों ने यह अनुभव करना शुरू कर दिया है कि जबकि साम्यवाद के लक्ष्यों में कुछ विशेष गुण निहित थे परंतु पूरी व्यवस्था शक्ति के दुरूपयोग को रोकने के लिए संस्थागत व्यवस्था निर्मित करने में असफल रही। शक्ति अपनेआप में बुरी नहीं होती। वस्तुत: कुछ परिस्थितियों में यह सकारात्मक अच्छाई का स्रोत होती है। गरीबी की समस्या के समाधान के लिए कभी-कभी राज्य का सक्रिय हस्तक्षेप आवश्यक हो जाता है। समुचित उत्तरदायित्व के रूप में उचित सुरक्षात्मक उपायों के अभाव में नेता अथवा दल और नौकरशाही निर्णय लेने का एकाधिकार अपने हाथ में ले लेते हैं और समस्याओं का निदान जनता के नाम पर और कुछ मामलों में जनता का विरोध होते हुए भी स्वतंत्रता पर होने वाले प्रत्येक प्रहार को विचार व वर्ग के नाम पर उचित ठहराया जाता है।

परिणामस्वरूप, साम्यवादी आंदोलन पतन की ओर जाने लगा जिसका पहली बार बोध तब हुआ जब रूस और चीन के साम्यवादियों के बीच मतभेद उभर कर सामने आए। 1960 के तुरंत बाद पूर्व और मध्य यूरोप के साम्यवादी समाजवादी देशों में समस्याएं और अलोकप्रिय स्थितियां उभरने लगीं। दूसरी ओर सत्तर के दशक में

इटली की साम्यवादी पार्टी के नेतृत्व में यूरोपीय साम्यवाद की ओर झुकाव ने संसदीय संस्थाओं तथा क्रांति के स्थान पर सुधारों का समर्थन कर समझौतावादी प्रवृत्ति को अपनाया। पूर्वी यूरोप के साथ-साथ चीन और रूस में भी तीव्रता से परिवर्तन हुए।

1979 और 1986 में चीन में व्यापक लोकतंत्र के लिए आंदोलन प्रारंभ किए गए। 1989 के जून मास में टियनमेन चौक पर एक छात्र रैली के दौरान कई आंदोलनकारियों को गोली से भून दिया गया। सोवियत संघ में मिखायल गोर्बाचोफ द्वारा प्रारंभ किया गया सुधार आंदोलन न केवल यूरोप अपितु पूरे विश्व से साम्यवाद के अंत का प्रारंभ था। अंततः 1991 में सोवियत संघ विघटित हो गया। सोवियत संघ के विघटन का अर्थ अपने आप में साम्यवादी विचारधारा का विघटन नहीं था। सोवियत संघ के पतन के साथ यूरोप के देशों में साम्यवादी/समाजवादी व्यवस्था एक के बाद एक टूटती चली गई। इन सब देशों की अर्थव्यवस्था जर्जर स्थिति में थी। रूस में उपभोक्ता वस्तुओं की कीमतें 350 गुना तक बढ़ गई और 90 प्रतिशत लोगों को गरीबी रेखा के नीचे धकेल दिया गया। इसलिए राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन अपने साथ अर्थव्यवस्था में तीव्र परिवर्तन लाया। बाजारवाद की ताकतों में परिवर्तन की प्रवृत्तियां, अर्थव्यवस्था में खुलापन और निजीकरण की ओर झुकाव स्पष्ट दिखाई देने लगा था। साम्यवादी/समाजवादी चीन में भी अर्थव्यवस्था में उदारवाद और खुलेपन के स्पष्ट संकेत हैं। इन घटनाओं ने साम्यवादियों को सामाजिक संबंधों की संरचना पर गहन चिंतन के लिए विवश किया है। अब एक प्रश्न उठाया जा रहा है कि क्या मार्क्सवाद मानव स्वतंत्रता के प्रति दुराग्रह था। विश्व के समक्ष इसकी प्रासंगिकता एक वैकल्पिक विचारधारा के रूप में अब प्रश्नों के घेरे में है।

अभ्यास

1. मार्क्सवाद की परिभाषा लिखिए।
2. ऐतिहासिक भौतिकवाद की व्याख्या कीजिए।
3. क्या मार्क्सवाद आज भी प्रासंगिक है?
4. मार्क्सवाद में लेनिन की भूमिका की चर्चा कीजिए।
5. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :
   (क) द्वंद्वात्मक भौतिकवाद
   (ख) वर्ग संघर्ष सिद्धांत
   (ग) वर्गविहीन समाज

अध्याय 15

फ़ासीवाद

उदय

साम्यवाद के विपरीत, फ़ासीवादी का कोई सुगठित सिद्धांत न होकर एक दृष्टिकोण अधिक था। जनसाधारण के प्रति अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए फ़ासीवाद को सबके लिए सब कुछ होना था। फ़ासीवादी नेता अपने सुपरिभाषित सिद्धांत की कमी की यह कहकर रक्षा करते थे कि फ़ासीवाद मुख्य रूप से एक कार्ययोजना अधिक है। मुसोलिनी ने कहा था, "हम ऐसे कट्टर कार्यक्रमों में विश्वास नहीं रखते जिनमें यह माना जाता है कि वे परिवर्तनशील, परिवर्तित तथा जटिल यथार्थ को समाहित तथा परित्याग कर सकें... सुस्पष्ट शीर्षकों और परिच्छेदों से सुसज्जित सिद्धांत का अभाव हो सकता है, परंतु इसका स्थान किसी अधिक निर्णायक भाव को लेना है और वह है... विश्वास।"

फ़ासीवाद प्रथम विश्व युद्ध के परिणामस्वरूप प्रकट शक्तियों व उनकी कार्यप्रणाली के विरुद्ध प्रतिक्रिया का परिचायक था। प्रथम विश्व युद्ध के उपरांत आयोजित पेरिस सम्मेलन में इटली को अपने प्रमुख क्षेत्र संबंधी दावों से वंचित किया गया था। इस कारण उसने यह अनुभव किया कि मित्र देशों ने उसके साथ विश्वासघात किया है। प्रथम विश्व युद्ध के बाद आर्थिक स्थिति भी बिगड़ गई थी। बेरोजगारी बढ़ गई थी। एक के बाद एक संसदें, अपना प्रतिनिधि-चरित्र खोते हुए भ्रष्ट व प्रभावहीन होती जा रही थीं। लोग आस्थाहीन हो गए थे। हड़तालें एक आम बात थीं। पूरे देश में संकट का एक सामान्य भाव व्याप्त था। उस समय की सरकार ठप्प हो गई थी। समाजवादी उसकी जगह ले सकते थे परंतु उनमें ऐसा करने का पर्याप्त साहस नही था। इसी दौरान बेनटो मुसोलिनी (1883-1945) के नेतृत्व में फ़ासीवादियों ने उस स्थिति का लाभ उठाना शुरु कर दिया। मुसोलिनी की यह मान्यता थी कि साम्यवाद की अपेक्षा राष्ट्रवाद कहीं अधिक सक्षम तत्त्व है। अक्टूबर 1922 में, उसने रोम-प्रयाण का निर्णय लिया। यह प्रयाण मुसोलिनी के प्रधानमंत्री बनने के साथ समाप्त हो गया। राजनीतिक संस्थाओं की परवाह किए बिना, मुसोलिनी ने समूची व्यवस्था को निजी तानाशाही में परिवर्तित करने का कार्य शुरू कर दिया।

जर्मनी में तो युद्ध के बाद की हालत और भी खराब हो गई थी। जर्मनी युद्ध में हार गया था। युद्ध-अपराध प्रावधानों ने उसे घोर दोषी ठहराया था। मित्र देशों ने युद्ध की सारी ज़िम्मेदारी जर्मनी पर डाल दी। तथा जर्मन गणराज्य को इस बात की अनुमति देने से भी साफ इंकार कर दिया कि वह अपने राज्य की आर्थिक संरचना में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन लाए। जब्त किए गए जर्मन क्षेत्र फ्रांस, पोलेंड तथा बेल्जियम को सौंप दिए गए। राइनलैंड पर इसलिए कब्ज़ा किया गया ताकि जर्मनी मित्र देशों, विशेष कर फ्रांस को युद्ध-क्षतिपूर्ति की राशि दे दे।

जर्मनी को राजनीतिक दृष्टि से भी विभाजित कर दिया गया। उसे अंतर्राष्ट्रीय अपमान झेलना पड़ा। एडोल्फ हिटलर (1889-1945) के नेतृत्व में राष्ट्रवादी-समाजवादी जर्मन मज़दूर दल (एन.एस.डी.ए.पी अथवा नाज़ी दल) ने इस स्थिति का लाभ उठाया। जैसे-जैसे आर्थिक स्थिति बिगड़ती गई तथा बेरोजगारों की संख्या बढ़ती गई, वैसे-वैसे नाजी दल की सदस्य संख्या बढ़ती गई । जुलाई 1932 के निर्वाचन में नाजी दल कुल मतदाताओं का 37 प्रतिशत समर्थन पाने में सफल रहा। राष्ट्रपति हाइडेनवर्ग ने हिटलर को जनवरी 1933 में जर्मन राज्य का चांसलर नियुक्त किया। उसका अनुमान यह था कि एक बार सत्ता में आने के बाद हिटलर की कथित क्रांतिकारी गतिविधियों में अपनेआप कमी आ जाएगी। राष्ट्रपति के इस अनुमान के विपरीत, हिटलर ने मार्च 1933 में ही जनमत संग्रह का आदेश दे डाला। उसकी सरकार ने कुल मतों के 52 प्रतिशत मत अर्जित किए। इसने हिटलर की स्थिति को और मज़बूत कर दिया। हिटलर ने अपने विरोधियों को डरा-धमका कर संसद तथा निर्वाचकों का समर्थन अपने पक्ष में करने में सफलता प्राप्त की।

हिटलर तथा मुसोलिनी, दोनों ने क्रमशः अपने-अपने देश में एक नया शासन तथा व्यवस्था को पुनर्स्थापित करने का प्रयास किया। दोनों ही उदारवादी लोकतंत्र की कमजोरियों के प्रति आश्वस्त थे। वे राजनीतिक दलों की विकट गुटबाजी से घृणा करते थे। वे दोनों ही समान रूप से विदेशी सरकारों तथा देश में साम्यवाद के घोर निंदक थे। दोनों ने ही राष्ट्रवाद के अधिक एवं उच्चतर आदर्श के नाम पर वर्ग-संघर्ष से ऊपर उठने की कोशिश की थी।

फ़ासीवादियों का यह तर्क था कि राज्य ही राष्ट्र है तथा राज्य ही समाज है। उसका अपना विशिष्ट जीवन है। राज्य के बाहर किसी भी वस्तु का कोई महत्त्व अथवा मूल्य नहीं है। केवल राज्य के पास ही मूल्यों को समन्वित करने तथा जीवन के प्रत्येक पक्ष की व्याख्या, विकास व अभिव्यक्ति की क्षमता है। उदारवादी अपनी बात व्यक्तियों से शुरू करते है और उन्हीं के संदर्भ में राज्य को देखते हैं। फ़ासीवादी सिद्धांत इससे विपरीत दृष्टिकोण से प्रारंभ होता है। इसका तर्क है कि व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है। वह राष्ट्र-राज्य जैसी बृहत्तर व्यवस्था के बिना नहीं रह सकता। यदि वह स्वार्थी हो जाता है, तो वह समाज-विरोधी है। राज्य को पूरा अधिकार है कि वह उसे सुधार सके। व्यक्ति राज्य रूपी अंग की केवल एक कोशिका है। अपने इसी रूप में ही उसे सच्ची स्वतंत्रता की अनुभूति हो सकती है। वह तभी स्वतंत्र होता है जब वह राज्य से अपना तादात्म्य स्थापित करता है।

यदि यह मान लिया जाए कि राज्य शरीर है और व्यक्ति केवल उसकी एक कोशिका, तो इस निष्कर्ष पर पहुंचना सरल है कि संपूर्ण शरीर की सुरक्षा के लिए कोशिका को दाव पर लगाया जा सकता है। राज्य इसे निर्मित करने वाले से बड़ा होता है। उनकी कल्पना का राज्य अपनेआप में एक आध्यात्मिक तथा नैतिक तथ्य है। मुसोलिनी ने यह घोषणा की थी कि "इतालवी राष्ट्र, उद्देश्यों, जीवन तथा कार्यसाधनों से युक्त एक ऐसी आंगिक-व्यवस्था है जिसकी व्यक्ति अकेले या मिलकर रचना करते हैं। वह एक नैतिक, राजनीतिक तथा आर्थिक एकता है जो किसी फ़ासीवादी राज्य में ही संभव है।" इस प्रकार, राष्ट्र-राज्य के नाम पर, फ़ासीवादी उस वैयक्तिकता, प्राकृतिक अधिकार तथा न्यायिक स्वतंत्रता को नकार सके थे जो पश्चिमी यूरोप की राजनीतिक संस्थाओं में विद्यमान थी।

फ़ासीवाद अपनी प्रकृति में अधिनायकवादी भी है। वह सामाजिक संगठन में कठोर पदानुक्रमण स्थिति को स्वीकार करता है। यदि राज्य शरीर है तो नेता उसका मस्तिष्क है। वही शरीर की आवश्यकताओं का आकलन करता है और उनके सर्वश्रेष्ठ समाधान संबंधी निर्णय लेता है। एक अर्थ में नेता ही समाज

की सामान्य इच्छा की व्याख्या करता है। समाज के संदर्भ में निर्णय लेने की एकमात्र सत्ता वही है।

व्यक्ति मात्र एक कोशिका है। उसे प्रत्येक दशा में नेता के आदेशों को स्वीकार करना होगा। वह केवल कर्तव्यों का पालन करता है, अधिकारों का उपयोग नहीं। नेता का निर्णय कभी गलत नहीं हो सकता। उस पर कोई विवाद नहीं हो सकता। अतः प्रतिनिधि लोकतंत्र का फ़ासीवादी व्यवस्था में कहीं कोई स्थान नहीं हो सकता। उसका स्थान उक्त नेता व उसके द्वारा नियुक्त व्यक्तियों की सरकार को लेना ही चाहिए। अकेले नेता ही समाज में घटित स्थितियों व प्रवृत्तियों को सुधार सकता है। फ़ासीवादी अपने नेता को 'ड्यूस' कहकर संबोधित करते थे जबकि नाज़ीवादी उसे 'फ्यूरर' कहते थे।

सिद्धांत

फ़ासीवाद एक ऐसा सिद्धांत है जो इस मान्यता को लेकर चलता है कि राज्य किसी नैतिक कानून के अधीन नहीं है। राज्य स्वयं नैतिकता का सर्वोच्च सरंक्षक है। यह सर्वोच्च समुदाय है। ''मुसोलिनी सदैव सही है'' यह अति फ़ासीवादी दल का मूल मंत्र भी था। उसका उद्घोष था ''विश्वास, आज्ञापालन, संघर्ष''। इस उद्घोष में फ़ासीवाद ने ईसाइयत के एक प्रमुख तत्त्व से *अपनेआप को जोड़ लिया था।* वह धर्म को मानव-व्यक्तित्व की गहनतम अभिव्यक्ति मानता था। उसने धर्म की रक्षा व संरक्षण के प्रयास किए। यह दृष्टिकोण मुसोलिनी व पोप के सौहार्दपूर्ण संबंधों को स्पष्ट करता है। अतिवादी नाज़ीवाद ने तो राज्य-चर्च की स्थापना करने का प्रयास किया, यद्यपि वह उसमें कोई विशेष सफलता नहीं प्राप्त कर सका।

फ़ासीवाद ने बहुमत आधारित शासन, लोकतंत्र को अस्वीकार किया। उसने इस बात से स्पष्ट इंकार किया कि केवल संख्या के आधार पर ही समय-समय पर विचार-विमर्श के द्वारा कोई सरकार चलाई जा सकती है। ऐसा इसलिए है क्योंकि जनसाधारण की ग्रहण करने की क्षमता *अत्यधिक सीमित है और उसकी* समझ कम है। समानता के सिद्धांत का स्थान इस व्यवस्था में एक व्यक्ति के नेतृत्व के सिद्धांत ने ले लिया। इसे नीत्शे के 'महामानव का सिद्धांत' कहते हैं। लोकतंत्र का प्रतिमान एक ऐसे पिरामिड के समान है जो कि अपने शीर्ष पर संतुलित है।

यह सिद्धांत जीवन के सभी क्षेत्रों में लागू माना जाता है। उदाहरण के लिए किसी उद्योग में मालिक नेता है और मज़दूर उसके अनुयायी हैं। इसी कारण साम्यवादी फ़ासीवादियों से घृणा करते है। उनके विचार में जर्मन संघ संहिता के अनुसार मालिक को नेता के रूप में और मज़दूर को अनुयायी के रूप में देखा जाना, पूंजीपतियों के सर्वसत्ताधिकारवादी इरादों पर पर्दा डालने के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। उनकी दृष्टि में फ़ासीवाद के रूप में पूंजीवाद अपने को बचाने का अंतिम हताशापूर्ण प्रयास था। इस अर्थ में फ़ासीवाद मृतप्राय पूंजीवाद का परिचायक नहीं बल्कि जीवन के लिए संघर्षरत पूंजीवाद का परिचायक था। फ़ासीवाद ने वस्तुतः एक चतुर मुद्रा अपना ली थी। इसने सभी श्रमिक संगठनों को भंग कर दिया था। इसने मालिकों की पहल को भी परिसीमित कर दिया था। इसने पूंजीवाद को स्वीकार किया और *लोककल्याणकारी राज्य के आदर्श की अधीनता* पर बल दिया। हिटलर ने यह घोषणा की कि यह देखना राज्य का कर्तव्य है कि ''पूंजी राष्ट्र की सेवक बनी रहे।'' नाजीवाद व फ़ासीवाद, दोनों ने अपने-अपने समष्टि राज्य (Corporate State) संबंधी विचार को विकसित किया। इस संदर्भ में हीगल के त्रि-वर्गीय विचार कृषि संबंधी, औद्योगिक तथा सार्वभौमिक अथवा शासन संबंधी वर्ग को आधार बनाते हुए मुसोलिनी ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि ये वर्ग मार्क्सवादी अर्थ में प्रतिद्वंद्वी नहीं हैं बल्कि परस्पर पूरक है। राज्य इन तीनों

वर्गों को अपने-अपने हित-साधन का अधिकार देता था। उसका यह मत था कि मज़दूर अपना काम करें और मालिक अपना काम। दल, जो कि तीसरा तत्त्व है, हर हालत में इन दोनों पर शासन करे। मज़दूर व पूंजीपति दोनों इसके अधीनस्थ है। यह आशा की गई थी कि इस प्रकार की व्यवस्था पर आधारित राज्य, वर्ग-संघर्ष को समाप्त करेगा और सद्भाव स्थापित करेगा।

राज्य के राजनीतिक तथा नैतिक सर्वोच्चता-सिद्धांत का आशय था इन दोनों देशों में उग्र राष्ट्रवाद का उदय। दोनों ने ही स्थायी शांति की संभावना व उपयोगिता से इंकार किया था। उनके अनुसार युद्ध अपने उच्चतम तनाव की स्थिति में समस्त मानव शक्ति को अभिव्यक्ति देता है और व्यक्तियों में निहित सर्वोत्कृष्ट क्षमता को प्रकट करता है। हिटलर के अनुसार "युद्धस्थितियों में मानवता महान बनती है और बाह्य शांति की स्थिति में मानवता नष्ट हो जाती है"। हिटलर तथा मुसोलिनी, दोनों नए साम्राज्यों का सपना देखते थे।

जर्मन फ़ासीवाद का सर्वाधिक निंदनीय तत्त्व आर्य नस्ल का सिद्धांत था। हिटलर ने यह घोषणा की थी कि आर्य दुनिया में सभी नस्लों से श्रेष्ठ हैं और इस कारण वे शासन करने के लिए सर्वाधिक उपयुक्त हैं। हिटलर के शासन का मूल उद्देश्य आर्य नस्ल की शुद्धता सुनिश्चित करना था। इस सिद्धांत के नाम पर उसने यहूदियों के खिलाफ जंग छेड़ दी थी। उन्हें गैस चेंबर्स में डाला गया तथा उनकी नृशंस हत्या कर दी गई। यहूदियों के विरुद्ध अपनेआप को बचाते हुए, हिटलर ने यह सोचा कि वह ईश्वर का सौंपा हुआ काम ही कर रहा है। नाज़ी शासन की समूची प्रकृति व शिक्षा-व्यवस्था, नस्ल संबंधी उद्देश्यों के द्वारा ही अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच सकती थी। हिटलर के अनुसार "जिन नवयुवकों का दायित्व राज्य पर है, उन के दिलोदिमाग में नस्ल की भावना कूट-कूट कर भरनी होगी।" स्वाभाविक रूप से मुसोलिनी हिटलर के शुद्ध नस्ल संबंधी दृष्टिकोण से सहमत नहीं था।

विभिन्न दृष्टिकोण

यहां फ़ासीवाद के चार दृष्टिकोणों का विश्लेषण करना उपयुक्त होगा।

- कई प्रतिपादकों ने फ़ासीवाद को उदारवादी अर्थव्यवस्था के लिए खतरा बताया है। उन का मत है कि उदारवादी राजनीतिक मूल्य एवं संस्थाएं अपना अपेक्षित कार्य पूरा करने में असफल रही हैं। इस असफलता के परिणामस्वरूप, फ़ासीवाद ने पूंजीवाद का स्थान ले लिया है।
- कुछ आलोचकों ने इसकी बराबरी सर्वसत्ताधिकारवादी व्यवस्था से की है। फ़ासीवाद नागरिकों पर पूरी रोक लगाता है जहां निजीकरण का कोई स्थान नही होता। मुसोलनी ने कहा है, ''राज्य में सब कुछ लिखित होता है, राज्य से बाहर कुछ भी नही होता, राज्य के विरुद्ध कुछ नही होता।'' शीतयुद्ध काल में जब फ़ासीवाद-साम्यवाद के पारस्परिक संबंध को उचित ठहराया गया था। तब ऐसे आलोचक काफी लोकप्रिय थे। 'नाजी-सोवियत समझौते' की व्यापक प्रशंसा हुई थी। हिटलर के नस्ल सुधार के प्रयासों तक स्तालिन के 'पवित्रीकरण अभियान' के बीच समानताएं बतलाई गईं। ऐसी व्यवस्था में भय तथा दमन को काफ़ी महत्त्व दिया गया। फ़ासीवाद तथा साम्यवाद की धारणाओं को निकट लाने के प्रयास किए गए। तदापि, उन की विचारधाराओं तथा मौलिक आधारों में मूल अंतर रहे हैं। फ़ासीवाद मध्यमवर्ग के हितों की रक्षा करता है। तथा चर्च एवं सेना जैसी पारंपरिक संस्थाओं का समर्थन करता है। जबकि साम्यवाद इन मूल्यों का विरोध करता रहा है।
- बीसवीं शताब्दी के छठे दशक में फ़ासीवाद को दक्षिणपंथियों के उग्रवाद के रूप में प्रस्तुत किया गया।

पारंपरिक विचारों को सामने रखा गया और उनको प्रोत्साहन दिया गया। फ़ासीवाद को दक्षिणपंथी के रूप में प्रस्तुत करने के प्रयास में, अतीत से इसकी निरंतरता दिखलाई गई। ऐसे स्पष्टीकरण में राजनीतिक विचारधाराओं का महत्त्व बढ़ गया।

- फ़ासीवादी अपने विश्वासों तथा कार्यों को औचित्य प्रदान करने के लिए अक्सर रूसो, हीगल, नेत्शे आदि के लेखनों का प्रसंगानुसार उदाहरण देते थे। ऐसा वे केवल अवसरवाद से प्रेरित होकर ही करते थे अन्यथा यह संदिग्ध है कि हीगल, रूसो अथवा नेत्शे की वैचारिक गूढ़ता में उनकी कोई विशेष रुचि थी।

वैसे भी एक बार सत्ता में आने के बाद उन्होंने समाजवादियों, साम्यवादियों, नौकरशाही के उद्दंड सदस्यों, मज़दूर संघों, यहूदियों और उन सभी अन्य लोगों का विनाश कर दिया, जो अर्ध-सैनिक बलों का विरोध करते थे। सामाजिक कल्याण की सर्वोच्चता के नाम पर उन्होंने राज्य-शक्ति का केंद्रीकरण किया तथा अधिकारों का उन्मूलन किया। उनकी आर्थिक नीतियां वास्तव में आंशिक रूप से सही थीं। इटली व जर्मनी दोनों देशों का उद्देश्य आत्मनिर्भरता पाना था और इस दिशा में पर्याप्त प्रगति भी हुई। आर्थिक संकट ने इन दोनों देशों को प्रभावित किया था जिससे उभरने के पर्याप्त संकेत मिलते थे। दोनों ही अपने-अपने देश में एकता स्थापित करने में भी समर्थ हो सके थे। दोनों ने ही अपने-अपने राष्ट्र को प्रथम दर्जे की शक्ति बनाने में सफलता प्राप्त की थी। नाजीवाद व फ़ासीवाद दोनों ने जनसाधारण में नई आशाएं जाग्रत कीं। इन दोनों देशों में फ़ासीवाद विचारधारा ने सभी पर कितना अधिक मनोवैज्ञानिक प्रभाव डाला था, इसका सही अनुमान लगाने के लिए द्वितीय विश्व युद्ध के कथानक पर बने अनेक चलचित्रों को देखा जा सकता है।

विभिन्न राजनीतिक लेखनों ने फ़ासीवाद की अलग-अलग तरीके से व्याख्या की है। इन में निम्नलिखित चार दृष्टिकोण प्रमुख हैं :

- फ़ासीवाद उदारवादी राज्यों के लिए एक खतरा
- फ़ासीवाद उग्र सर्वसत्ताधिकारवादी राज्य का पूर्ववर्ती
- फ़ासीवाद उग्र दक्षिणपंथी विचारधारा
- फ़ासीवाद आधुनिकवाद के विरुद्ध एक विद्रोह

फ़ासीवाद का मूल्यांकन तीन दृष्टिकोणों से किया जा सकता है- एक विचारधारा के रूप में, एक आंदोलन के रूप में तथा एक शासन-प्रणाली के रूप में। सैद्धांतिक दृष्टि से यह मानवतावाद के विरुद्ध है। यह मानवतावाद विरोधी था। यह राष्ट्र-राज्यवाद की सर्वोच्चता के नाम पर अधिकार एवं हित, स्वतंत्रता तथा समानता जैसे अत्यधिक अपेक्षित कुछ मूल्यों को नष्ट करना चाहता था।

सैद्धांतिक दृष्टि से देखा जाए, तो यह कहा जा सकता है कि उदारवाद जहां व्यक्तिगत हित के नाम पर एकता नष्ट करता है, वहीं फ़ासीवाद राज्य के नाम पर व्यक्ति की बलि चढ़ाता है। इस व्यवस्था में राज्य के नाम पर व्यक्ति को दाव पर लगाया जा सकता है। राज्य की वेदी पर उसकी बलि दी जा सकती है। 'राष्ट्र-राज्य' महत्त्वपूर्ण है लेकिन उसे सरकार का पर्याय नहीं माना जा सकता, क्योंकि सभी व्यावहारिक उद्देश्यों की दृष्टि से सरकार केवल लोगों का समूह ही होता है जो राज्य के नाम पर कार्य करती है। जितना अधिक गौरव-गान हम राज्य का करते है उतना ही गौरव-गान उन व्यक्तियों का होता है जो राज्य के नाम पर कार्य करते हैं। इस स्थिति में हमारे प्रयास तानाशाही के लिए मार्ग प्रशस्त करते हैं। समाज, विभिन्न संपूर्ण इकाइयों से मिलकर बनता है। राज्य का हित सदैव व्यक्ति के हित से उच्चतर नहीं हो सकता। इसीलिए महाभारत में यह मत प्रतिपादित किया गया था कि गांव के लिए व्यक्ति का बलिदान किया जा सकता है, प्रांत के लिए गांव की बलि दी जा सकती है तथा देश के लिए प्रांत का उत्सर्ग किया जा सकता हैं। परंतु आत्मा के लिए

संपूर्ण जगत का परित्याग किया जा सकता है। वैसे भी एक संपूर्ण इकाई के रूप में राज्य अकेला नहीं है। कई और भी राज्य विद्यमान हैं जिनकी अपनी अलग पहचान है। किसी भी एक इकाई को यह अधिकार नहीं है कि वह वैसी ही अन्य इकाइयों की स्वतंत्रता को कुचल दे। अतएव, किसी राज्य को यह अधिकार नहीं है कि वह अन्य राज्यों का विनाश करे।

सरकार की व्यवस्था के दृष्टिकोण से मूल्यांकन करने पर यह कहा जा सकता है कि ऐसी सरकार जो मानव अधिकारों व हितों का उल्लघंन करती है वह लंबे समय तक नहीं चल सकती। तानाशाहों को मजबूरन अपने राष्ट्रों को उच्च भावात्मक स्तर तक उत्तेजित करना पड़ता है। ऐसा करने के लिए वे पुरस्कार एवं दंड की ऐसी पद्धतियों का आविष्कार करते हैं जिनकी सहायता से वे सत्ता में बने रह सकें। हिटलर ने अतार्किक प्रचार, मिथकों व प्रतीकों के प्रयोग तथा विभिन्न नारों की पुनरावृत्ति द्वारा ऐसा किया। ऐसी कोई भी नीति अंततः आंतरिक क्षेत्र में हिंसा तथा बाह्य-परिवेश में युद्ध भड़काती है। फ़ासीवाद के उदय व पतन की कहानी इसी सत्य को प्रदर्शित करती है।

इटली में प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात फ़ासीवाद एक आंदोलन के रूप में उभरा। 1922 में मुसोलिनी के आगमन के बाद यह आंदोलन और सशक्त हो गया। कुछ समय के उपरांत जब जर्मनी में हिटलर का प्रभाव बढ़ा तो फ़ासीवाद अनेक देशों में फैलने लगा। यह आंदोलन आस्ट्रिया, हंगरी, रूमानिया और स्पेन में भी पैर फैलाने लगा। किंतु द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् फ़ासीवाद का मूलतः अंत हो गया। ऐसा अनुभव किया गया कि विशेषतया, सैन्य-विस्तारवाद तथा मानव अधिकारों का उल्लंघन मात्र हिटलर की फ़ासीवादी नीति का दुष्परिणाम था। संभवतः इसीलिए फ़ासीवादी का न केवल पूर्णतः अंत हुआ अपितु इसे संपूर्णतः नकार दिया गया, कटु आलोचना का शिकार हुआ और अंततः इसका परित्याग कर दिया गया।

यदि फ़ासीवाद का राजनीतिक व्यवस्था के रूप में मूल्यांकन किया जाए तो हम देखेंगे कि इस धारणा में एक दल, एक व्यक्ति और पुलिस का प्रभुत्व था। यह एक ऐसी व्यवस्था थी जहां राजनीतिक और सामाजिक क्रियाकलाप राज्य द्वारा ही नियंत्रित थे। यही नहीं, अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी फ़ासीवादी प्रशासकीय ढांचे को विस्तारवादी व आक्रामक मानते थे और इसीलिए यह मानव अधिकारों, प्रशासकीय व्यवस्था तथा राष्ट्रीय अस्मिता के लिए खतरनाक था। यह कहना गलत न होगा कि द्वितीय विश्व युद्ध ऐसी ही नीतियों का परिणाम था।

अभ्यास

1. फ़ासीवाद से क्या अभिप्राय है।
2. फ़ासीवादी सिद्धांत के किन्हीं चार कमजोरियों को बताइए।
3. 'फ़ासीवाद तथा लोकतंत्र एक-दूसरे के विरोधी हैं।' विवेचना कीजिए।
4. फ़ासीवाद की मुख्य विशेषताएं लिखिए।
5. टिप्पणी लिखिए :
   (क) फ़ासीवाद तथा पूंजीवाद
   (ख) फ़ासीवाद का वैचारिक दृष्टिकोण
   (ग) जर्मन फ़ासीवाद का 'आर्य नस्ल सिद्धांत'

अध्याय 16

गांधीवाद

गांधी जी राष्ट्रीय आंदोलन के सर्वोच्च नेता थे। वे एक ऐसे विचारक भी थे जिन्होंने अपने समय की अधिकांश धारणाओं तथा विश्वासों को चुनौती दी थी। उनसे पहले राष्ट्रीय आंदोलन समाज के कुछ भागों तक ही सीमित था। उन्होंने उसे जनआंदोलन का रूप दिया। राजनीतिक क्रिया से संबंधित उनकी व्यूह रचना ने ही मुख्यत: अंग्रेजों के विरुद्ध राष्ट्रीय आंदोलनात्मक विरोध के स्वरूप को निर्धारित किया था। 'स्वदेशी' तथा 'बहिष्कार' के विचार भारत में पहले से ही विकसित व प्रचलित थे लेकिन गांधी जी ने उन्हें अहिंसक सत्याग्रह के विचार से जोड़कर एक विलक्षण अर्थ प्रदान किया। उनकी राजनीतिक व्यूह-रचना ने भारतीय समाज के सभी वर्गों को राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष से जोड़ने का प्रयास किया। गांधी जी ने स्वयं इस बात से इंकार किया कि उनके विचारों को '*गांधीवाद*' की संज्ञा दी जा सकती है। परंतु यह कहना सही है कि उनके कुछ विचार ऐसे हैं जो मौलिक हैं तथा जिन्होंने अन्य विचारधाराओं की ही भांति विभिन्न लोगों पर अत्यधिक प्रभाव छोड़ा है। उनकी रचना *हिन्द-स्वराज* के अतिरिक्त गांधी जी का अधिकांश लेखन बिखरा हुआ तथा पुनरावृत्ति मात्र है। *हिन्द-स्वराज* की रचना गांधी जी ने राष्ट्रीय आंदोलन में कूदने से पूर्व की थी। इसके बावजूद, उनके लेखन में व्यक्ति व समाज की सुसंगत परिकल्पना है।

गांधी जी के प्रमुख विचारों को सार रूप में निम्नलिखित पांच शीर्षकों के अंतर्गत प्रस्तुत किया जा सकता है :

- पश्चिमी सभ्यता की समालोचना
- लोकतंत्र पर विचार
- स्वतंत्रता व राज्य
- स्वतंत्रता व आर्थिक संगठन
- संघर्ष समाधान की पद्धतियां

पश्चिमी सभ्यता की समालोचना

गांधी जी ने विवेकानंद तथा भारतीय पुनर्जागरण के अन्य नेताओं की भांति पश्चिमी सभ्यता की आलोचना की थी। उनके अनुसार पश्चिमी सभ्यता ऐसे सुविचारित तार्किक स्वार्थों पर आधारित थी जो मानव संबंधों को पूर्णत: अव्यस्थित करने में सक्षम थी। गांधी जी भारतीय सभ्यता के प्रशंसक थे। उनके विचार में विश्व में व्यक्ति के स्थान से संबंधित भारतीय सभ्यता का दृष्टिकोण अधिक संतोषजनक था। उन्होंने आध्यात्मवाद तथा व्यक्ति की आत्मखोज को पर्याप्त महत्त्व प्रदान किया। गांधी जी की इस मत में गहरी आस्था थी कि केवल भौतिक हितों के रूप में व्यक्ति के आत्महित की कोई भी तलाश वास्तव में सामाजिक संघर्षों को ही बढ़ाएगी। उनका सादे, नैतिक व पवित्र जीवन संबंधी प्राचीन विचारों में विश्वास था। इस सब का यह अर्थ बिल्कुल नहीं कि

वे प्रत्येक भारतीय धारणा या विचार के प्रशंसक थे। उदाहरण के रूप में, उन्होंने अनुसूचित जातियों के शोषण का जमकर विरोध किया और उनकी दशा सुधारने के लिए अन्य सभी लोगों की अपेक्षा कहीं अधिक योगदान दिया।

गांधी जी पश्चिम में प्रचलित राजनीतिक लोकतंत्र के स्वरूप को भी पसंद नहीं करते थे। उन्होंने उदारवादी लोकतंत्र को 'मछली बाजार' कहकर अस्वीकार किया जिसमें लोग केवल अपने निजी स्वार्थों के लिए ही संघर्षरत रहते हैं। गांधी जी इस बात को मानते थे कि किसी भी सरकार को जनसहमति पर आधारित होना चाहिए लेकिन साथ ही उनकी यह भी इच्छा थी कि राज्य निःस्वार्थ व्यक्तियों के शासन को चरितार्थ करे। उनके अनुसार ब्रिटेन में प्रचलित लोकतंत्र त्रुटिपूर्ण था क्योंकि वह संख्यात्मक आधार पर स्थापित था। उसमें जिसे भी 51 प्रतिशत मत (सीट) मिल जाएं, वह शासन का अधिकारी हो जाता था। इनकी यह इच्छा थी कि आम व्यक्ति को भी वैसे ही अवसर प्राप्त होने चाहिए जो सबसे बलशाली को उपलब्ध होते हैं। उनको उदारवादी लोकतंत्र के प्रति यह आपत्ति थी कि उसका वास्तविक प्रचलित अर्थ दलीय शासन अथवा यथार्थ में देखा जाए तो प्रधानमंत्री का शासन हो गया था जिनमें प्राय: उद्देश्य के प्रति निष्ठा का अभाव रहता था। इस पद्धति में प्रत्येक दल बिना परिणाम की चिंता किए सौदेबाजी के आधार पर जीतता था।

गांधी जी ने औद्योगिक सभ्यता को अनैतिक मानते हुए उसका तिरस्कार किया जिसका एक व्यवहारिक कारण यह था कि हमारा समाज प्रधानत: एक ग्रामीण समाज है। ऐसे समाज में ज्यादातर लोग कृषि पर आश्रित हैं। उनका यह विचार था कि ऐसे समाज में श्रम को बचाने हेतु कोई भी उपाय लोगों के जीवन में तबाही ला सकता है, किंतु बढ़ती उम्र के साथ-साथ प्रौद्योगिकी (टेक्नोलॉजी) के प्रति उनका विरोध कम हो गया था। उन्होंने ऐसी किसी भी प्रौद्योगिकी को स्वागत-योग्य मानना शुरू कर दिया था जो बेरोजगारी न बढ़ाए, ग्रामीण हस्त-शिल्प तथा ग्रामीण जीवन की सादगी को नष्ट न करे।

गांधी जी के लोकतंत्र संबंधी विचार

1909 में *हिन्द-स्वराज* में महात्मा गांधी ने आधुनिक सभ्यता की संस्थाओं, संसद, न्यायालयों, पुलिस, सेना, मशीनरी, अस्पताल तथा रेलवे आदि के मूल्यों और भूमिका के प्रति अति नकारात्मक विचार व्यक्त किए। उनके मतानुसार, आधुनिक सभ्यता से संबंधित ये संस्थाएं नैतिकता से किसी भी प्रकार जुड़ी हुई नहीं है जबकि ठीक इसके विपरीत, "भारतीय सभ्यता की प्रवृत्तियां" नैतिक मूल्यों को बढ़ावा देती हैं। संभवत: इसीलिए उन्होंने आधुनिक पाश्चात्य संस्थाओं के स्थान पर एक वैकल्पिक आदर्श के रूप में वास्तविक गृह शासन 'स्वशासन' और 'स्व नियंत्रण' की प्रवृत्तियों पर बल दिया जो सत्य और अहिंसा के आध्यात्मिक मूल्यों पर आधारित थीं।

भारतीय जनसाधारण को स्वतंत्रता संग्राम से जोड़ने की प्रक्रिया के दौरान एक ही वर्ष में गांधी जी को अपने आधुनिक सभ्यता-संबंधी संस्थाओं के आरंभिक विचारों में परिवर्तन करना पड़ा। महात्मा गांधी के अपने विचारों में संशोधन का कारण न केवल उनकी स्वतंत्रता संग्राम में सक्रिय भूमिका थी अपितु इसके साथ ही साथ राजनीतिक नेताओं और राजनीतिक विचारकों द्वारा उनकी पुस्तिका की आलोचनात्मक टिप्पणियां भी थीं। अतंत: 1915 में दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटने के एक वर्ष के भीतर महात्मा गांधी को आधुनिक जीवन से संबंधित संस्थाओं जैसे संसद, न्यायालयों, मशीनरी, रेलवे, अस्पताल के संबंध में सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाना पड़ा। *हिन्द-स्वराज*

में अपने पूर्व वर्णित विचारों को पूर्णतः नकराने के बजाय गांधी जी ने अनिच्छापूर्वक उन संस्थाओं को अंगीकार किया। उनके मतानुसार ये संस्थाएं "संसदीय स्वराज की प्राप्ति की दिशा में क्षम्य है।"

'संसदीय स्वराज' की संगठनात्मक विशिष्टताओं के अंतर्गत गांधी जी ने ग्राम-आधारित विकेंद्रीकृत संगठन को प्राथमिकता दी। वह इस व्यवस्था में सरकार के निम्नतम स्तर पर भी प्रत्यक्ष चुनाव का समर्थन करते थे। विकेंद्रीकृत संसदीय/लोकतांत्रिक स्वराज्य का ग्राम-आधारित मॉडल का समर्थन न तो कांग्रेस ने किया और न ही भारतीय संविधान द्वारा इसे अंगीकार किया गया। इसके बावजूद भारतीय संविधान में गांधी जी के कुछ आदर्शों, जैसे ग्राम पंचायत आदि को स्थान प्रदान किया गया है। यही नहीं, इसके अतिरिक्त भी व्यैक्तिक तथा नागरिक स्वतंत्रताएं तथा लोकतांत्रिक अधिकार, जो संविधान के उदारवादी लोकतांत्रिक राजनीतिक दर्शन के अंग के रूप में संविधान में सम्मिलित किए गए हैं, मूलतः गांधी जी के अपने नैतिक-राजनीतिक दर्शन से संबद्ध हैं।

स्वतंत्रता व राज्य

राज्य की शक्ति में अभिवृद्धि को गांधी जी अत्यधिक भयानक मानते थे। उनकी दृष्टि में ऐसी कोई भी अभिवृद्धि वैयक्तिता के लिए अत्यंत घातक थी। गांधी जी के अनुसार राज्य 'केंद्रित रूप में हिंसा' का प्रतिनिधित्व करता था। उनका यह तर्क था कि ''व्यक्ति के पास आत्मा है लेकिन राज्य एक आत्मा-रहित यंत्र है, उसे कभी भी हिंसा से अलग नहीं किया जा सकता क्योंकि उसका अस्तित्व ही हिंसा से निर्धारित हुआ है''। उनका भी स्वराज में विश्वास था जिसमें व्यक्ति स्वयं अपना मालिक बन सके। गांधी जी प्रायः भारतीय समाज में व्याप्त आध्यात्मिक प्रभुता को पश्चिमी राजनीतिक प्रभुता के विपरीत मानते थे। उनके विचार में पश्चिम जहां 'क्रूर बल' को महत्त्व देता था वहीं प्राचीन भारतीय समाज ऐसे राजाओं को गरिमा-मंडित करता था जो अपनी तलवार की धार को नैतिकता की तलवार की धार से कम मानते थे।

उन्होंने एक ऐसे अहिंसक राज्य की कल्पना की थी जो जनता की स्वैच्छिक सहमति पर आधारित था और समाज की प्रायः सर्वसम्मति का प्रतिनिधित्व करता था। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि यदि भारत को अहिंसक रास्ते पर चलते हुए अपना विकास करना हो तो उसे शक्ति का विकेंद्रीकरण करना ही होगा, क्योंकि एक व्यवस्था के रूप में "केंद्रीकरण, समाज की अहिंसक संरचना से असंबद्ध है।'' गांधी जी न केवल राजनीतिक शक्ति के केंद्रीकरण के विरोधी थे बल्कि वह आर्थिक शक्ति के केंद्रीकरण के भी खिलाफ थे। वह व्यापक उत्पादन तथा बाद में व्यापक नियंत्रण पर आधारित उद्योगों के भी विरुद्ध थे। उनका यह विश्वास था कि किसी केंद्रीकृत राज्य-व्यवस्था में अमीर व गरीब लोगों में संघर्ष अपरिहार्य है। दूसरी ओर, विकेंद्रीकरण लोगों को उत्तरदायी व अहिंसक बनाता है। उससे लोगों में परस्पर सहयोग की भावना विकसित होती है।

गांधी जी का आदर्श राज्य पूर्णतः आत्म-नियमित था। गांधी जी ऐसा सोचते थे कि इस राज्य में हर व्यक्ति स्वयं अपना शासक होगा। वह अपने को इस प्रकार शासित करेगा कि वह अपने पड़ोसी के लिए कभी भी बाधा न बन सके। यही कारण था कि गांधी जी रामराज्य के प्रशंसक थे क्योंकि रामराज्य उनकी दृष्टि में त्याग व अनुशासन का मूर्त-रूप था। वे अबू बेकर तथा हजरत उमान को भी राम-सदृश मानते थे। लेकिन गांधी जी यह भी जानते थे कि ऐसा रामराज्य निकट भविष्य में निर्मित नहीं किया जा सकता। इसका एक प्रमुख कारण समाज की असमानताएं थीं, जिसमें

''कुछ लोग अमीरी का आनंद उठाते थे जबकि जनसाधारण के लिए खाने को भी पर्याप्त नहीं था।'' इस कारण, उन्होंने यह स्वीकार किया कि वर्तमान परिस्थितियों में कुछ अतिवादी मामलों में बलप्रयोग का सहारा लिया जा सकता है, किंतु उनकी यह मान्यता थी कि वही राज्य अच्छा है जहां लोगों पर कम से कम शासन हो।

गांधी जी की यह मान्यता थी कि पंचायतों के माध्यम से कार्यशील ग्रामीण गणराज्य लोगों को सहकारी कार्य सिखाते हुए उनकी स्वाभाविक शक्तियों को विकसित करने में सफल होंगे। अत: उन्होंने ग्राम पंचायतों को अधिक से अधिक शक्तियां देने का आग्रह किया। इस व्यवस्था में प्रत्यक्ष गांव की आत्म-निर्भरता पर अधिक बल दिया और ऐसा करते हुए इस व्यवस्था में प्रत्येक गांव को अपने मामलों के निजी प्रबंध की क्षमता विकसित करनी थी। गांधी जी इस व्यवस्था के प्रशंसक इसलिए थे क्योंकि उसमें हर व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं से परिचित होगा, साथ ही उसे यह भी ज्ञात होगा है कि ''उसे कोई भी ऐसी मांग नहीं करनी चाहिए जो दूसरा व्यक्ति उतना ही श्रम करके पाने का अधिकारी न हो।'' गांधी जी के समाज संबंधी विचारों को उनके इस उद्धरण के साथ समाप्त किया जा सकता है ''असंख्य गांवों से निर्मित इस संरचना में ऐसे घेरे होंगे तो सतत व्यापक होंगे परंतु किसी भी सत्ता का केंद्रीकरण नहीं होगा। जीवन कोई ऐसा पिरामिड नहीं होगा जिसका शीर्ष उसके तल पर आधारित हो बल्कि जीवन एक ऐसा सामुद्रिक वृत होगा जिसका केंद्र व्यक्ति होगा .... (ऐसा व्यक्ति) जो गांव के लिए मर मिटने को तैयार होगा, और यह क्रम तब तक चलता रहेगा जब तक कि अतत: संपूर्ण व्यक्तियों से निर्मित कोई एक समन्वित जीवन न बन जाए।'' उन्होंने आगे और व्याख्या करते हुए यह भी कहा था कि ऐसी व्यवस्था में बाह्यतम परिधि आंतरिक वृत्त को कुचलने के लिए शक्ति संयोजित नहीं करेगी बल्कि वह अंतर्निहित सभी पक्षों को शक्ति प्रदान करेगा और स्वयं उनसे शक्ति भी अर्जित करेगा।

स्वतंत्रता व आर्थिक संगठन

मार्क्स की भांति गांधी जी ने भी श्रम पर बल दिया था। उनका यह विश्वास था कि श्रम ही वास्तविक संपत्ति है जो धन पैदा करती है और उसे बढ़ाती है। उनके विचार में ''संपत्ति का वास्तविक स्वामी वह है जो किसी सजग उत्पादनकारी उद्देश्य से कुछ सुनिश्चित श्रम का निवेश करता है।'' उनका यह विश्वास था कि बिना श्रम के तो व्यक्ति को एक समय का खाना भी नहीं खाना चाहिए। श्रम संबंधी ऐसा मनोभाव ही गांधी जी की दृष्टि में, आार्थिक स्वतंत्रता को प्रोत्साहित करेगा जो बदले में हमें निर्भय बनाएगा तथा हमारे राष्ट्रीय चरित्र को और भी अधिक निखारेगा।

गांधी जी ने संपत्ति का पूरी तरह खंडन किया था। उन्होंने सदैव यह सोचा कि संपत्ति ईश्वर-प्राप्ति में एक बाधा है। एक बार चोरी होने के अवसर पर उन्होंने प्रेमचंद के 'गंगाबिहारी' के लिए दिए गए कथन का उल्लेख करते हुए यह मत दोहराया था कि ''यह एक वरदान ही है कि मेरे सब बंधन टूट गए हैं, अब मेरे लिए श्री गोपाल की सिद्धि आसान हो जाएगी।'' यद्यपि गांधी जी इस बात के प्रति सजग थे कि ऐसा पक्ष लेना सामान्यत: अव्यावहारिक है। अत: उन्होंने यह घोषणा की कि यदि कोई संपत्ति कानूनी रूप से अर्जित की जाए तो वह संरक्षण-योग्य है।

इसी संदर्भ में गांधी जी ने पूंजीपतियों व जमींदारों से न्यासी बनने का आग्रह किया था। उनका यह तर्क था कि इन लोगों को अपने किराएदारों तथा मज़दूरों और काश्तकारों को सह-स्वामी मानना चाहिए। जमीदारों

की जमींदारी अथवा उद्यम ऐसे लोगों के पक्ष में न्यास के रूप होने चाहिए। गांधी जी यह मानते थे कि पूर्ण न्यासिकता प्राप्त नहीं की जा सकती लेकिन उनके मत में यदि उसे पाने का सच्चा प्रयास किया जाए तो वह प्रयास ही इस दुनिया में समानता पाने की दिशा में बहुमूल्य योगदान होगा। ऐसा योगदान किसी अन्य पद्धति से प्राप्त नहीं किया जा सकता। अतएव हृदय-परिवर्तन ही उनकी दृष्टि में इस समस्या का सही उत्तर था।

राज्य स्वामित्व के विषय में गांधी जी क्या सोचते थे? क्या उनके मत में यह निजी स्वामित्व से बेहतर नहीं था? गांधी जी मानते थे कि वह बेहतर है लेकिन उन्होंने हिंसा के कारण उसे अस्वीकार किया। उनका विश्वास था कि ''यदि राज्य हिंसा द्वारा पूंजीवाद को दबाएगा तो वह स्वयं हिंसा की लपेट में आ जाएगा और कभी भी अहिंसा का विकास नहीं कर सकेगा।'' यदि ज़मींदार अथवा पूंजीपति न्यासी बनने से इंकार कर दें और राज्य-स्वामित्व अपरिहार्य हो तो उस स्थिति में गांधी जी न्यूनतम राज्य स्वामित्व के समर्थक थे।

संघर्ष-समाधान की पद्धतियां

गांधी जी ने घृणा के बदले प्रेम की शक्ति विकसित करने की आवश्यकता पर बल दिया। बहिष्कार व शांतिपूर्ण प्रतिरोध के स्थान पर उन्होंने अहिंसा तथा सत्याग्रह को अपनाने का आग्रह किया। उन्होंने लिखा था कि साधनों को सही अर्थों में साधन होने के लिए उन्हें हमेशा शुद्ध होना चाहिए। उनके अनुसार अहिंसा हमारा परम कर्तव्य है। उन्होंने कहा था कि यदि हम साधनों की पर्याप्त परवाह करें तो निश्चय ही कभी-न कभी हम साध्य तक पहुंच ही जाएंगे। इस संदर्भ में उन्होंने अपने विचार थोरी, इमर्सन, टॉलस्टॉय तथा जैन परंपरा आदि से प्रभावित होकर विकसित किए थे। वह 'सरमन ऑन दि माउंट' से भी प्रभावित थे। उन्हें विश्वास था कि व्यक्ति को सत्य व अहिंसा से दीक्षित किया जाए। उनके मतानुसार सत्ययुक्त होकर व्यक्ति सर्वहित के लिए भौतिक परिस्थितियों को रूपांतरित कर पाएगा। भौतिक परिस्थितियां और वैयक्तिक चरित्र, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जिसमें गांधी जी के अनुसार वैयक्तिक चरित्र को वरीयता प्राप्त है क्योंकि केवल उसीमें भौतिक परिस्थितियों को स्थायी रूप से रूपांतरित करने की क्षमता है। न्यासिता और सत्याग्रह दोनों ऐसे ही साधन हैं।

सत्याग्रह दो शब्दों से बना है- 'सत्य' तथा 'आग्रह'। इसमें 'सत्य' सच्चाई का परिचायक है जबकि 'आग्रह' से 'बल', 'अनुरोध' तथा 'आत्म-शक्ति' का बोध होता है। किसी सत्याग्रही को अहिंसा तथा नैतिक विश्वास की दृढ़ता द्वारा ही हिंसा का विरोध करना चाहिए। गांधी जी के अनुसार सत्याग्रह, अधिकारियों के प्रतिरोध का ही तरीका नहीं है, बल्कि वह प्रेम और नैतिकता द्वारा समाज में सत्य की प्रतिष्ठा का भी एक कारगर तरीका है। गांधी जी का यह दृढ़ विश्वास था कि हिंसा दूसरों को आघात पहुंचाती है जबकि सत्याग्रह संभवत: स्वयं सत्याग्रही को निजी पीड़ा दे सकता है। सत्याग्रही केवल जीतने की ही कोशिश नहीं करता बल्कि यह सार्वजनिक कल्याण व सत्य की खोज करता है जिसे गांधी जी ने ईश्वर का प्रतीक माना था। इसके बावजूद, यदि हिंसा तथा कायरता में से किसी एक को चुनना हो तो गांधी जी सदैव हिंसा को चुनने के पक्ष में थे।

सामाजिक अथवा राजनैतिक असत्य एवं हिंसा व्यवस्था का प्रतिरोध करने तथा उसको परिवर्तित करने हेतु सत्याग्रह गांधीवादी अहिंसा की एक राजनैतिक कार्रवाई है। गांधी जी के अनुसार शांतिपूर्ण प्रतिरोध की सत्याग्रह से तुलना करते हुए निम्नलिखित विशेषताएं

बताई गई हैं :

- जहां शांतिपूर्ण प्रतिरोधी अपने विरोधियों के प्रति घृणा रखते हैं, वहीं सत्याग्रही अपने विरोधियों के प्रति प्रेम-भाव रखते हैं।
- 'शांतिपूर्ण प्रतिरोधी', सत्याग्रहियों के विपरीत अपने विरोधियों को परेशान या क्षति पहुंचा सकते हैं।
- शांतिपूर्ण प्रतिरोधियों के विपरीत, सत्याग्रह अपने निकटतम एवं प्रियजनों के प्रति भी किया जा सकता है।
- शांतिपूर्ण प्रतिरोध कमजोरों और असहायों के द्वारा किया गया प्रयोग है जिसमें हिंसा का प्रयोग सम्मिलित है, जबकि सत्याग्रह एक नैतिक राजनीतिक कार्यवाही है, जो सशक्तों के द्वारा की जाती है, तथा इसमें हिंसा का प्रयोग वर्जित है।

सत्याग्रह के विभिन्न तरीके निम्नलिखित हैं :

- सत्याग्रहियों द्वारा शुद्धिकरण की कार्यवाही जैसे, शपथ, प्रार्थना और उपवास।
- असहयोग की कार्यवाही; जैसे बहिष्कार, हड़ताल, उपवास, हिजत (ऐच्छिक बहिर्गमन)।
- सविनय अवज्ञा की कार्यवाही, जैसे धरना देना, करों को अदा न करना और कानून विशेष की अवमानना।
- समाज सुधार एवं समाज सेवा के रचनात्मक कार्यक्रम; जैसे सांप्रदायिक सदभावना एवं एकता को प्रोत्साहन देना, अस्पृश्यता निवारण, प्रौढ़ शिक्षा, आर्थिक एवं सामाजिक असमानता को दूर करना।

इस प्रकार गांधी जी ने अपने विचारों में राज्य, संपत्ति तथा औद्योगीकरण की गंभीर आलोचना की। उन्होंने वैकल्पिक मूल्यों तथा संस्थाओं को भी प्रस्तुत किया था। उनके अनुसार असमानताओं, बाध्यकारी राज्य तथा प्रतियोगी पूंजीवाद के आधार पर बना कोई भी समाज वस्तुतः अनैतिक होता है। उन्होंने यह कहा कि यदि "सादा जीवन जीने योग्य है तो उसके लिए प्रयास करना सर्वथा उचित है।।" उनके कई विचार अस्पष्ट हैं। एक राजनीतिक व्यूह रचयिता के रूप में उनके चिंतन में निहित यथार्थवाद प्रायः उनके ही विचारों में विद्यमान आदर्शवाद के विपरीत हो जाता। इसमें कोई संदेह नहीं कि गांधी जी ने लगभग उन सभी प्रश्नों को उठाया जो आधुनिक सभ्यता की दृष्टि से पूरी तरह प्रासंगिक हैं। इन प्रश्नों में राज्य शक्ति में अभिवृद्धि, नौकरशाही द्वारा उत्पीड़न, हिंसा का बढ़ता प्रयोग, बड़ी प्रौद्योगिकी के दुर्भाग्यशाली परिणाम आदि उल्लेखनीय हैं। आधुनिक सभ्यता की उनकी समालोचना अत्यधिक प्रामाणिक है। इसी प्रकार, साध्य साधन के संबंधों का उनके द्वारा प्रतिपादन भी काफी विचारणीय है। इन सब संदर्भों में कोई भी विचारक उतना उपयुक्त नहीं है जितना कि गांधी जी। उनका सर्वाधिक उल्लेखनीय योगदान है आर्थिक व राजनीतिक विकेंद्रीकरण संबंधी उनका प्रबल आग्रह। राज्य के नीति निदेशक तत्त्व इसी गांधीवादी आग्रह का अनुसरण करने पर बल देते हैं। इसके अतिरिक्त आज विश्व भर के समाज वैज्ञानिक, अंतर्राष्ट्रीय विकास की विसंगतियों को दूर करने के लिए गांधीवादी विकल्पों पर पुनर्विचार व पुनर्व्याख्या करने को उत्सुक हैं। ये प्रयास आज की दुनिया में भी गांधी जी की पर्याप्त प्रासंगिकता सिद्ध कर रहे हैं।

अपनी इन समस्त वैचारिक विशिष्टताओं के बावजूद गांधी जी ने वैकल्पिक संस्थात्मक व्यूह रचना को पर्याप्त रूप से विकसित नहीं किया। जिसकी सहायता से आधुनिक काल में उनके विचारों को व्यावहारिक संदर्भ प्रदान किया जा सके। उदाहरण के लिए न्यास संबंधी अपने विचारों

को प्रस्तुत करते समय उन्होंने पूंजीपतियों की घोर स्वार्थपरकता पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया। यह ऐसे कई कारणों में से एक है जिसकी वजह से आजादी के बाद भारतीय जनता उनके विचारों को ठोस स्वरूप प्रदान करने में विफल रही। यद्यपि उन्होंने स्वयं संचालित राजनीतिक संघर्ष के औचित्य से भारतीय जनता को अच्छी तरह अवगत करा दिया था लेकिन वह अपने विचारों को ऐसी स्पष्टता नहीं दे सके जिससे भारतीय जनता को यह अनुभव हो कि नई राजनीतिक आर्थिक व्यवस्था का उनके विचारों से भी संबंध हो सकता है। इसी कारण जहां गांधी जी के कई अनुयायी प्रेरणा के लिए यूरोपीय समाजवाद के प्रति आकर्षित हुए, वहीं अन्य गांधीवादी अहिंसा पर आधारित सामुदायिक जीवन के लिए सर्वोदय दर्शन की ओर उन्मुख हुए। अंततः यह कहा जा सकता है कि गांधी जी का महान योगदान इस बात में निहित था कि उन्होंने बीसवीं शताब्दी की ज्वलंत समस्याओं को उभारा। इस क्रम में उन्होंने यह मत प्रतिपादित किया कि राजनीति, उद्योग तथा प्रौद्योगिकी को जीवन-आदर्शों के अधीन होना चाहिए। इसी कारण यह संभव है कि हम में से कुछ गांधी जी के विचारों से भले ही असहमत हों, लेकिन हम उनकी उपेक्षा भी नहीं कर सकते।

अभ्यास

1. गांधी जी ने पश्चिमी सभ्यता की आलोचना किन आधारों पर की थी?
2. लोकतंत्र और राज्य पर गांधी जी के विचारों का वर्णन कीजिए।
3. राजनीतिक और आर्थिक विकेंद्रीकरण के संबंध में गांधी जी के विचारों का वर्णन कीजिए।
4. 'संघर्ष समाधान' क्या है? संघर्ष समाधान के लिए गांधी जी की पद्धति का वर्णन कीजिए।
5. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए :
   (क) संसदीय स्वराज
   (ख) सत्याग्रह और शांतिपूर्ण विरोध
   (ग) सत्याग्रह की विधियां

अध्याय 17

मानववाद

मानववाद की अवधारणा का प्राथमिक रूप से उस विचारधारा से संबंध है जिसकी दृष्टि व्यक्ति की स्वायत्तता पर केंद्रित है। मानववाद शब्द के कई अर्थ हैं। सामान्यत: यह एक सिद्धांत है जिसके अनुसार, जैसा कि तजवेतन टोडोराव का कथन है, "मानव मानवीय कर्म का अन्तिम प्रस्थान बिंदु और संदर्भ बिंदु है"। मानववाद शब्द पहली बार संभवत: फ्रांसीसी विचारक मोंटेन के लेखन में आया है जहां उसने अपने चिंतन को धर्मशास्त्रियों के चिंतन के विपरीत प्रस्तुत किया। मानववाद, यूरोप में पुनर्जागरण एवं ज्ञानोदय का परिणाम था और इसकी पूर्ण अभिव्यक्ति अमरिकी और फ्रांसीसी क्रांतियों के दौरान हुई।

ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी ने मानववाद को इस प्रकार परिभाषित किया है: "एक दृष्टिकोण अथवा वैचारिक व्यवस्था जिसका संबंध मानव से है न कि दैवी अथवा अलौकिक पदार्थों से। मानववाद एक विश्वास अथवा दृष्टिकोण है जो सामान्य मानवीय आवश्यकताओं पर बल देता है और मानवीय समस्याओं के समाधान के लिए केवल तर्क संगत समाधान तलाशता है और मानव को उत्तरदायी एवं प्रगतिशील बुद्धिजीवी मानता है।"

मानववादी, मानव की क्षमता में विश्वास रखते हैं। उनका कहना है कि मानव में बहुत सामर्थ्य है और यदि उसे विकास का अवसर मिले और उसका पूर्ण विकास हो जाए तो मानव बहुत ऊंचा उठ सकता है। मानववादियों का मानव की अच्छी प्रकृति में विश्वास है। गांधी, रसल और टॉलस्टाय बीसवीं सदी के महान मानववादी थे। अपने प्रारंभिक लेखन में मार्क्स भी मानववादी था। मार्क्स की प्रारंभिक कृतियों में *इकोनॉमिक एंड फिलास्फिकल मैन्यूस्क्रिप्ट्स* (1842) सम्मिलित हैं जो 1848 में प्रकाशित *कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो* से पूर्व लिखी गईं थी। एम. एन. राय भी मानववादी थे हम उनके मानववाद के विषय में आगे के पृष्ठों में पढ़ेंगे। उनकी वैचारिक यात्रा लंबी थी। उसने अपनी यात्रा मार्क्सवाद से प्रारंभ की और उग्र मानववाद पर समाप्त की।

मध्य युग में, मानव को, ईश्वर के अधीन बना दिया गया था। उसकी पहुंच प्रकृति के गुप्त रहस्यों तक थी परंतु अंतिम विश्लेषण में वे पूर्णत: ईश्वर के प्रति समर्पित थे। इस परिप्रेक्ष्य में पुनर्जागरण और ज्ञानोदय से बदलाव आया। मनुष्य इस सृष्टि का केंद्र बन गया। अब उसका स्वतंत्रता से इच्छा करना और स्वयं अपना स्वामी बनना संभव होने लगा था। उसके पास अब परंपराओं और ईश्वर के आदेशों के स्थान पर अपने और अपने साथियों के लिए जीवन चुनने की स्वतंत्रता थी। इसका अभिप्राय: यह था कि अब उसके पास अपना घर और अपना व्यवसाय चुनने की स्वतंत्रता थी। धार्मिक ग्रंथ व परंपराएं अब उसके लिए गौण थीं। यद्यपि धर्म अभी भी अपनी भूमिका निभाता रहा था; तथापि महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि मनुष्य को सत्य और असत्य, ठीक और

गलत, न्याय और अन्याय तथा अच्छे और बुरे में भेद करने का विवेकपूर्ण अधिकार मिल गया।

मानववादी चिंतन में मनुष्य अपने निजी जीवन में स्वतंत्र होता है। वह न केवल अद्‌वितीय है, अपितु भिन्न भी है जो कभी दूसरा नहीं हो सकता। नैतिक जीवन के नियम निर्धारण के लिए उसने अंतर्निहित प्राकृतिक अधिकार भी प्राप्त किए। बाद में इसके साथ एक अन्य पक्ष और जुड़ा जब मानव ने सार्वजनिक क्षेत्र में भी स्वतंत्रता का दावा किया और राजनीतिक शासन चुनने के अपने अधिकार पर बल दिया। इस प्रकार लोकतंत्र, सरकार का एकमात्र वैध रूप बन गया। यह आंदोलन 18वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में, अमरिकी और फ्रांसीसी क्रांतियों के दौरान, पूरे ज़ोर पर था। दोनों क्रांतिया इस विचार से प्रेरित थीं कि कोई भी सत्ता/शक्ति, भले ही वह परंपरा, परिवार अथवा राज्य हो, मनुष्य की इच्छा से श्रेष्ठतर नहीं हो सकती।

इन परिवर्तनों के परिणामस्वरूप तीन मुख्य अवधारणाएं उभरीं :

भौतिकवाद

क्योंकि ईश्वर का अस्तित्व संदिग्ध है और मानव पूर्णरूप से अपना स्वामी है, वह स्वयं अपने मूल्य निर्धारित करेगा और भौतिकवादी होगा। आधुनिक विज्ञान तर्क की भूमिका पर बल देता है, और प्रकृति तथा इतिहास के संपूर्ण रहस्यों को भेदने में तर्क की प्रासंगिकता और क्षमता पर विश्वास करता है। विज्ञान, तकनीक का निर्माण करता है और इस विचार की ओर प्रेरित करता है कि हम न केवल प्रकृति को समझ सकते हैं, अपितु इसे अपनी इच्छानुसार बदल भी सकते हैं।

व्यक्तिवाद

परंपराओं और पारिवारिक संबंधों का दबाव व्यक्ति की स्वतंत्रता को सीमित करता है। इसलिए व्यक्ति को अपनी स्वायतत्ता के लिए ज़ोर देना चाहिए तथा अपने हितों के अनुसार निर्णय करने चाहिए। स्वतंत्रता पुनर्जागरण का सबसे मूल्यवान उपहार है तथा हमें किसी भी कीमत पर इसे बनाए रखना चाहिए। ऐसा नहीं कि प्रत्येक ने इस स्थिति को पूर्णरूपेण स्वीकार किया। उदाहरण के लिए रूढ़िवादी अभी भी परिवार एवं परंपरा के मूल्यों के साथ चिपके रहना चाहते हैं। अन्य वे हैं जो सहभागी जीवन के मूल्यों को छोड़ना पसंद करते हैं, लेकिन मानववादियों का मानना है कि मनुष्य निजी अंतर्संबंधों में वस्तुगत समान स्थितियों को जीता है जैसा कि टोडोराव का कथन है कि "प्रत्येक की अपने साथ संवाद में अनूठी स्थिति है। प्रत्येक अकेला होता है और अपनी क्रियाओं के लिए स्वयं उत्तरदायी है।" सभी मामलों में अंतिम निर्णय अब व्यक्ति पर रहता है। उसे जीवन के प्रति सकारात्मक होना चाहिए। अपनी शक्तियों पर ज़ोर देना चाहिए तथा दूसरों के संबंध में अपने हितों को निरंतर आगे बढ़ाना चाहिए।

लोकतंत्रवाद

मानव विवेक संपन्न है इसलिए उसमें अच्छे या बुरे का निर्धारण करने की क्षमता है और उसे अपनी राजनीतिक शासन प्रणाली चुनने का अधिकार है। लोकतंत्र, वैध सरकार का एकमात्र रूप है, क्योंकि यह लोगों की इच्छा के विचार पर आधारित है। मानववादी चिंतन राज्य संस्थाओं को संगठित करने के लिए आर्थिक-नीतियों के विषय में बहुत कम बताता है। मानववाद, सहिष्णुता एवं बहुलवाद के सिद्‌धांतों के इर्द-गिर्द एक निर्देशात्मक परिप्रेक्ष्य प्रदान करने में ही संतुष्ट रहता है। इसके अनुसार कहीं कोई स्वर्ग नहीं है। विश्व अपूर्ण है और मानव प्राणियों को इसे सर्वोत्तम बनाना होगा।

भारत में एम.एन.राय ने मानववादी विचार को स्पष्ट अभिव्यक्ति प्रदान की है। उन्होंने मानव को

एक केंद्र के रूप में माना है। उन्होंने लिखा है कि "स्वतंत्रता एक सर्वोच्च मूल्य है, क्योंकि स्वतंत्रता की इच्छा मानव अस्तित्व का सार है।" एम.एन.राय ने मानववाद को इसलिए स्वीकार किया क्योंकि मानववादी हमेशा जीवन के प्रति यह मान्यता लेकर चलते हैं कि मानव प्राणी सार्वभौम होता है। सामान्य शारीरिक क्रियाओं से सर्वथा भिन्न मनुष्य की ज्ञानार्जन की अद्भुत क्षमता, उसे ऐसी शक्ति प्रदान करती है जिससे दूसरों पर शासन न करके वह मानवता के हित में स्वतंत्रता का सृजन करता है।

यह मानववादी चिंतन का ही श्रेय है कि हम कुलीनतंत्रीय युग से लोकतंत्रीय युग में आ गए हैं, जिसमें सभी को स्वतंत्र एवं समान माना जाता है। इसने व्यक्ति को न केवल ईश्वर से अपितु कुल मिलाकर उन सब विचारधाराओं से भी सचेत किया है, जो इतिहास की काल्पनिक दृष्टि अथवा अस्पष्ट सार्वभौमिक अवधारणाओं और राष्ट्रवाद जैसे सिद्धांतों द्वारा व्यक्ति को पराधीन बनाए रखने का प्रयास करते हैं। एक निर्धारक सिद्धांत के रूप में इतिहास पर बल अंततः साम्यवाद तथा वर्ग संघर्ष के नाम पर साम्यवादी शासनों से जुड़े अत्याचारों की ओर ले गया। प्रजातियों एवं राष्ट्रवाद पर जोर, फासीवादी शासन प्रणालियों के रूप में सामने आया है, जिसमें व्यक्ति को राज्य की बलिवेदी पर बलिदान कर दिया गया। मानववाद ने तकनीकी प्रभुत्व को भी अस्वीकार कर दिया है। मशीन मानव प्राणियों की सेवा के लिए है, न कि मानव मशीनों के लिए है।

मानववाद का महत्व इस तथ्य में निहित है कि यह व्यक्ति की स्वायत्तता पर जोर देता है। यह सही है कि व्यक्ति एकाकी जीवन नहीं जी सकता बल्कि दूसरों के साथ ही जीवनयापन करता है। मानववाद का महत्व यह है कि अंतिम विश्लेषण के तौर पर यह व्यक्ति की स्वयं की विशिष्टताओं एवं नैतिक महत्त्व पर बल देता है। सभी नागरिक समाज के समान सदस्य हैं। महत्त्व उनकी सादृश्यता में नहीं वरन उनकी विशिष्टताओं एवं भिन्नताओं में है। समाज, अच्छे और बुरे लोगों से बना है। ऐसे लोगों से, जो परस्पर सहयोग कर सकते हैं और नहीं भी, जो एक-दूसरे की क्षति कर सकते हैं और नहीं भी। मानववाद में यह माना जाता है कि बहुलता के परिप्रेक्ष्य में ये सभी व्यक्ति साथ-साथ रह सकते हैं। राज्य, विज्ञान, तकनीक आदि सभी इस लक्ष्य के साधन हैं, जो कि व्यक्तियों के उत्कर्ष को संभव बनाते हैं। राज्य, विज्ञान एवं तकनीक अपनेआप में लक्ष्य नहीं है एवं उन्हें मानव जीवन पर प्रभुत्त्व की अनुमति नहीं दी जा सकती।

अभ्यास

1. मानववाद क्या है?
2. एम.एन. राय के मानववाद के विचार को स्पष्ट कीजिए।
3. मानववाद के संदर्भ में निम्नलिखित को स्पष्ट कीजिए :
   (क) भौतिकवाद
   (ख) व्यक्तिवाद
   (ग) लोकतंत्रवाद

पारिभाषिक शब्दावली

बुर्जुआजी (Bourgeoisie) : यह फ्रांसीसी शब्द है, ... 'नागरिक वर्ग' [illegible] मार्क्सवाद [illegible] के लिए प्रयोग किया जाता है।

पूंजीवाद (Capitalism) : [illegible] अथवा [illegible] यह उत्पादन के साधनों की निजी स्वामित्व पर आधारित है तथा [illegible] मजदूरों का शोषक है।

चार्टिस्ट आंदोलन (Chartist Movement) : ब्रिटिश मजदूर वर्ग से संबंधित एक [illegible] आंदोलन जो 1838-50 के दौरान [illegible] "पीपुल्स चार्टर" [illegible] वयस्क पुरुष मताधिकार [illegible] गुप्त मतदान, [illegible] संसद सदस्यों के लिए [illegible] संसद सदस्य आदि की व्यवस्थाएँ [illegible] चार्टिस्ट आंदोलन [illegible]

लोकतांत्रिक समाजवाद (Democratic Socialism) : [illegible] लोकतांत्रिक साधनों से समाजवाद [illegible] भारतीय संसद [illegible]

नृ-जातीय (Ethnocentric) : किसी [illegible] और संस्कृतियों का [illegible] पूर्वाग्रह द्वारा मूल्यांकन

अभिजन (Elite) : लोगों का एक ऐसा समूह जो समाज में अपना [illegible] विशिष्ट प्रभाव रखता हुए हो इस शब्द का प्रयोग विभिन्न क्षेत्रों के अगुवों के लिए भी किया जाता है जैसे- राजनीतिक अभिजन।

फेबियन समाजवाद (Fabian Socialism) : फेबियन समाज की स्थापना 1884 में इसका उद्भव हुआ। इसने [illegible] क्रमिक विकास [illegible] संभव हो सकता।

गिल्ड-समाजवाद (Guild Socialism) : समाजवाद का एक सिद्धांत [illegible] व्यापक स्तर पर उत्पादन साधनों के [illegible] स्वामित्व को गिल्ड्स (मजदूर संघों) [illegible] यह इंग्लैंड में 1900 ईस्वी के आसपास [illegible] इसका प्रमुख प्रतिपादक जी.डी.एच. कोल था।

मानववाद (Humanism) : यह एक ऐसी धारणा अथवा व्यवस्था को [illegible] दृष्टिकोण है जो मानवीय है न कि दैविक अथवा अलौकिक विषयों से संबंधित।

मानव अधिकार (Human Rights) : मानव अधिकार प्राकृतिक अधिकारों के उस पक्ष से संबंधित है जो आधुनिक और धर्म-निरपेक्षीय हैं, ये व्यक्ति को इसलिए प्राप्त होते हैं क्योंकि वह मानव है। ये सार्वभौमिक हैं और सभी मानव प्राणियों के लोगों को प्राप्त होते हैं न कि किसी विशेष राज्य, धर्म, लिंग अथवा वर्ग संबंधित लोगों को।

ॻ ाधियों में किसी प्रकार का

उदारवाद (Liberalism) : एक ऐस है जो व्यक्तिवादी धारणाओं पर आधारित है जैसे, सहमति तथा सहिष्णुता आधुनिक उदारवाद ꠰ ꠰ ꠰ न उदारवाद से भिन्न है।

सर्वहारा (Proletariat) : मौलिक रूप . प्राचीन रोम का संपत्ति-हीन वर्ग जो सेवकों की जनसंख्या में वृद्धि करके रोम राज्य की सेवा करता था। सर्वहारा का सर्वाधिक प्रचलित प्रयोग कार्ल मार्क्स ने किया जिसके अनुसार सर्वहारा वर्ग में उद्योग, कृषि व बौद्धिक पदों पर कार्यरत ऐसे लोग आते हैं जो अपना श्रम बेचकर जीवन-निर्वाह करते हैं। सर्वहारा इस प्रकार पूंजीवादी बुर्जुआजी : विपरीतार्थक वर्ग है।

प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) : प्राकृतिक अवस्था उस पूर्व नागरिक ौर राजनीतिक अवस्था की परिचायक है जिसमें मानव संबंधों का नियमन प्रकृति के कानून द्वारा होता था। कुछ विचारों ने इसे पूर्व-सामाजिक अवस्था भी माना है। यह प्राकृतिक अवस्था आदर्शवादी थी तथा अधिक समय तक बने रहने की दृष्टि से असुविधाजनक थी। इसलिए मानव ने इस प्राकृतिक अवस्था का परित्याग करके एक राजनीतिक समाज का गठन किया।

श्रमिक संघवाद (Syndicalism) : मजदूर संघों का एक ऐसा आंदोलन जिसने सीधी कार्रवाई का समर्थन किया तथा जिसका रूप एक क्रांतिकारी आम हड़ताल के रूप में प्रकट हुआ यानी जिसका उद्देश्य मजदूरों का स्वामित्व तथा उद्योगों पर नियंत्रण स्थापित करना था। रॉबर्ट ओवेन के प्रभाव में यह विकसित हुआ तथा फ्रांस में इसका अधिक सक्रिय रूप प्रस्तुत हुआ साथ ही फ्रेंच शब्द 'सिंडिकेट' (मजदूर संघ) से उसका प्रचलित नामकरण भी हुआ।

श्रमिक संघ (Trade Union) : वेतनभोगी श्रमिकों का एक ऐसा संगठन है जो कार्य करने की शर्तों में सुधार करने और उनके स्व-हितों की रक्षा करने में योगदान करता है।

स्वप्न द्रष्टा (Utopia) : इसका संबंध आदर्श राज्य से है जहां किसी प्रकार की अपूर्णता नहीं होती। यह एक ऐसी धारणा है जिसे व्यावहारिक रूप से उपलब्ध नहीं किया जा सकता। 1516 में थामस मूर द्वारा एक द्वीप की खोज जिसका नाम यूटोपिया था को खोज करने के पश्चात यह शब्द अत्यधिक लोकप्रिय हो गया।

राजनीतिक सामाजीकरण (Political Socialisation) : जिस प्रक्रिया के द्वारा मनोवृतियां, मान्यताएं एवं अभिमुखताओं का एक विशेष समुच्च एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तांतिरत होता है। उसे राजनीतिक सामाजीकरण कहा जाता है। दूसरे शब्दों में यह 'राजनीति के बारे में क्या, कब एवं कैसे जानते हैं', का अध्ययन है।

राजनीतिक सहभागिता (Political Participation) : यह एक ऐसी धारणा है जिसके द्वारा शासकीय सत्ता एवं जनसाधारण के मध्य निकटतम संबंध विकसित होता है क्योंकि इसके द्वारा शासन संचालन की प्रक्रिया में जनता की राजनीतिक क्षेत्र में भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए सदा प्रयास किया जाता है।

राजनीतिक विकास (Political Development) : राजनीतिक विकास की अवधारणा मुख्य रूप में तृतीय विश्व के देशों के उद्भव के पश्चात हुआ। इसके अंतर्गत विकासशील देशों के मध्य एक नैतिक, सदाचारी एवं राजनीतिक अच्छाई के रूप में विवेचन एवं विश्लेषण पर बल दिया जाने लगा।

because history is the study of man, of his fortunes and his misfortunes. Humanism also gives philosophy, particularly moral philosophy, a more independent role in education, for philosophy is the means by which a noble mind converses with its equals, liberates itself from prejudice, and discovers the dignity of great and free ideas. Thus Greek was placed on the same or even a higher level than Latin, for it was the language of Plato in which, according to the humanists, both beauty and wisdom had found their abode.

The new spirit created, at least at some places, a more friendly atmosphere between teacher and pupil. Unfortunately, the most lovable of the early humanists, Vittorino da Feltre (1378–1446), left no written work behind him. He conducted an academy at Mantua where mind and body, classical studies and Christian piety, free self-expression of the child, and character training must have been harmonized to an unusual degree.[1] No wonder that the German humanist and educator, Jakob Wimpheling (1450–1528), looked with a mixture of envy and admiration at the spread of a new life in the schools beyond the Alps. In one of his writings he says:

> There were in Germany learned and famous men, before anybody thought of Alexander.[2] And now we see that the wise Italians no longer teach according to his method. They acquaint their children as quickly as possible with the fundamentals of grammar, just as much as is necessary for connecting words properly. Then they lead the students to read the poets, orators, and historians. Thus they make them acquainted with the particular quality of the Latin tongue, its pleasing elegance, its special modes of expression, the beauty and richness of its style, its logical con-

[1]Cf. William Harrison Woodward, *Vittorino da Feltre and Other Humanist Educators.* The Macmillan Company, New York, 1905.

[2]By Alexander is meant Alexander Gallus de Villa Dei, who (*ca.* 1119) published the *Doctrinale Puerorum,* a Latin Grammar for boys in poetic form, based on the old and widely used *Ars Grammatica* by Donatus, a teacher of grammar in the middle of the fourth century at Rome. Alexander's *Doctrinale* explained grammar "philosophically" according to a method which forced the pupil to memorize without leading him to actual skill in the handling of Latin.

sistency, the meaning of difficult terms, and the art of convincing others. So the sons of the Italians soon acquire the capacity of following lectures about secular and ecclesiastical law and about the Scriptures, and often they enter into legal practice in an age in which my poor compatriots still argue about the vocative case, the five figures, the tricks in apposition, and the genitive case and all the other absurdities of Alexander's grammatical poem—as if this poor piece of work really deserved to be called "a poem." The same young men, if guided by efficient teachers, could have received the poet's laurel or the doctor's cap, yet after ten or fifteen years of study they have no other answer to the question as to what they have learned but "the two parts of the Alexander." So it happens that most of our compatriots running around with the degree of Master of Philosophy or the Seven Liberal Arts are incapable of conversing in Latin with educated people, or writing a Latin letter, or of composing a Latin poem. Nor can they tell a story or explain the shortest part of the mass, the so-called "collect".[1]

We have to grant that the humanists made a good stride forward in the methods of teaching. Their own concept of personality, combined with their eagerness to apply the ripe educational principles of late Antiquity, created a new enthusiasm in teaching. To a degree, it approached modern attitudes in its tendency to understand learning as a mode of familiarizing the young with the authority of the past and also as a way toward a richer personal life. But it was the tragedy of Humanism that the professional educators among its representatives were overwhelmed by their admiration for Homer, Cicero, and Vergil, and especially for their pedagogical master Quintilian. Perhaps European higher education would have fared better if the zealous collector of old manuscripts, the humanist Andrea Poggio, had not discovered Quintilian's *Ars Oratoria* in the cloister of St. Gall, where it had lain hidden for several centuries.

For it was mainly due to the authority of the ancient orator that

[1]Translated from Chap III, p. 130, of *Des Johannes Murmellius pädagogische Schriften*, übersetzt von Joseph Freundgen (Sammlung der bedeutendsten pädagogischen Schriften aus alter und neuer Zeit, Band 18) Paderborn, 1894. Murmellius quotes from Wimpheling's *Weg-Weiser*, Chap. XVII, Part 2.

the masters of the Latin schools of the sixteenth and seventeenth centuries, and even those of later periods, buried the originality of many a youth in the grave of formalism. They placed *Eloquentia* (even in a foreign language) on the throne and forbade the use of any phrase that could not be found in one of the acknowledged Roman writers. In this way they condemned their beloved Latin to change from a living language, which to a degree it had been in the Middle Ages, into a dead one.

In his treatise *On the Education of Youth*, addressed to Ladislaus, the young king of Hungary and Bohemia, Aenea Sylvio recommends to the young prince the reading of history because of its importance for the interpretation of the present and for the acquisition of practical wisdom. But he warns him in the same breath against reading the chronicles of his own country, for they are, according to the humanist's judgment, without the necessary oratorical elegance and are written by uneducated authors. One must wonder that he considers it advisable for a prince to know the languages spoken in his own territory. Some humanists, in a cruel misconception of the emotional factor in the life of a child and his family, went so far as to advise parents to speak only Latin with their children Sometimes one is inclined to question whether the humanist emphasis on a new education has anything to do with true ethical refinement. To give only one instance: the famous Maffeo Vegio, following the example of Quintilian, objects to the cruel punishment of children. He suggests a remedy: If you are angry with your children, and you hesitate to whip them, flog your servants, a procedure which will frighten your own noble offspring. As another way of education Vegio recommends that children be taken to public executions; to see a man hanging, bleeding, or burning may have a wholesome effect on the moral development of a child. Executions of criminals were, to tell the truth, a kind of public festival in earlier times, but many a simple monk of the Middle Ages would have been horrified by the pedagogical recommendations of the learned humanist Maffeo Vegio. The latter wrote better Latin, but he was an inferior man. After perusing

the books of minor humanist educators, stuffed with thousands of loosely connected quotations from ancient and Christian authors[1] and void of all originality, even the most ardent advocate of classical studies must deplore the fate of a movement which professed to love individuality and the independent spirit of Antiquity but ended in imitation.

[1]How rapidly the literature on education in this period increased is shown by a French publication which, though referring to the sixteenth century, is nevertheless indicative of the general growth of educational interest in the total humanist period. It is the third volume of the *Mémoires et documents scolaires* of the *Musée pédagogique,* which has the title: *Répertoire des ouvrages pédagogiques du xvième siècle,* 733 pages of nothing but the titles of pedagogical books of the time, with short indications of their content (Cf. Ludwig Wattendorff's *Montaigne, Über die Erziehung der Kinder*, p. 23. Paderborn, 1894)

III. Luther

(1483–1546)

Historical Introduction

When in 1521 Martin Luther on his journey toward the Diet of Worms passed through the old city of Erfurt, the humanist-minded teachers of its famous university received him at the outskirts of their city. Their rector greeted him with an inspiring address, and the famous poet of the university, Eobanus Hessus, recited a poem in which he pictured Luther entering the city in the graceful company of the nine muses. The allegory was a prophecy of the beginning of a new era rising from the co-operation between Humanism and Luther's religious reform.

The day after Luther's departure from Erfurt it was not the humanist and theological professors who joined to bring about a new civilization, but the students who joined with the rowdies and the dissatisfied journeymen to pillage and demolish the houses of the clergy, even with indulgence of the magistrate. Such riots were repeated during the following years, with the result that not only the Catholic clergy but also the humanist professors and the more serious students preferred to transfer their work to other universities. Their places were taken by young enthusiasts, sectarians, and runaway friars who, according to the Protestant historian Friedrich Paulsen,[1] "preached the Evangel without any admixture of human reason." The university of Erfurt never recovered from these disturbances; it lingered on for almost three centuries, then died an inglorious death.

The rebellions of the young townspeople against a parasitic clergy and against the restrictions of the guild system and the privileges of the master families were nothing but an urban parallel

[1]Friedrich Paulsen, *Geschichte des gelehrten Unterrichts*, Vol. I, p. 197. Leipzig, 1919.

to the feuds of the small against the large vassals, and of the peasants against the landlords in the rural areas. The humanist movement itself was a part of the shifting cultural scene, but its followers rode on the surf of the waves without knowing their depth and power. Like professors of other periods, they indulged naïvely in the hope that the study and writing of books would quietly usher in the new civilization.

Only so could they deceive themselves about the real nature of their relation to the leader of the Protestant reform, Martin Luther. In the comprehensive meaning of the word, Luther, too, belonged to the great humanist movement in that he wished to deliver man from the fetters of medieval institutionalism and to give him his religious birthright of a personal relation to God. Luther welcomed also the philological achievements of the humanists and insisted on the establishment of new philological chairs in the universities. But he did not regard the study of Latin, Greek, and Hebrew as an end in itself. His reason was the following:

> And let us be sure of this: we shall not long preserve the gospel without the languages. The languages are the sheath in which this sword of the Spirit is contained.[1]

Nor did the kind of individualism which Luther represented foster the feeling of rational self-autonomy, as the ancient had had it. Rather, his recognition of the individual responsibility of the human soul to God—without any compromise and aid coming from appointed institutions—revealed to him the exposure and sinfulness of all human existence, both personal and social. He would have ended in despair had he not found relief in the joyful experience of salvation through faith in God's eternal grace. This "surrender" is not abandonment of moral and spiritual responsibility. On the contrary, Augustinian in character, it springs from Luther's fresh

[1]Martin Luther: *Works*, in 6 vols. A. J. Holman Company, Philadelphia, 1915–1932. Cited in the following as, Luther's *Works*. See Vol. IV, p. 114, "To the Councilmen of All Cities in Germany That They Establish and Maintain Christian Schools."

interpretation of the third chapter of Saint Paul's Epistle to the Romans:

> Therefore by the deed of the Law there shall no flesh be justified in his sight: for by the Law is the knowledge of sin. BUT NOW the righteousness of God without the Law is manifested, being witnessed by the Law and the Prophets; even the righteousness of God which is by faith of Jesus Christ unto all and upon all them that believe: for there is no difference: for all have sinned, and come short of the glory of God; being justified freely by his grace through the redemption that is in Christ Jesus.[1]

But the contrast between Luther and the humanists was not only of a religious nature. We know now that Luther was not of so poor and humble origin as older historians reported. But his parents certainly belonged to the common folk, and he was proud of his origin. As a curate he suffered with his flock; and a profound sympathy with his people is the source of his interest in public education, an interest entirely foreign to the large majority of the humanists who held to Horace's *odi profanum volgus et arceo* ("I hate and shun the vulgar crowd").

The great document of Luther's solicitude for his Christian fellow men are the ninety-five theses of October 31, 1517, which opened the battle of Protestantism in Germany. Their immediate cause was the inconsiderate sale of indulgences by priests and monks, organized by the great banking house of Fugger in order to give its debtor, the archbishop of Magdeburg and Mainz, count of Brandenburg, an opportunity to repay his enormous debts to both the Fuggers and the Holy See. These ninety-five theses are an educational document as much as a theological one. They are primarily concerned with the corruption and confusion which Luther had observed in his community as a result of the materialistic conception of salvation, shown in the shameless hawking of indulgences. His new theology of individual grace and faith does not yet appear in the theses; he still acknowledges the Pope as the supreme Christian authority; hoping against hope, he expects the Holy See to

[1]*Romans* 3· 20–25.

put an end to the abuse. The main theme of the theses is expressed in the often recurring words *Docendi sunt Christiani* ("Christians are to be taught").

They are to be taught that the Pope would not estimate the purchase of indulgences as highly as real works of charity; that through the exercise of charity a person becomes better and grows in the grace of the Lord, but he does not become better through indulgences—he only makes himself free from penalty. He who sees a poor man and neglects him in order to buy indulgences does not buy the indulgence of the Pope but the wrath of God. If a Christian does not possess more than he needs for the support of his family, he ought not to exhaust his fortune for indulgences, for it is for his own sake that he purchases them. Even though the Pope is greatly in need, he much prefers the prayer of the devout to the latter's money. If the sinner through indulgences loses the fear of God, then the indulgences are more harmful than useful. The Pope—so Luther still chooses to explain—does not know the trespasses of the preachers who sell indulgences; he would rather see the Cathedral of St. Peter at Rome reduced to ashes than build it up with the skin, the flesh, and the bones of his sheep.

There is no doubt that Luther, while writing these sentences, did not want to break with his church. But when he saw his cause frivolously rejected by the hierarchy, moral indignation united with his feeling of an apostolic mission, and thus began all those great though sad events which eventually led to the irreparable split in modern Christendom. During his fight Luther always showed how inseparably the two—the theologian and the educator—were united in him. And about both aspects of his work the opinions of posterity have differed to the same extent.

In order to arrive at an honest judgment—absolute objectivity in such complicated matters is beyond human power—we must first free ourselves from all prejudices and propaganda, whether they come from the Catholic or the Protestant camp. Luther was not a heretic and a willful destroyer of a great tradition, as children are taught in most Catholic schools. The medieval tradition had

already been corrupted by the hierarchy itself; when the simple monk of Wittenberg wished to restore purity, the potentates of the Church did not listen to him; they wished to eliminate the prophet in the same way that they had eliminated Huss and Savonarola. Nor did the Catholic Church before Luther represent a united body of believers. As early as the thirteenth century the Waldenses and the Albigenses had been slaughtered for their faith, and the Dominican order had established courts of inquisition in all countries of Europe to burn heretics.

On the other hand, the typical Protestant belief that everything new, great, and enlightened in modernity is due to Luther and other Protestant reformers is also a myth. Luther hated "the damned pagan Aristotle," because, according to his opinion, Aristotle had injected the poison of intellectual pride into the body of the Church. The Protestant reformer would have sympathized much more with the conservative theologians of the twelfth century, who tried to suppress the newly discovered books of the heathen philosopher, than with Albert the Great and Thomas Aquinas, who fused Aristotelian thought with Christian thought. For Luther, the scholar who attempts to think independently without letting faith direct his mind becomes the most dangerous enemy of himself and of mankind because he conceals his sin of isolation from the Divine under the false claim of being the high priest of verity.

The scholastics believed it to be their duty to interpret, by means of Aristotelian logic, the Christian tradition as laid down not only by Christ and the Apostles but also by the Fathers and the councils of the Church. Luther rejected this position. For him the Bible, and exclusively the Bible, was The Word which, in order to be understood, required first of all personal inspiration. Seen from the vantage point of history, Luther's theology contains nothing essentially new. To be sure, he did not lack in religious ideas of his own, but they can be found before him: in the theology of St. Augustine, with his concept of grace and faith as expressed in his work *De Spiritu et Litera* ("On the Spirit and the Letter"),

and in mystics like Johannes Tauler, whose sermons were praised by Luther as products of a "pure and sound theology."[1]

Even Luther's translation of the Bible is one of many in his era, for all the great sectarian movements insisted on giving their adherents the Evangel in their native tongue.

But the search for predecessors and influences does justice to Luther no more than to any other great man; they all have their predecessors. The merit and originality of the genius lies in his ability to lift new ideas, half dormant and half awake, from the twilight of man's mind into the clear rays of consciousness, to reveal to a generation their specific historical mission, and so to guide them from exhausted fields toward new pastures of history.

Here we have the answer to the Catholic-Protestant controversy. Luther is not the willful destroyer of an old great tradition. On the contrary, the medieval chord vibrated more strongly in him than in many humanists Nor is he the originator of our modern civilization, with its freedom of thought and research. But the trend toward more personal and immediate relations of man to God and the world, which we discovered as the underlying dynamic of the Renaissance, found in him its most powerful religious agent. This is his historical significance.

Incomplete and, in a way, narrow though the religious individualism of Luther or of such men as Calvin and Zwingli was, it dug new wells of personal spiritual vitality. No doubt the simple German, Swiss, Dutch, English, and Scotch farmers were far below the intellectual level of an educated Thomist, and there was no ecclesiastical grandeur about them when they read the Bible with their family in long winter nights. From a scientific or even from a normal psychological point of view, their conversations about grace and damnation, heaven and hell-fire, were perhaps more superstitious than learned theological discussions, albeit these simple

[1] *Luther's Correspondence and Other Contemporary Letters*, translated and edited by Preserved Smith. 2 vols. Vol. I, pp. 46–48 "Luther to Spalatin, Dec 14, 1516," p. 48: "If you delight in reading pure and sound theology, like that of the earliest age, and in German, read the sermons of John Tauler." United Lutheran Publication House, Philadelphia, 1913–1918.

Protestants certainly took religion more seriously than did many a pope of the Renaissance. In addition, they had the proud feeling of reading their Bible with the same divine right as any cardinal in Rome or any professor at the Sorbonne, at Oxford, or at Wittenberg. The kind of inwardness arising from this private lay-theology motivated people to speculate about general human and philosophical problems. Early Protestant Pietism, one could say, laid the spiritual foundation for the great rationalist and idealist philosophies of the eighteenth century, just as medieval alchemy paved the way for the laboratory work of the modern chemist. Light cannot come without the preceding struggle of dawn.

Another factor contributing to the vitality of Protestantism was its relation to democratic development. In every country the Protestant movement was accompanied by social revolutions: by the socialist upheavals and manifestos of the German farmers, by the wars and hopes of the Cromwellian army, by the foundation of democratic communities in Switzerland and New England, and by the heroic fights against political and religious suppression in Holland. Even where these democratic tendencies were quenched, as they were with the help of Luther himself in Germany and partly also in the England of Cromwell, their seeds waited to sprout forth in new forms under more favorable conditions. Nothing for which people have shed their blood remains without its consequences. To what extent even new economic forces were released by the new Protestant ethics of immediacy is difficult to say, though such a relationship is not unlikely.[1]

But what may have stimulated the Protestant countries most was the increase in mettle which always springs from changes and decisions in individuals as well as in peoples. Protestantism meant more than a merely spiritual transformation. For Henry VIII of England it was no spiritual experience at all, but a matter of politi-

[1]See Max Weber, *The Protestant Ethic and the Spirit of Capitalism,* translated by Talcott Parsons, with a Foreword by R. H. Tawney (Charles Scribner's Sons, New York, 1930); and Richard Henry Tawney, *Religion and the Rise of Capitalism; a Historical Study* (Harcourt, Brace and Company, New York, 1926).

cal expediency, and things were not essentially different in some parts of Germany. But it always involved the severance from public and private life of all the thousands of ecclesiastical institutions which had given their particular character to medieval society. The Catholic Church, with its priesthood and manifold orders, had offered shelter and career to the scions of the aristocracy, the learned sons of the common people, and every kind of broken existence which concealed its incapacity for normal life by entering a monastery. All the great works of charity had been done under the auspices of the Church, and most schools, from the primary grades to the universities, were chartered and supported by the priesthood. But it was not only the Church that changed; medieval decentralized feudalism was superseded at the same time by absolutism. This meant a reorganization of the social order, with all the new challenges, duties, and adjustments that ensue from such an event.

Luther as Educator

One of the public activities most deeply affected by this change was education. It had, so far, been mainly handled by the Church, though during the later part of the Middle Ages princes, city magistrates, guilds, and minor vassals had taken an interest in it, an interest not always welcomed by the rather jealous ecclesiastical authorities. School structure and school control, as well as the curriculum, became an object of discord, for the merchants and guild masters in the cities were dissatisfied with the unpractical education of their sons. The first signs of vocational education appeared now in the cities, as they had already shown in the military education of the knights. The humanists and the Reformation gave the death blow to Catholic supremacy in educational matters. Naturally, there followed a state of disorder in the school system, as is always the case when old forms break down and a new order has not yet been found. And as the trend was from decentralization to centralization, nothing was more natural for the Protestant reformers than to appeal to the governments of states and cities

to reorganize their schools and use them as a foundation of a stable Protestant society.

Here we have the reason for Luther's two famous epistles:[1] "An Open Letter to the Christian Nobility of the German Nation Concerning the Reform of the Christian Estate" (*An den christlichen Adel deutscher Nation von des christlichen Standes Besserung*, 1520) and "To the Councilmen of All Cities in Germany That They Establish and Maintain Christian Schools" (*An die Ratsherrn aller Staedte deutschen Lands, dass sie christliche Schulen aufrichten und halten sollen*, 1524).

One could venture the statement that Luther was more advanced beyond medievalism in his educational views than in his theology. According to him, it is the meaning and the aim of education to lead the young toward that degree of piety and understanding of the social obligations which will render a Christian community possible. Such a community can be built up only by citizens who know and obey the word of God, and who respect human dignity in themselves and others.

The teacher ought not to be the flogger; he is not simply the appointee of a school board but the holder of a sacred office. Humble though his work is, he does it in the name of God and as the trustee of the community. But the teacher can spread the Christian spirit among the people only if there exists an obligatory and universal school system. Thus Luther advances the idea of the responsibility of the secular authorities for maintaining and supervising the public system. God has established them to see to it that a Christian life becomes possible, and this can be done only by dint of protecting religious life and education.

In a letter to Margrave George of Brandenburg, Luther develops a plan which reminds us of Thomas Jefferson's famous plan to combine public education with the task of national selection:

It is well that in all towns and villages good primary schools should be established out of which could be picked and chosen

[1]Luther's *Works*, Vol. II, pp. 61–164; Vol IV, pp. 103–130.

those who are fit for the universities, out of which then the men can be taken who are to serve your land and people. If the towns or their citizens cannot do this, then it would be well to establish new stipends for the support of a few bright fellows in the deserted monasteries, so that every town might have one to two students. In the course of time, when the common people see that their sons can become pastors and preachers, and get other offices, many of those who now think that a scholar cannot get a living will again keep their sons in school.[1]

In the elementary schools every child is to be taught the three R's and, as the first introduction to Christianity, the Catechism which Luther himself had prepared for the use of the Protestant community. Apparently the reformer expected these schools to instruct the pupils also in the elements of Latin; in his time almost all scientific and professional and the largest part of the general cultural tradition was expressed in that language.

According to Luther, the Christian endowed with faith in the grace of God does "all things gaily and freely"; and as this becomes easier in a healthy mind and body, education has to take care not only of the religious and intellectual but of the total physical and emotional development of the child. Like Plato, Luther attributes to music a particular influence on the cultivation of our emotions.

I always loved music; who so has skill in this art, is of a good temperament, fitted for all things. We must teach music in schools; a schoolmaster ought to have skill in music, or I would not regard him, neither should we ordain young men as preachers, unless they have well exercised in music. . . . Music is one of the best arts; the notes give life to the text, it expels melancholy, as we see in King Saul. Kings and princes ought to maintain music, for great potentates and rulers should protect good and liberal arts and laws; though private people have desire thereunto and love it, yet their ability is not adequate. We read in the Bible that the good and godly kings maintained and paid singers. Music is the best solace

[1]*Luther's Correspondence and Other Contemporary Letters*, translated and edited by Preserved Smith, Vol. II, pp. 487–488. United Lutheran Publication House, Philadelphia, 1913–1918.

for a sad and sorrowful mind; by it the heart is refreshed and settled again in peace.[1]

Music is a fair, noble gift of God, next to theology. I would not change my little knowledge of music for a great deal. Youths should be trained in this art, for it makes fine, clever people.[2]

The curriculum which Luther proposes for the more advanced school types resembles that of the humanists in its emphasis on ancient languages. Yet the classical studies are for him only of subsidiary value. He wanted not Humanism but religion; he wanted not an artificial culture but a Christian people with learned men among them capable of interpreting the great documents and lifting hearts upward.

The "poets and orators"[3] are useful in that they enable the student to learn the languages necessary for the study of Christianity more pleasantly than would be possible by means of unimaginative grammars. In a letter of the year 1523 Luther tries to reassure the humanist Eobanus Hessus, who had expressed the fear of many of his colleagues that the new theology might make the Germans "more barbarous in letters" than they ever had been. But even here the absolutely Christ-centered philosophy of the reformer becomes evident. "Certainly it is my desire," he says, "that there shall be as many poets and rhetoricians as possible," but not for the sake of Latin poetry or rhetorics. Rather, "by these studies, as by no other means, people are wonderfully fitted for the grasping of sacred truth and for handling it skillfully and happily" This merely assistant role of the expressive arts is certainly not what the admirers of Cicero and Quintilian had dreamed of.

Yet this rather perfunctory treatment of humanist poetry comes from a man who was the author of some of our most beautiful

[1]Martin Luther: *Table Talk*, translated and edited by William Hazlitt, pp. 340–341. H. G. Bohn, London, 1875.

[2]*Conversations with Luther; Selections from Recently Published Sources of the Table Talk*, translated and edited by Preserved Smith and Herbert Percival Gallinger, p. 99. The Pilgrim Press, London, 1915.

[3]Cf. "To the Councilmen," etc., in Luther's *Works*, Vol. IV, pp. 126, 128, and 129, treating on books and libraries.

religious hymns, though he considered himself only an amateur. His hymn "A Mighty Fortress Is Our God" (*Eine feste Burg ist unser Gott*)[1] still helps people to defy all earthly fear and to raise their souls to the Absolute, while the Latin poems of the humanists are buried in our libraries. When a man has poetry and music flowing out of the abundance of a great and simple heart, what else can he do but leave their stilted verses to the humanists? They wrote their hexameters in a foreign tongue, not in the vernacular; they imitated foreign models; their forging and hammering could never serve as a genuine relief and release for an excited soul; and they addressed princes and scholars, not the people. This was not poetry, according to Luther's heart.

But like the humanists, Luther thoroughly condemns the medieval methods of teaching and learning. It is difficult to find more insulting terms than those used by him in his attacks on the training which was habitual in the monkish schools. In his letter "To the Councilmen" Luther also agrees with the humanists' emphasis on history and with their doctrine that instruction should be related more closely to life.

> . . . the stupid, useless and harmful books of the monks Catholicon, Florista, Graecista, Labyrinth, Dormi secure [names of Latin grammars and anthologies], and the like ass's dung, were introduced by the devil. Consequently the Latin language became corrupted and there remained nowhere a decent school, course of instruction, or method of study. . . . Was it not a cruel misfortune that a boy was obliged heretofore to study twenty years and more, only to learn enough bad Latin to become a priest and read mass? Whoever got as far as this was counted blessed. Blessed was the mother that bore such a child! And yet he remained all his life a poor ignoramus, fit neither to cackle nor to lay eggs.[2]

Through all his educational writings there goes a trend toward connecting the school with a man's calling. Therefore he includes the adult in his educational scheme; libraries ought to be estab-

[1]Cf. *Luther's Hymns*, edited by James F. Lambert, with an Introduction by John A. W. Haas. United Lutheran Publication House, Philadelphia, 1917.

[2]Luther's *Works*, Vol. IV, pp. 126 f.

lished to give people an opportunity to read good books and to inform themselves about God, nature, and their nation. But like his contemporaries, and like many modern professors, he was unaware how bookish were the books he wrote and recommended for use in the classroom. Fortunately there existed in his time a well-ordered system of apprenticeship; children lived in a world of handicraft and concreteness. Even though teachers employed nothing but books, and in between the rod, the upbringing of youth was not so bookish as we may think.

Rarely in history have educational programs had such a practical effect as Luther's had. That the majority of the German princes adopted Protestantism primarily for reason of religion may be fairly doubted. It was, with most of them, a mixture of political and religious interests. However, many of them understood the necessity of reform in the school system of their country and issued exemplary school regulations which laid the groundwork for the most comprehensive popular school system to exist in any country up to the end of the nineteenth century

On the other hand, there can be no doubt that Luther increased the influence of the State and the ruling caste on Church and education to a degree that worked against the very nature of the idea of Protestantism as a movement of freedom of individual conscience. Consequently, there has always been, especially in Germany, an ardent discussion about Luther's opinion concerning the interference of government with cultural and educational affairs.

Such a discussion must be based mainly on his treatise "Secular Authority: To What Extent It Should Be Obeyed" (*Von weltlicher Obrigkeit, wie weit man ihr Gehorsam schuldig sei*, 1523).[1] Here Luther draws a clear distinction between Christian ethics, with its demand for love, brotherhood, and purity, and politics, with its external laws, intrigues, wars, and conquest. If we all were Christians and lived in the spirit of Christ, we would not need the State at all. We have to tolerate and obey it as one of the many limitations of freedom brought about by our sinfulness. There is, from

[1]Luther's *Works*, Vol. III, pp. 228–273.

Luther's point of view, only one means through which the State can bridge the gap between politics and Christianity—that is, to protect those who want to live according to the Gospel and to help them to educate their children.

Unfortunately, Luther's stress on the social duties of the State remained within the concepts of benevolent patriarchal absolutism. Enlightened princes were the most Luther and his contemporaries could hope for. In addition, the Reformation was almost nipped in the bud by revolutions of social and religious character which—like the revolts of the peasants and of the Anabaptists—derived their political claims from the Protestant interpretation of the Gospel. This experience caused Luther to reject all violent application of Christian equality to politics The tone and content of his manifesto against the rebellious farmers[1] remain the darkest shadows in the life of the reformer, even for those who fully grant him the right to protect his own movement from the suspicion of attempting to undermine the political order.

However, Luther cannot be called an advocate of the kind of absolutism that was represented later by Louis XIV of France or the modern totalitarian dictators. He never conceded to the State the right to use its authority without acknowledging its responsibility to a divine authority greater than all governments. The spiritual Kingdom of God was of higher rank than all earthly kingdoms. This ideal Kingdom tolerates no despots; nobody can take away from man his ultimate responsibility to God. Only in God and through God is man free. Not what a person "does" constitutes his intrinsic value, but what he "is," though his being will always interact with his doing, and the value of both his character and his deeds will depend on whether "he is in God and God in him."[2] Thus Luther's individualism is, on the one hand, against all usurpation of the divine rights of man by governments. On the

[1] "Against the Robbing and Murdering Hordes of Peasants" (*Wider die räuberischen und mörderischen Rotten der Bauern*, 1525). Cf. Luther's *Works*, Vol IV, pp. 248–254.

[2] "A Treatise on Christian Liberty" (*Von der Freiheit eines Christenmenschen*, 1520). Cf. Luther's *Works*, Vol. II, pp. 312–348.

other hand, it is not one of *laissez faire, laissez aller;* it is religious. Here again Luther is not original. But the historical merit of such writings of Luther as his treatise "On Christian Liberty" (*Von der Freiheit eines Christenmenschen*, 1520)[1] or "On Good Works" (*Von den guten Werken*, 1520)[2] lies in the revival of the idea of inwardness, as standing against the medieval institutionalism of the Church. Later this idea of Christian liberty finds its philosophical expression in Locke's writings on government and on tolerance, and in Kant's classical postulate that the human person must never be used as a means for external purposes, but always be respected as an end in himself.

The ethics of inwardness, as expressed by Luther and the German idealists, diverges in degree from the pragmatism inherent in the Greek concept of virtue, or *areté*, as explained in the section on Plato In each of the two, in the Greek as well as in Luther's ethics, there lurks danger. The Greek concept, if carried to the extreme and isolated from the idea of *logos*, would raise the criterion of fitness and effect above all others, as a certain type of modern utilitarianism really does. On the other hand, the individualistic mystical idea of inwardness, if separated from the totality of Christian faith, can lead to a divorce of intention or "mindedness" from action and serve as a pretext for withdrawal from social responsibilities in this erring and sinful world. The result would be split personalities and political indifference. The history of Christianity offers many instances of such indulgence, unfortunately, not only in Lutheran Protestantism but in all periods of Christian history and in all churches.

Considering Luther himself, his own fight against the hierarchy is sufficient evidence of his conviction of a necessary unity between the human soul and human action. Take his famous letter to Pope Leo X. It was intended to serve as an apology. Indeed, it shows, at the beginning, all the possible humility of a subordinate priest toward the highest dignitary of the Church. But then the modest

[1] *Ibidem.*
[2] Luther's *Works*, Vol. I, pp. 184–285.

little monk tells Christ's representative on earth to his face that he holds the Holy City to be a "pool of sin" and a "den of thieves."

> Wherefore, most excellent Leo, I pray thee, after I have by this letter vindicated myself, give me a hearing, and believe that I have never thought evil of thy person . . . In all things else I will yield to any man whatsoever: To give up or to deny the Word I have neither the power nor the will. If any man thinks otherwise of me, or has understood my words differently, he does not think aright, nor has he understood what I have really said.
>
> But thy See, which is called the Roman Curia, and of which neither thou nor any man can deny that it is more corrupt than any Babylon or Sodom ever was. . . .[1]

The letter continues in an even more offensive tone.

This is certainly not the way to reconcile a world power. But it shows the irrevocable moral urge and greatness which alone are able to change the world, and which only few men possess in many generations.

[1]See "Letter to Pope Leo X," in Luther's *Works*, Vol II, pp 301–311.

IV. Erasmus of Rotterdam

(*ca.* 1466–1536)

Historical Introduction

The Dutchman Erasmus of Rotterdam was considered the umpire in matters theological by all intellectuals at the beginning of the sixteenth century. His influence reached from England to Italy and from Spain to Hungary and Poland. He and Luther were first believed to be companions in the common cause of ecclesiastical reform. Yet later they became bitter enemies, because they represented two fundamental contrasts in human attitude. Luther draws on metaphysical sources of life which kindle in a person the fire of a missionary, the disdain of death and danger, and the courage of a fighter who must win his battle irrespective of what may come later. The center of Erasmus' personality, on the other hand, is the intellect. This does not mean that Erasmus is one of these narrow talents in whom the functions of the brain have absorbed all the other qualities we expect from a fully developed personality. His intellect is nourished by an emphatic moral sense, an intense—though more sensitive than vigorous—emotional life, an unusual humor, and a vivid desire for form and beauty. Nevertheless, it is primarily through reason that his talent expresses itself.

Compare the many portraits of Luther and Erasmus which great artists of the time, such as Albrecht Dürer, Hans Holbein, Lucas Cranach, and Quentin Matsys, have left us. We see the heavy head of Luther, with its powerful cheek bones and its fat neck which forms an almost straight line between the nape and the sloping shoulders. The forehead is relatively small in comparison with the other features; and one has almost the impression of a pyramid ascending from the shoulder blades toward the vertex. Nose and jaw are fleshy and plump. Everything contrives to indicate the robust, choleric, and rustic character of a man who rebelled against the unnaturalness of celibacy; who liked a good table with jovial

friends, but who also had hours of deepest melancholy; who was utterly intemperate in the use of invective against his enemies; and who did not succumb in a life of continual fighting and excitement. But beneath high-arched and long brows there lie eyes which strangely combine the visionary glance of the prophet with the realism of the statesman. If one looks longer, he discovers deep curves at the sides of the fleshy nose which indicate inner vibration and nervousness, and a mouth which is both ascetic and aggressive, mild and severe, full of love and full of suffering. And over all this one detects an aura of simple faith which generally we find only in the faces of children. What a storm of contrasts must have blown through this man's soul, and how gratefully must he have felt the peace in the surrender of the soul to the miraculous grace of God

The portraits of Erasmus, on the other hand, show a regular, noble, and delicate face. The portrait of 1517 by Quentin Matsys in the Palazzo Corsini emphasizes this aspect to such an extent that it is difficult to find the sign of greatness in it. It shows clear eyes, a regular Nordic nose, a mouth with thin, straight lips, evidences of an astute intellect and a sort of speculative melancholy, but no sure sign of genius. However, one of the portraits of Erasmus made by Albrecht Dürer shows the genius of both the sitter and the painter. The eyes are half closed and observing, as if a connoisseur examined an art piece. The nose is less Nordic than in Matsys's painting, but much finer, as if sampling the air. The mouth is tightly closed, as in all portraits of Erasmus; one is in doubt whether the slight contraction of the muscles at the corners indicates a smile or disdain. This man has certainly the qualities of an expert philologist and editor, of a sagacious thinker, and of a dangerous satirist. There is also a touch of hypochondria in this face; at least it shows no natural physical strength. The discipline we feel in it is entirely spiritual and intellectual, not that of a sportsman. Yet, with all the intellectuality, these features betray the kindness of a wisdom to which *nihil humani alienum est.* And if one senses something primitive and childlike in Luther, one has

the feeling that the scholar of Rotterdam, in spite of his refined intellectualism, could take a child on his knee and change the sarcastic smile on his face to one of love and tenderness. But however many traits we may discover in Durer's Erasmus, one thing is not to be found—the enormous tension between brute animality and prophetic transcendentalism which we see in Luther. Therefore these two men could go together as long as they fought the corruption and backwardness of the Catholic hierarchy; but since Luther fought with the passion of a prophet and Erasmus as a wise rationalist, they were bound to separate later.

The contrast between Luther and Erasmus appears wherever they worked with or against each other. Luther, in spite of a certain appreciation of Antiquity, emphasizes the fundamental contrast between the ancient and the Christian world, and throws the ancient poets overboard when they might do harm to religious devotion. For Erasmus the goal of culture is the union of Antiquity and Christianity. This union, in his opinion, would resolve the conflict between reason and faith, work and grace, revelation and inquiry, self-assertion and authority. For Luther history and philosophy are great sources of information about human affairs, but there is only one thing sacred, the Christian Revelation. To call Jesus' teaching "philosophy" would have been an offense to Luther. Erasmus speaks of the "philosophy of Christ" as the greatest and most divine, to be sure, but mentions also the philosophies of Plato, Aristotle, Cicero, and Saint Augustine. In other words, Erasmus believes there are several possible acts through which God or the Spirit can communicate with man.

For Luther the Bible was a document of absolutely supernatural revelation. To subject it to autonomous inquiry meant for him the climax of arrogance, though, through fostering philological research in the domain of sacred letters, he unintentionally contributed to the critical theology. Erasmus had not yet advanced far enough to apply modern historical criticism to the Bible, but the idea as such was not foreign to him. Together with such men as the Italian philosopher Pico della Mirandola and the French philologist Lefèvre

d'Étaples, Erasmus differentiated the true meaning of the Bible from its merely historical form. "The gospel hath her flesh, she hath also her spirit," he says in the *Enchiridion Militis Christiani.*[1] Medieval theologians had already interpreted the Scriptures "allegorically," thus allowing for the most arbitrary speculations. Erasmus' symbolism is on a much higher level. It is penetration through the merely accidental vestment of a biblical statement with the purpose of discovering its essential idea.

The story of the Fall, for example, is for him not a reality but the mythical symbol of the curse of imperfection laid upon man. This interpretation, if carried to its logical end, would have destroyed the traditional Christology, which explains the coming of the Savior as an act of God's merciful decision to relieve the human race from the eternal consequence of Adam's disobedience.

Erasmus' theological controversies with Luther dwell on too transcendent problems to offer valid criteria for deciding which of the contestants is right. In the controversy on the freedom or bondage of will, Luther, in his defense of the bondage of will, was certainly more consistent than his adversary.[2] Yet, generally speaking, Erasmus appeals to most modern men more strongly than do most of his theological contemporaries when he says that *Summa nostrae religionis pax est et unanimitas,*[3] that is, "The sum of our religion is not to be found in one or the other dogma, but is peace and concord." Erasmus seems to us more rational when he rejects the theory of predestination and gives every man a chance to come to Christ, when throughout his lifetime he attacks the identification of religion and hierarchy as the central evil in Christendom, and when he declares mechanical routine in the office of the clergy

[1]Erasmus of Rotterdam: *A Book Called in Latin Enchiridion Militis Christiani and in English The Manual of the Christian Knight*, p. 149. Methuen and Company, London, 1905. Cited in the following as *Enchiridion.*

[2]Luther's standpoint must not be confused with modern determinism, which is based on entirely different premises. Luther denies free will with reference to God's omnipotence and Adam's fall.

[3]Desiderius Erasmus: *Opera Omnia*, cura J. Clerici, in 10 vols. Lugd. Bat., 1703–1706. Cited in the following as. *Opera.* See Vol III, p. 694, "Epist. DCXIII, Jan. 5, 1522."

to be the main danger to the spirit of love and religious edification. As a matter of fact, modern Protestantism has increasingly acknowledged Erasmus as one of the forerunners of liberal theology, in spite of his opposition to Luther.

If it is the application of the critical intellect which distinguishes the modern mind from medievalism, then Erasmus, through introducing criticism, comparison, tolerance, and historicism into theology, has shown himself much more modern than Luther or Calvin.

On the other hand, it was this very same rationalism which—paradoxically enough—kept the liberal Dutchman eventually on the side of the traditional church. However much he attacked the vices of the clergy, ridiculed the futile disputations of the scholastics, and felt the dawn of a new period, he hoped it would be a rational and a liberal era. With disgust he observed the irrationalism of the Protestant preachers, iconoclasts, and rioting masses who followed in the wake of the new movement. So he was, after all, inclined to condone much of the luxury and paganism of the Renaissance popes. In questions of research and culture they had been more broad-minded than the average Catholic or Protestant.

Erasmus and Luther were in Rome at almost the same time—Erasmus in 1509, Luther in 1511. They probably saw very similar things: the venality of the higher clergy, the idolatry practiced with relics of the most spurious nature, the bullfights performed under papal protection, the blasphemies of celebrated humanist priests, and the presence of a considerable number of demimondaines. But whereas Luther never overcame the shock, Erasmus, a few years after his visit, wrote to a friend:

> Had I not torn myself from Rome, I could never have resolved to leave. There one enjoys sweet liberty, rich libraries, the charming friendship of writers and scholars, and the sight of antique monuments. I was honored by the society of eminent prelates, so that I cannot conceive of a greater pleasure than to return to this city.[1]

[1]Preserved Smith, *Erasmus: A Study of His Life, Ideals and Place in History*, p. 115. Harper and Brothers, New York, 1923. Cited in the following as Smith's *Erasmus*.

There is also a letter from Erasmus to Pope Leo X of the House of Medici, one of the great representatives of Renaissance paganism within the hierarchy. This letter is painful reading, even if one takes into account the dignity of the addressee and the customary flattery in humanist letters:

If your greatness is considered, most blessed Father, there is no sovereign so high but must feel some awe in addressing you. But the singular benignity of your character, which is not proclaimed by the general voice of the world, but reflected in your features and demeanor, and of which I had some taste in private intercourse when I was at Rome, inspires so much confidence, that even an individual of the humblest rank like myself does not hesitate to intrude a letter upon your Holiness. Would that I were permitted to throw myself on my knees before you, and kiss those truly blessed feet. I see and hear, how in every part of the Christian world the highest as well as the lowest are congratulating themselves on the elevation of such a Prince.[1] This especially because the House of Medici, to which the world owed also you, Pope Leo, has always fostered and honored men eminent through their sincerity and erudition. As from the Trojan horse there have come from your family within a few years excellent masters in all arts, so many Ciceros, Vergils, Platos, and Hieronymi, that this alone should encourage all lovers of the arts to hope that you, Pope Leo, have been given to the world by divine providence, that under you all excellent virtues and all liberal arts will thrive anew.[2]

But reading ahead, one becomes somewhat reconciled when noticing that the letter was written in order to interest the Pope in the new critical edition of the works of Saint Jerome and in the fate of the German scholars whose philological diligence had made the new edition possible. Among the men mentioned in Erasmus' letter is the famous humanist Reuchlin. When Erasmus wrote the letter, Reuchlin was on trial before the Inquisition in Rome

[1]*The Epistles of Erasmus, from His Earliest Letters to His Fifty-first Year, Arranged in Order of Time*, English translations by Francis Morgan Nichols. 3 vols. Longmans, Green and Company, New York, 1901–1918. See Vol II, p. 198, "Epistle 323." Cf. also *Opus Epistolarum Des Erasmi Rotterodami*, denuo recognitum per P. S. Allen et H. M. Allen. 10 vols. Oxford University Press, New York, 1906–1941. Cited in the following as: Allen edition

[2]The last two sentences are translated by the author.

because of his defense of Jewish literature against the attacks of the Jewish convert Pfefferkorn. Did Erasmus include all the flattery in his letter to save his friend? It is true that the scholar of Rotterdam was sometimes too much of a diplomat, at least for such a man as Luther, but it was always in the interest of peace and culture. Much as he hated radicalism in religion and thought, because it excluded reasoning and toleration, he equally hated war and used every opportunity to display its barbaric nature.

The deepest reason why a man of Erasmus' character failed to gather his contemporaries behind him can be found in his letter to Richard Pace:

> Would that some deus ex machina might make a happy ending for this drama so inauspiciously begun by Luther! He himself gives his enemies the dart by which they transfix him, and acts as if he did not wish to be saved, though frequently warned by me and by his friends to tone down the sharpness of his style. . . . I cannot sufficiently wonder at the spirit in which he has written. Certainly he has loaded the cultivators of literature with heavy odium. Many of his teachings and admonitions were splendid, but would that he had not vitiated those good things by mixing intolerable evils! If he had written all things piously, yet I should not have courage to risk my life for the truth. All men have not strength for martyrdom. I fear lest, if any tumult should arise, I should imitate Peter [in denying the Lord]. I follow the just decrees of popes and emperors because it is right; I endure the evil laws because it is safe. I think this is allowable to good men, if they have no hope of successful resistance.[1]

Was it cowardice which brought about this lack of decision in Erasmus' soul? No, the tragedy goes deeper.

Erasmus was born in Holland, then a province of the Holy Roman Empire of the German Nation and not yet grown toward national independence in spite of its great wealth and admirable culture. It contained two national languages and traditions, German and French. Erasmus himself was of German stock and spoke in his early letters often and with pride of "my Germany," but the

[1]Smith's *Erasmus*, p. 243. Allen edition, "Epistle 1218," July 5, 1521.

Reformation filled him with disgust. He confessed in a letter to Duke George of Saxony (September 3, 1522),[1] "I am *unfamiliar* with the German language." He probably knew only Dutch, but made very little use of it after his fourteenth year. Only in the last minutes of his life when, struggling with death, he raised his voice to the Lord did he utter *Liebe God* ("Dear God") in the Low German he had spoken as a child when his lonely mother taught him to pray. On the threshold of eternity his inner voice broke through the barrier of Greek and Latin, revealing the tragic artificiality of his kind of classicism.

Erasmus pursued his studies in Latin and Germanic countries. But his most intimate friendship he found in England. And as is the case with so many people from the North, the country of his innermost longing was Italy.

He had neither fatherland nor vernacular in which to take root, and he had no family. His father had been pressed to take holy orders, but before ordination he fell in love with a widow, the daughter of a physician at Zevenberghen, near Rotterdam. Erasmus was one of the two sons springing from this liaison; twice he had to get dispensations from the Pope on account of his illegitimate origin The experiences which Erasmus had with his more remote relatives were not dissimilar to those which his father had had with his own kin: in order to get rid of him and his brother, they pressed them to enter the monastery. So Erasmus became a monk, not out of his own decision but under force; it was probably the boy's love of letters which made him yield. He despised most of his own colleagues, and they disliked him and called him a heretic.

Thus the Church could not become his real abode. He was not at home in a country, nor in a family, nor in his religious order of the Augustinian Canons, nor in the Church; he was at home exclusively in the spiritual world of letters which had originated in Greece, Rome, and Palestine, and which was not understood by the

[1]Erasmus von Rotterdam: *Briefe,* verdeutscht und herausgegeben von Walther Köhler, p. 300. Leipzig, 1938. Cf. also Allen edition, "Epistle 1313."

common man. It was certainly by virtue of the very rootlessness of his life that he developed his deep feeling for Christ Christ was for him the mystical source of inner consolation, the savior of man from unrest, and the eternal center of history. But this feeling was enlightened and undogmatic, and it was as far from Catholic institutionalism as from Luther's new theology.

This spiritual mooring enabled Erasmus to remain true to himself in spite of all conflicts and vacillations. Throughout his life he defended his intellectual freedom. He never sold himself, not even for the purple of a cardinal, and even on his deathbed he showed his independence by devoting his soul to God without asking for the customary assistance of a priest. Therefore Luther may be right from his point of view, but he is nevertheless essentially wrong when in one of his table talks he accuses Erasmus of sophistry, ambiguity, and lack of seriousness.[1]

Erasmus as Educator

Much of Erasmus' character and thought is reflected in his educational theory. We find in it the religious and moral reformer, the advocate of peace, the satirical critic of the follies of mankind, the man who hopes for the reconciliation of faith and reason, the liberal and tolerant personality endowed with a fine understanding for human nature, the admirer of classical letters, the scholar of the literary, not the experimental, type, and the wanderer without a vernacular or a nation.

Whatever Erasmus wrote expressed in one way or another his concern with a humanistic reform of Christian civilization, whether he was dealing as a theologian with the New Testament and the Fathers of the Church or as a philologist with the learning of ancient languages. In spite of all satire against the Church, his religious attitude appears in all his utterances. In this respect Erasmus definitely distinguishes himself, as a northern humanist, from his sometimes cynical and paganized Italian friends. "Hencefor-

[1]*Luthers Tischreden der Mathesischen Sammlung,* herausgegeben von Ernst Kroker, p. 283. Leipzig, 1903.

ward, . . . they that use the world must be as if they used it not";[1] in other words, those who live in this world ought to live as if they did not need it. This finest formulation of medieval wisdom is not a phrase in Erasmus' mouth; it comes from his heart.

Among Erasmus' works on education we have to distinguish a group which aims at a general spiritual reform of Christian life, for example, the *Enchiridion Militis Christiani* (1503), already mentioned, the first English edition of which, published in 1533, bears the title *A Booke Called in Latyn Enchiridion Militis Christiani and in Englysche Manual of the Christen Knyght.*[2] It pictures the *Imitatio Christi* as the continual effort towards self-discipline which alone allows us to enter into the region where man and God may meet. Mystical influences have flown into this simple and undogmatic presentation of Christian morality. Ignatius of Loyola, the founder of the Jesuit order and the greatest exponent of the *Ecclesia Militans*, disliked the book.[3] Whether or not he learned from it is another question.

About the relationship between the State, civilization, and education, Erasmus expresses his opinion in the *Institutio Principis Christiani* ("On the Education of a Christian Prince"), 1516 [4] This work was published only three years after Machiavelli's famous *Principe* ("The Prince"), which symbolizes the complete emancipation of a Renaissance humanist from Christian ethics and the enthronement of *raison d'état* as the highest principle of action for a prince. Erasmus is on the opposite side of the fence. Like all the progressive people of his day, he considered a limited absolutist monarchy the best form of government. In his time this form of political organization promised, more than others, an ordered and effectual society. But if one lays more stress on the spirit than on

[1]See footnote 1 on page 133

[2]*Enchiridion*, p. 134

[3]Cf. Ludovicus Consalvius de Camara's *Memoriale*, in *Monumenta Ignatiana*, Series quarta, *Scripta de Sancto Ignatio de Loyola*, Tomus primus. Madrid, 1904.

[4]Desiderius Erasmus: *The Education of a Christian Prince*, translated by Lester K. Born (Records of Civilization, Sources and Studies, No. 27). Columbia University Press, New York, 1936.

the external form of government, he can call the *Institutio Principis* the first learned manifesto of a democrat.

In this treatise Erasmus insists that the prince and his consort should live in close contact with their subjects; they should regard themselves, and be regarded, as part of their people. Laws should serve no other purpose than the welfare of the nation; every subject, irrespective of wealth or birth, should be allowed to grow up and live with a sense of honor; crime should be fought not so much by punishment as by preventive economic and political measures; class differences and exploitation ought to be abolished; the government ought to develop the wealth of the country by a program of building and agricultural reform; finally, the Christian prince should know that a war which is not absolutely necessary for the defense of human rights is against lasting welfare and the spirit of Christ.[1]

It is characteristic of European political morale that Machiavelli's *Principe* has become a "classic" in the history of European government, whereas Erasmus' *Institutio* is almost forgotten. It shows, as only his letters do, the realistic and observational capacities of the great humanist. But in contrast with the letter to Pope Leo X, it is full of dignity and candor. Though dedicated to the young Hapsburg Prince Charles, ruler of the Netherlands and later Emperor Charles V, it attacks dynastic abuses with striking directness. Prince Charles could not fail to see that many of the scholar's remarks alluded to defects of absolutism particularly characteristic of his own family.

Also, Erasmus' *Matrimonii Christiani Institutio* ("On Christian Matrimony," 1526) is intended to bring about a moral reform of Christian society. It is of particular interest for the historian of education because it contains an extensive chapter on the education of girls.

In the works of Erasmus as well as of other humanists there appears a very striking contrast. On the one hand, there is disdain

[1]*The Education of a Christian Prince*, pp. 207 f.

and ridicule for the moral and intellectual status of women. Few of these learned men would have considered a woman sufficiently mature to teach. On the other hand, many humanists rebelled against the crudeness of the older family life. Their growing individualism granted at least the daughters of the aristocratic families the right to enjoy the blessings of civilization. Erasmus himself felt the refinement of the social atmosphere radiating from educated women in the house of his most beloved friend, the Englishman Sir Thomas More, and in the home of the German patrician Willibald Pirckheimer. The Erasmian sentence. *Et conjugem mihi et me illi cariorem reddit eruditio*[1] ("Education causes my husband and me to hold each other more dearly") expresses better than anything else his belief in the value of intellectual culture.

But Erasmus knows also the obstacles in the way of progress. The greatest power on earth—so he explains in his *Praise of Folly* (*Moriae Encomion*, 1509)—is not piety, nor education, nor government, nor even force, but folly. Folly rules wherever human beings meet; it governs all estates, professions, and vocations, the princes of the world and of the Church, as well as the common folk. Satirical works of this kind were not rare, but the *Praise of Folly*, being written by one of the greatest scholars of the Church, became, together with the *Letters of the Dark Men* (*Epistolae Virorum Obscurorum*, 1515), the fanfare of rebellion of the educated middle classes against the medieval order of things.

Like his *Praise of Folly*, Erasmus' *Colloquies* (*Colloquiorum Formulae*) rapidly became a part of world literature. They represent a widely spread type of humanist literature, namely, fictitious dialogues, destined to introduce the student to conversational Latin.[2]

[1]*Opera*, Vol. III, p. 746 A. Cf. also William H. Woodward, *Desiderius Erasmus Concerning the Aim and Method of Education*, p. 150 Cambridge University Press, England, 1904 By permission of The Macmillan Company, publishers, New York. Cited in the following as. Woodward's *Erasmus* Some other main works indicating the growing interest in female education are: Francesco Barbaro, *De Re Uxoria*, Paris, 1513; Juan Luis Vives, *De Institutione Foeminae Christianae*, Antwerp, 1524, Sir Thomas Elyot, *Defence of Good Women*, London, 1540.

[2]Cf Aloys Bömer, *Die lateinischen Schulergesprache der Humanisten* (Texte und Forschungen zur Geschichte der Erziehung I), Chap. VI; p. 71 f. Berlin, 1897–1899.

Erasmus began to jot down the first of these dialogues when as a young man he had to support himself through giving private instruction. During his lifetime the colloquies appeared in several ever-enlarged editions. They prove that in the hands of a great man even seemingly trifling things become significant. Why not combine the teaching of Latin—for Erasmus still a living tongue—with the teaching of the elements of worldly life and conduct? Why not use the opportunity for some more invectives against the superstition of pilgrimages, the belief in demons and ghosts, and the absurd popish indulgences and excommunications? Why not also here, as in the letters, use the chance to praise great and liberal minds, as "the incomparable man, John Reuchlin"? And why not mock at the kind of scholastic philosophers who use thinking primarily for the purpose of confusion and words for the purpose of concealing things?

The stimulus to occupy himself thoroughly with the schoolmaster's craft came to Erasmus from his English friends. From 1509 to 1514 he lived in London and, as professor of divinity, in Cambridge. Common interests with the humanist John Colet, who had just started his school at St. Paul's, led him to compose a work *Upon the Method of Right Instruction* (*De Ratione Studii*, 1511). There he gave an account of his ideas on the right ways of instruction in the classics, on the interpretation of authors, and on the techniques of composition In contrast to so many of his modern followers in the liberal arts, he was deeply aware of the importance of methodical teaching.

Such weight do I ascribe to right method in instruction—and I include herein choice of material as well as of modes of imparting it—that I undertake by its means to carry forward youths of merely average intelligence to a creditable standard of scholarship, and of conversation also, in Latin and Greek, at an age when, under the common schoolmaster of today, the same youths would be just stammering through their Primer. With the foundations thus rightly laid a boy may confidently look forward to success in the higher range of learning. He will, when he looks back, admit

that the essential condition of his attainment was the care which was devoted to the beginnings of his education.[1]

No wonder that Erasmus became one of the first advocates of a systematic training of teachers.

Which brings me to claim it as a duty incumbent on Statesmen and Churchmen alike to provide that there be a due supply of men qualified to educate the youth of the nation. It is a public obligation in no way inferior, say, to the ordering of the army.[2]

In almost all his activities—as humanist, writer, editor, religious and cultural reformer—Erasmus was bound to encounter the extreme camp of Humanism, the *Ciceroniani*, who, in their admiration for pure Latin, went so far as to prohibit any use of phrases not to be found in the works of the admired master of style, Cicero. In the satirical dialogue *Ciceronianus* (1528)[3] Erasmus performs a brilliant and witty *reductio ad absurdum* of the humanist fad. The first danger of this merely imitative purist movement—so he points out—lies in the fettering of the writer who, bound to a specific vocabulary and style, cannot develop his own ideas and forms of expression. Secondly, Latin itself is brought into the peril of petrifaction, for how can a language live which is a strait jacket to the mind? The third danger lies in the paganization of thought. If we submit completely to Cicero, we must give up Christianity; for Christ and the Christian God do not exist in the writings of the pagan, nor had he terms available for such central Christian concepts as faith and grace. Some humanists, for the holy cause of purism, had already changed the whole Christian Heaven into an abode of ancient gods. They called it Olympus. Christ was compared with Jupiter Tonans ("the Thunderer"), and Saint Mary

[1]*Opera*, Vol. I, p. 530, A-B, *De Ratione Studii*. Woodward's *Erasmus*, p. 178.

[2]*De Pueris Statim ac Liberaliter Instituendis; or, The Argument . . That Children Should Straight Away from Their Earliest Years Be Trained in Virtue and Sound Learning*, 1529, in *Opera*, Vol. I, pp 489–516 A. Woodward's *Erasmus*, pp. 180–222.

[3]*Ciceronianus, or a Dialogue on the Best Style of Speaking*, translated by Izora Scott, with an Introduction by Paul Monroe (Contributions to Education, No. 21). Columbia University, Teachers College, New York, 1908

was honored with the title of queen who excelled all nymphs in her beauty.

The most mature educational work of Erasmus is his *Liberal Education of Boys* (*De Pueris Statim ac Liberaliter Instituendis*, 1529). Together with *The Method of Right Instruction*, it presents a rather coherent system of humanist education, full of a genuine feeling for the responsibilities of a good teacher, and far superior to the educational literature of the early humanists of the fifteenth century.

According to Erasmus, the aim of education is to lead men toward knowledge, honesty, and independent judgment.

> To dumb creatures Mother Nature has given an innate power of instinct, . . . but Providence in granting to man alone the privilege of reason has thrown the burden of development of the human being upon training. Well, therefore, has it been said that the first means, the second, and the third means to happiness is right training or education. Sound education is the condition of real wisdom.[1]

This Aristotelian praise of wisdom is combined with the Christian idea that man, as a rational being, is potentially the image of God. He must never, therefore, be subjected to slavery, and he must be allowed to develop all his qualities in order to realize this sublime destiny. If he fails to do so, he may sink below the animal.

> It is beyond dispute that man not instructed through reason in philosophy and sound learning is a creature lower than a brute, seeing that there is no beast more wild or more harmful than a man who is driven hither and thither by ambition or desire, anger or envy, or lawless temper.[2]

It is the gift of reason which unites men in a spiritual community. There exist no essential differences among nations and races as such; there are only individual differences, according to the degree of man's participation in the achievements of culture. Nor must man be subjected to unquestioned authority. Even the opinions of the ancients may be doubted.

[1] *De Pueris Instituendis*, § 4. Woodward's *Erasmus*, p. 183.

[2] *De Pueris Instituendis*, §§ 7 and 24. Woodward's *Erasmus*, pp. 186 and 207

His sense of the dignity of the individual makes Erasmus one of the strongest enemies of cruel schoolmasters. We have found a similar attitude in earlier humanist pedagogy; but whereas there it comes primarily from the example of Quintilian, for Erasmus the battle against maltreatment of children is a kind of holy war, the only war he was glad to fight in.

> A poor master, we are prepared to find, relies almost wholly upon fear of punishment as the motive to work. To frighten one entire class is easier than to teach one boy properly; for the latter is, and always must be, a task as serious as it is honorable. It is equally true of States: the rule which carries the respect and consent of the citizens demands higher qualities in the Prince than does the tyranny of force. . . . Do schoolmasters consider how many earnest, studious natures have been by treatment of this type—the hangman type—crushed into indifference?[1]

In order to educate without the rod, the teacher must understand the nature of the child and the laws inherent in the educative process; in other words, he needs psychological insight and a workable method. In the investigation of these requisites of education Erasmus largely follows Aristotle, Plutarch, and Quintilian. But the influences from these men are intimately interwoven with Erasmus' own experiences.

> Three conditions . . . determine individual progress. They are Nature, Training, and Practice. By *Nature*, I mean, partly, innate capacity for being trained, partly, native bent towards excellence. By *Training*, I mean the skilled application of instruction and guidance. By *Practice*, the free exercise on our own part of that activity which has been implanted by Nature and is furthered by training. Nature without skill Training must be imperfect, and Practice without the method which Training supplies leads to hopeless confusion.[2]

In consequence of these three "conditions," as Erasmus rather vaguely calls them, the educator must be interested in both the physical and the intellectual development of the child.

[1] *De Pueris Instituendis*, § 24. Woodward's *Erasmus*, pp. 205 f.
[2] *De Pueris Instituendis*, § 11. Woodward's *Erasmus*, p. 191.

The physical side of education, as sport, and the cultivation of external attitudes are of much less concern to Erasmus than to the aristocratic humanists. He is not unaware, though, of the requirements of hygiene. His own physical sensitiveness compelled him to take extreme care of his health. He also follows Aristotle, Plutarch, and Vegio in their emphasis on prenatal education. But like most of the German humanists, he is more interested in the pursuits of the mind than in the exercise of the body; in addition, he is one of the first educators to represent the spirit of the rising middle classes for whom aristocracy is not confined to birth and the use of arms.

Mother Nature—so Erasmus argues in adding to the Aristotelian tradition—has endowed man with certain dispositions which the teacher must know in order to utilize them. The human being possesses imagination and other inborn or potential urges, such as self-preservation, imitation, ambition, and the desire for attachment. In appealing to these qualities the teacher can motivate the child voluntarily to undergo, and even to enjoy, the many inconveniences connected with the educational process. Therefore good education is to a large extent encouragement; the ability to combine encouragement and discipline, to mix patience and understanding properly with severity, is the criterion of the good teacher. He will also know that play for the child is not only a relaxation or pleasure but a part of his life and learning. Erasmus recommends also the use of visual aids, for education must make use of the senses in order to help the mind in its endeavor to grasp the reality behind the words.

The good teacher respects individual differences in the child, but not to the extent that he allows him to develop only some of his qualities at the expense of others. Respect for specific talents and the cultivation of "many-sidedness of interest," as Herbart phrased it later, do not exclude each other.

Repeatedly Erasmus demands that education begin at an early age, though it is not absolutely clear how he would like to have it done. His interest in play suggests that he would respect the spe-

cific conditions of infancy to a certain degree, but probably not to the extent that we should demand today.

Needless to say, Erasmus' curriculum is one-sidedly centered on the classics and on expression. The vernacular receives no attention, nor do the sciences. The latter had not yet acquired any molding influence on the life of man. The Copernican theory had not yet shattered the old Ptolemaic-Christian cosmology, nor had Galileo's and other scientists' experiments reversed Aristotle's theory of the fall of bodies. Erasmus disdained the primitive experiments of his more empirically minded contemporaries, not knowing that these experiments represented the initial stage of a way of research much more decisive for the future of mankind than his own philology and the ancient works on nature which he recommended for reading. Yet in principle he was not against the study of nature; he always wished to lead the student toward a better understanding of life. Language was for him a door toward experience, not a barrier to shut it out. His *Colloquies* prove this sufficiently. They are filled with bristling actuality. There are many teachers in America, not to speak of those in other continents, who would have to fear for their positions if they discussed with their pupils subjects of such "controversial nature" as were those which Erasmus brought up in his Latin "Conversations."

Erasmus' Influence

Erasmus died a lonely man. For his contemporaries he had become the symbol of a man incapable of decision because he had refused clearly to take a side in the religious struggle. He did so even before the Diet of Augsburg in 1530, when the battling parties were tired of the conflict and looked for an arbiter of international fame. For Luther, Erasmus was an enemy of Christ. The Catholics disliked Erasmus; later, at the reform council of Trent, 1545–1563, they put his name on the *Index Librorum Prohibitorum* and tried to suppress his influence in the universities.[1]

[1]Marcel Bataillon, *Erasme et l'Espagne, Recherches sur l'Histoire Spirituelle du XVIe Siècle.* Paris, 1937.

Yet there are few men who have molded European education as decisively as Erasmus. He encouraged a better method of teaching and a more understanding and tolerant attitude toward the pupil, and he infiltrated the classical studies with the spirit of exactness, historical criticism, and international perspective. This allowed ancient philology to dominate the humanities until the beginning of the nineteenth century.

The tragedy for Erasmus' work was that he died before the full dawn of the empirical sciences. While he was not enough of a fighter to try a unification of Protestant reformism and the Catholic tradition, he would perhaps have been broad enough as a thinker to attempt a reconciliation between the new scientific interests and the classical legacy of Europe. Thus the cleavage between the humanities and the natural sciences could have been avoided—a cleavage from which the higher schools of Europe suffered up to the twentieth century.

V. Ignatius of Loyola (1491–1556) and the Jesuit System of Education

In 1521, when Luther at the Diet of Worms defended his Protestant doctrine before Charles V, the ruler of the German and Spanish empires, Ignatius of Loyola had recovered from the wounds he had received before Pamplona as an officer in the service of the viceroy of Navarre.

Until this time Loyola had led the life of a courtier and a soldier with all the earthly ambitions of a young nobleman. After receiving these wounds, as he lay in bed suffering from his injuries and from crude surgery, he first thought of diverting his mind through reading the typical tales of chivalry, full of love and adventure, that were in vogue among the leisure classes. But such books not being available, he read a Castilian translation of Ludolf of Saxony's *Vita Christi* ("The Life of Christ"), and one of the typical *Flores Sanctorum* ("Flowers of the Saints"). The result was a convulsive struggle in his soul between the desires and aspirations of his former life and the transcendent ideals he found realized by the Christian heroes. With the intensity peculiar to his personality, he ran the whole gamut between exaltation and despair; he underwent extreme ascetic exercises and was close to suicide; until finally the vision of the Blessed Virgin with her Son convinced him of the reality of the Spirit.

In the conversion of Loyola a fundamental psychological phenomenon becomes evident. It is not infrequent that men, under vehement impressions, completely change the goals of their aspirations and beliefs, but it is truly rare for a person to change those fundamental attitudes which result from the impact of early impressions on his nature. These attitudes remain within the new moral constellation. So it was also with Ignatius of Loyola. Had he not been wounded in battle, he would have become a general with all the great and vain passions which made a knight of his

period sought by kings, dangerous to the enemy, and beloved by ladies. All these qualities did not disappear after Loyola's conversion; they only became sublimated, acquiring through this transformation an even greater degree of intensity. His ideal was no longer to conquer foreign cities and illustrious women, but to conquer his own self, through forcing it to obey a new prince, Jesus Christ. In all his enterprises, both spiritual and organizational, Loyola never lost the characteristics demanded of an officer by the absolutist armies then appearing in Europe—discipline and initiative, devotion and self-assertion, courage and prudence.

The first written document of this new life is the *Exercitia Spiritualia* ("Spiritual Exercises"). Most modern men will no longer be able to adhere to the orthodox belief in the details of the biblical story, the repeated contemplation of which, according to Loyola, would help the human soul to merit the blessings of immortality. Yet the method and organization of these exercises in spiritual self-education will always evoke our admiration, even if we no longer believe in their content.[1]

In 1523 Loyola made a pilgrimage to Jerusalem, where the Franciscan Order, the guardian of the holy places, threatened him with excommunication for his imprudent religious zeal, which seemed apt to arouse the resentment of the Turkish rulers of the country. After his return to Europe in 1524, this so far academically untrained man began a period of intense literary, philosophical, and theological studies, showing such a degree of personal passion in his learning and discussions that he exposed himself several times to the reproach of heresy. Not before 1535 did he take his Master's degree at the University of Paris.

He used the last years of his studies for making contacts with men of equal zeal for the restoration of Christian faith and morality. At the Feast of the Assumption on August 15, 1534, they met with Loyola in the crypt of the Church of St. Mary on Montmartre

[1]Concerning the history of self-education, see Friedrich Schneider, *Die Selbsterziehung; Wissenschaft und Uebung*, pp. 143–157: "Die Exercitia spiritualia des heiligen Ignatius von Loyola" Koln, 1936.

to take the vows of poverty and chastity and to pledge themselves to unrestricted sacrifices in the service of the Church. But this 15th of August, 1534, did not see the formal founding of the new religious "company"; the vows were still of individual character. The legal establishment of the Society of Jesus did not take place until 1539. It was confirmed by Pope Paul III in 1540 in the bull *Regimini Militantis Ecclesiae.* But in a deeper sense the legend that the Jesuit order was founded on Montmartre is right, for the spirit and the vows of the men assembled there were the real source of strength of the most zealous modern order of the Catholic Church, and the main weapon in its fight against spreading Protestantism in the European countries.

In the opening declaration of one of the foundational doctrines of the Jesuit Order, the *Examen*, its aim is described thus:

> Not only to seek with the aid of the Divine grace the salvation and perfection of one's own soul, but with the aid of the same earnestly to labor for the salvation and perfection of one's neighbor.

For this purpose, it appeared, educational work was inevitable. So the order first opened, and not without hesitation, a college at Messina in 1548. That same year Loyola began his draft of the *Constitutiones*, containing the principles of organization of the order which were confirmed by the members of the Society and by Pope Julius III in 1550.

Part IV of the *Constitutiones* is devoted to the regulation of studies in the colleges; reference also is made to the plan of a more detailed treatise on educational matters.[1] After most careful preparation throughout the whole order and after fifteen years of repeated deliberations, this treatise appeared in 1599 as the *Ratio Studiorum.* It was not seen by Loyola himself, who died in 1556.

Part IV of the *Constitutiones* and the *Ratio Studiorum*—the latter being an elaboration of the first—gives evidence of the same spirit we have already found in the mentality of the *Exercitia.* Here

[1] *St. Ignatius and the Ratio Studiorum*, edited by Edward A. Fitzpatrick, translated by Mary Helen Mayer and A. R. Ball McGraw-Hill Book Company, New York, 1933.

speaks the man with a profound experience of the heights and depths of human nature, the former soldier who knows about discipline and obedience, the great organizer with his remarkable sense for the ideal and the real, and the believer in the salvation of the soul only through Christ. We also understand from these educational regulations why the biographers of Loyola testify to the "sweetness and gentleness" of Loyola's character. He belongs to the rare people who have succeeded in harmonizing the extremes in their own nature, and who—to use a phrase of Goethe's—have achieved the greatest of which a human being is capable, namely, to know man and yet to love him.

It has been said by Jesuits themselves that perfection in organization made the Jesuits great. But nothing can be made great by organization alone, or, better, no organization can become great unless it lives on sources much deeper than executive skill and management. Mere management will never create that stream of purpose and freedom, of unity and diversity, of discipline and initiative which runs through the arteries of all lasting institutions. It shows a lack of deeper understanding of the Jesuit order if some of its historians see in it an incompatible contrast between its authoritarian and its democratic elements and conclude, consequently, that it can be nothing but an authoritarian institution. Omnipotent though Loyola and his successors were within their organization, few documents in the history of institutions ever resulted from such a degree of co-operation and democratic experience as the *Constitutiones* and the *Ratio Studiorum.* Certainly Loyola and his friends absorbed the influence of such great educators of the time as Juan Luis Vives, Johannes Sturm, and the Brethren of the Common Life. But the unifying element behind all these influences was the spirit of Loyola.

The educational means of Loyola are self-identification with the life of Christ and learning for the glory of God, whom all men and nations have to obey without difference. Yet Loyola does not forget the personality of the educand. He admires a trained intellect, but he also knows that trained intellect alone is dangerous. He

stresses habituation, persistence in effort, and repetition. The Socratic-Platonic art of dialectics (though bound to a restricted and orthodox frame of reference) is emphasized in the Jesuit cultivation of scholarly dispute. Even play and theatrical performance are used to improve the power of expression. For the realization of the Christian ideas needs not only contemplation but also the skills and virtues necessary in an active life. For this reason the Jesuit colleges paid more attention to physical training than the other school systems of the sixteenth and seventeenth centuries. It is due to all these advantages that the Jesuit colleges soon attracted the sons of the privileged classes, Protestants as well as Catholics.

Francis Bacon says in Book VI, Chapter 4, of *De Augmentis:*

> As for Pedagogy, it were the shortest way to refer it to the Jesuits, who in point of usefulness have herein excelled.[1]

At another place of the same work (*De Augmentis* I, 1) Bacon shows his broad-mindedness in declaring that the diligence of Jesuit colleges abroad "in fashioning the morals and cultivating the minds of youth" leads him to say "as Agesilaus said to his enemy Pharnabasus, 'Seeing that you are what you are, would that you were on our side.' "[2]

The Jesuits show respect for the individual abilities of the student, and if one combines this potent factor with their interest in effective selection and their extremely careful system of examinations, he can understand how a world still bound to more or less medieval forms of practical education, and with a shamelessly corrupt system of examinations in the universities, looked up to the Jesuit colleges as to the most effective system of training.

In reality the Jesuits became the great masters of education in all Catholic countries. In Spain, Austria, and Southern Germany they dominated secondary education; in the France of the seventeenth century and the first half of the eighteenth century educa-

[1]Cf Francis Bacon: *Works*, collected and edited by James Spedding, Robert L. Ellis, and Douglas D. Heath, in 15 vols., Vol. II, p. 404. Houghton Mifflin Company, Boston, 1904.

[2]*Ibidem*, Vol. II, p. 117.

tion was exclusively under their sway. Jesuit fathers worked as successful missionaries in Asia, Africa, and the Americas. Through their interest in the humanities and in certain parts of the natural sciences, particularly astronomy, they contributed much to scholarship. The educational work of the order was at its zenith at the beginning of the eighteenth century.

What were the causes of the decline of the order during the eighteenth century? What caused the brief of Pope Clement XIV of 1773, which he concluded with the following words?

> For the sake of peace, and because the society can no longer attain the aims for which it was founded, and on secret grounds which We enclose in Our heart, We suppress the said society.

The answer to these questions needs some qualification. Right from its beginnings the holy fervor and aggressiveness of the Jesuits had aroused much suspicion and hostility even among the Catholic clergy. Through its zealous work and its supernational organization, centralized in Rome with firm strongholds in every country, the order became an omnipotent yet secretly working agency and a state both above and within every state. With an enormous efficiency in supporting all the forces it favored, it was the most powerful friend of its friends, and the most dangerous enemy of its enemies, whether Catholic or Protestant. This situation applied to politics as well as to culture and religion. In addition, the Jesuits did not always use wisely their educational influence on young aristocrats and their power as father confessors of the ruling families. Finally, though the individual Jesuit was bound by an oath of poverty, the order as such was allowed to accept donations; it waxed richer and richer, and finally became involved in a series of capitalistic enterprises which were utterly against the spirit it professed. Even the disciplinary laws of an Ignatius of Loyola did not prove a sufficient protection against the menace of might and wealth to the morals of an institution. Thus people, governments, and even the Catholic Church hated increasingly the network of Jesuit strategy and wished to get rid of it.

From the educational point of view, there was a still more inevi-

table cause of the gradual alienation of the Jesuit Society from the spirit of the eighteenth century. In spite of all its inner elasticity, the order could not remove the fact that Loyola had tied it up with the scholastic system of theology. This system proved to be incapable of coping with the empiricism and rationalism of the age of enlightenment. Under their pressure the more worldly of the Jesuit fathers modernized themselves to such an extent that they lost contact with the spirit of Loyola; the others tried to stem the tide through fettering the free spirit of inquiry arising in the universities through censorship and co-operation with political reaction. Thus the Society lost more and more of its educational prestige and became largely responsible for the violent onslaught of the French revolution against the traditional schools of learning.

The Order was restored in 1814, due to the growth of the Romanticist reaction against the rationalism of the eighteenth century. A few hundred brothers had survived the suppression, mainly because of the tolerance shown the Order by King Frederic II of Prussia and the Russian Empress Catharine. Within a few decades the Society of Jesus again represented one of the most powerful and disputed outposts of Catholicism. In 1935 it counted about 25,000 members. The Order took up all the activities in which it had excelled during the centuries before its suppression, although, in consequence of the modern spirit and the nationalization of education in most countries, its educational activities never regained the power and expansion they had in the period of Absolutism.

The old *Ratio Studiorum* is still regarded as the fundamental document of Jesuit education, though the colleges have yielded to changes in method and curriculum in order to adapt themselves to the growth of educational theory and practice. The first slight modification of the *Ratio* took place in 1616, the second in 1832. The future of the Order will depend largely on the general role of Catholicism in the cultural and political development of our times and be contingent upon the capacity of the Jesuits to find a synthesis, not merely a compromise, between the spirit of Loyola and the intellectual aspirations of the best Catholic youth.

VI. Montaigne

(1533–1592)

The range in understanding the heights and abysses of human nature which we find in the work of Michel Eyquem de Montaigne seems to be unlimited. He possessed a power of self-analysis which made him realize to an almost incredible degree of what human beings are potentially capable. He also could study, in the France of Catherine of Medici, extremes of vileness, cruelty, and religious hypocrisy which even the keenest imagination can hardly surpass.

No wonder that there grew in the soul of Montaigne the most complete agnosticism. *Que sais-je?* ("What do I know?") he wrote as motto under an emblematic pair of scales which he had drawn as an ornament to his name. He not only said, like Socrates, his great hero, "Try to know thyself," but he also felt that "Thou canst not even know thyself."

In his essay on "Montaigne, The Skeptic," Ralph Waldo Emerson says, "Belief consists in accepting the affirmations of the soul; unbelief, in denying them."[1] But what happens if there are no such affirmations springing from the metaphysical ground of being? However, this very radicalism of questioning, which threw so many of his contemporaries into moral chaos, became for Montaigne the source of a wisdom worthy of comparison with that of the greatest of the ancients. If I do not know anything—so Montaigne reasoned—let me accept that which according to human experience and the testimony of the great men of thought and action proves to be the most productive choice. Let us live according to the Aristotelian rule of the right mean, let us devote our time partly to the service of men, partly to intercourse with great minds of the past and the present, and partly to that

[1]Ralph Waldo Emerson: *Complete Works,* New Centenary Edition, in 12 vols.; Vol. IV, *Representative Men,* p. 180. Houghton Mifflin Company, Boston, 1903–1904.

kind of noble solitude which the mind needs in order to recreate itself. As it is difficult to decide whether the habits of one country are better than those of another, and as we do not know whether a new government, perhaps obtained by civil war and murder, will not create more evils than the first, or whether a new religion will bring us closer to the divine than the old one, let us not disdain the value of convention. On the other hand, let us not consider that compound of conviction and conditioning which we call "convention" as something holy. If in things within the realm of foresight and observation we have the chance of improvement, let us behave pragmatically and ask for the change which promises the greatest human effect in terms of happiness and development. All this smacks of egotism, and Emerson called Montaigne the "prince of egotists." But this statement contains only half the truth or not even that much.

To be sure, Montaigne led the life of an independent country lord and withdrew from the rabble as much as he could, in conformity with his conscience and interest. But in spite of his appreciation of noble leisure, he served as a judge and later as mayor of the city of Bordeaux. At the end of his successful administration he could say that he had offended nobody and nobody had become his personal enemy. What greater satisfaction can an honest man derive from public service than that, particularly at a time of the most dangerous religious and politic conflicts?

Montaigne traveled widely, did not criticize but appreciated foreign habits and opinions, and tried to learn from them. When the king called him for service, he came; but he never became a courtier. His castle was a refuge for many persecuted people; his own refuge in troubled times was his library. He remained unmolested by either party, Catholic or Protestant.

Montaigne's greatest delight was to set down his observations about human nature in his *Essays*, the first edition of which appeared in 1580. They have become a part of world literature, read over and over by men whom thinking and experience have taught that at the bottom of reality there lies much suffering, resignation,

and disappointment, but not necessarily bitterness and melancholy. Rather, we may strive for the freedom that comes if we dare work and love courageously and if we live without illusions about ourselves and others.

Of Montaigne's *Essays*, two are devoted to education. One bears the title *De l'Institution des Enfants* ("On the Education of Children"), the other *Du Pédantisme* ("On Pedantry"), but the responsibilities of teachers and parents are alluded to in other places also

There is one leitmotiv to be found in all these writings, which—do not forget—are concerned with the education of the aristocrat, not of the common man. Teach the young the art of living, *hanc amplissimam omnium artium bene vivendi disciplinam* ("this greatest of all arts, that of living"),[1] which we are often "taught to live when our lives are almost over "[2] Everything else is subordinate to this great aim. But how to master this art? Through becoming independent individuals, with the power to judge which of the many challenges and enticements we meet may help or hurt us. But the intellect alone would not suffice to stand the wear and tear of life. We need also health and endurance and a body well geared to the mind, expressive and elastic We must love life and action, beauty and glory; and we must have a natural trend toward excellence which springs not from a moralistic kind of righteousness but from "affection as well as reverence for virtue"[3] and from a trained sense for the "right mean" on all occasions. This idea of the right mean applies also to learning.

> The question should be, Who is better learned? rather than Who is the more learned?[4]

For there are too many erudite men who are not wise, who have been enervated by their studies instead of strengthened, and who

[1]Montaigne: *The Education of Children*, translated by L E. Rector (International Education Series, No. 46), p. 66, Cicero's *Tusc. Quaest.*, IV, 3. D Appleton and Company, New York, 1899.

[2]*Ibidem*, p. 56. [3]*Ibidem*, p. 54. [4]*Ibidem*, p. 92.

apply their power of thinking more to evil than to good purposes.[1]

The good man, according to the standards of Montaigne, shows a good portion of self-interest and sense for the amenities of life; he cannot find any wisdom or prudence in ascetic praise of poverty. Yet he must be able to subordinate his interest to his nation and always try to be:

> . . . a good and loyal subject to his prince, and a most affectionate and courageous gentleman in all that may concern the honor of his sovereign and the good of his country, and endeavor to suppress in him the desire of having any other tie to his king's service than public duty. . . . A man purely a courtier has neither power nor wit to speak or to think otherwise than favorably of his master. . . . This favor and the profit flowing from it must needs—and not without some show of reason—corrupt his freedom and dazzle his judgment.[2]

It is Montaigne's early deceased friend, Estienne de la Boëtie, author of *De la Servitude Volontaire* ("Of Voluntary Servitude"), a tractate against the evils of court cliques and absolutism, who speaks through this warning of Montaigne's against the confusion of patriotism with servility; and it is the neglect of this warning which caused the disaster of the French nobility in 1789, and the ruin of the House of Hohenzollern under William II.

The secret of educating a gentleman, according to Montaigne's heart, is not to be found in the medieval monastery or in any kind of book learning.

> This great world . . . is the true mirror wherein we must look in order to know ourselves as we should.[3]

Therefore Montaigne's advice is to teach the child to observe, to look at things rather than to memorize words; to travel with him when he is older, and to show him how to profit from his journeys, to open his mind for useful counsel and good examples; and—last, but not least—to aim always at the whole man.

[1]*Ibidem*, pp. 97 and 108. [2]*Ibidem*, pp. 39 f. [3]*Ibidem*, p. 46.

I would have his manners, behavior, and bearing cultivated at the same time with his mind. It is not the mind, it is not the body we are training; it is the man, and we must not divide him into two parts.[1]

In other words, the essence of education consists in activating all the qualities in the young from which they can profit morally and physically, as thinking as well as acting beings. Real learning is a process of translating outer reality into inner reality and of turning external influences into spontaneity. For a person trained in such fashion everything is a stimulus to learning.

A garden, the table, his bed, solitude, company, morning and evening—all hours and all places of study shall be the same.[2]

Only then will one be able to learn from books. Nothing would be more erroneous than to visualize Montaigne as an enemy of reading. Though not a systematic scholar, he was one of the greatest lovers of books. In his essays he constantly quotes, according to the custom of his time, sometimes even to a fatiguing degree; philosophy, history, the literature of the ancients are for him indispensable means of culture. But they can have good effect only in a well-prepared and active mind. Otherwise they are mere ballast.

Montaigne's influence worked directly on men who determined modern educational method and theory as decidedly as Locke and Rousseau. Much of what we consider progressive practices in schools today was anticipated by the French nobleman more than three centuries ago. Careful observation of all the conditions requisite for human maturation, the interaction of physical and mental training, the use of subject matter as a means for the development of personality and the art of living, the understanding of the learning process as fostering the child's initiative, and consequently the transformation of the school into a center of activities related to the child's natural life and future—all these ideas can be traced back to Montaigne.

[1]Montaigne: *The Education of Children*, translated by L. E. Rector (International Education Series, No. 46), p. 61. D. Appleton and Company, New York, 1899.

[2]*Ibidem*, p. 59.

But what is perhaps more important than all specific educational suggestions is the fact that Montaigne represents the first great personality in the history of educational thought to have a completely autonomous and secular concept of man. In this respect he represents the climax of the trend, emerging during the Renaissance, to break out of the Christian dualism and put man completely on his own feet. Not that Montaigne was without interest in religion. In his youth he translated for his father, "the best father that ever lived," the *Theologia Naturalis* by Raimond de Sebonde, an interesting attempt to defend Christianity against the atheists by means of natural religion, without resort to the supernatural character of the revelation. Montaigne would have condemned any tendency to divorce education from the religious tradition. Yet his philosophy of education, as his total philosophy of man and life, is fundamentally independent of religious premises. Natural reason, experience, and philosophy serve for him as a sufficiently strong foundation for the conduct and thought of a moral and educated man. Had not Socrates, Aristotle, and Epicurus lived their admirable lives in this way? Religion was for Montaigne more a venerable convention than a necessity, as it was for most of the cultured Greeks.

The judgment on such a secular philosophy of life and education will depend on one's *Weltanschauung*. One group will consider the way from Saint Augustine and Thomas Aquinas to Montaigne as the beginning of man's liberation from the fetters of unnecessary magical concepts. For others, however, Montaigne's concept of human autonomy will mean nothing but the consummation of individualistic self-assertion and the arrival of man at a precipice from which he may suddenly fall into loneliness, despair, and the relativization of all values.

The New Method of Thinking

I. Francis Bacon

(1561–1626)

When the individualism of the Renaissance brought a new relation to the cultural tradition, ancient or Christian, man entered also into a new relation to nature. Only two years after Luther published his ninety-five theses and stirred up a whirlpool of feeling and fighting, one of the greatest universal geniuses of mankind, the Italian Leonardo da Vinci, died at the Castle of Cloux near Amboise. He left a mass of manuscripts which later generations considered *ghiribizzi*, strange products of the artist's inexhaustible imagination but unworthy of attention. Only modern historians discovered that they contained notes of a man whose urge toward observation had led him to anticipate some of the most important discoveries in optics and the science of perspective, in mechanics and statics, as well as in medicine and engineering.

Another contemporary of Luther, Nicolaus Copernicus, mathematician, astronomer, lawyer, and physician, dissatisfied with the mathematical complexity of the Ptolemaic theory, read in Cicero and Plutarch that some ancient philosophers had advocated a heliocentric theory. In the dedication of his work *De Revolutionibus Orbium Coelestium* (1543) to Pope Paul III, he tells us that:

Starting thence I began to think of a motion of the earth, and although the idea seemed absurd, still as others before me had been permitted to assume certain circles in order to explain the motions of the stars, I believed it would readily be permitted me to try whether in the assumption of some motion of the earth better explanations of the revolutions of the heavenly spheres might not be found. And thus I have, assuming the motions which I in the following work attribute to the earth, after long and careful investigation, finally found that when the motions of the other planets are referred to the circulation of the earth and are computed

for the revolution of each star, not only do the phenomena necessarily follow therefrom, but the order and magnitude of the stars and all their orbs and the heaven itself are so connected that in no part can anything be transposed without confusion to the rest and to the whole universe.[1]

Three years before the beginning of Luther's Reformation, Andreas Vesalius was born in Brussels. He became professor at some North Italian universities which were then the center of mathematical and medical research In co-operation with certain painters, among whom was Titian's famous pupil Jan Stephan Calcar, he composed the first scientific work on anatomy, *De Humani Corporis Fabrica*, published at Basel in 1543. It was one of the great masterpieces of exact observation and gave a new turn to the science of medicine, which so far had been dependent on ancient tradition. Now it began to build on an empirical foundation.

The great scientists of the time were interested not merely in the objects of their research. As the explorer of a new country knows the value of examining every new stretch of land before venturing ahead, so the scientists of the Renaissance were conscious of the effect of right method on the quality of their work. Logic, though in a primarily deductive form, had already been one of the most ardent pursuits of medieval scholars, particularly of the nominalist William of Occam, whose influence reached far into the humanist period. This urge to reflect upon itself, characteristic of all mature reasoning, became all the stronger in the scholars of the sixteenth and seventeenth centuries, who knew that they were going to lead the world into a new period of thought. In their fight against the "scholastic method," they even exaggerated the contrast more than was historically correct. For the rise of empirical interests was not in complete contrast to the Middle Ages; also in this respect it is better to speak of an evolutionary development than of a revolution. Leonardo's and Galileo's studies on mechanics, to

[1]Nicolaus Copernicus: *De Revolutionibus Orbium Coelestium*, Nurnberg, 1543. Cf. John Herman Randall, *The Making of the Modern Mind*, revised edition, p 228. Houghton Mifflin Company, Boston, 1940.

mention only one example, were decisively influenced by John Buridan of Bethune, who was rector of the University of Paris in the year 1328.[1]

Thus we find, in the period of the Renaissance, parallel to the rapid development of the sciences, a similar blossoming of a philosophy of method or "methodology"

This fact explains why, side by side with the inductive and experimental approach, represented by the natural sciences, medicine, and engineering, we find a more deductive method of discovering the laws of the universe, represented by the great philosopher-mathematicians Descartes, Leibnitz, and Kant. Copernicus himself approached the problem of the mobility of the earth not in an observatory with telescopes, but in his study, surrounded by manuscripts filled with abstract computations.

But the two forms of thought, the inductive and the deductive, did not and cannot always run apart. Even the most experimental mind cannot dispense with fundamental premises of correct thinking, mathematical axioms, and principles of collecting and organizing the wealth of data. On the other hand, even the most abstract thinker will attempt to relate his thought to experience. Therefore, in the really great intellects it is much more a matter of degree in emphasis than of essence whether they lean more toward one or the other side, and sometimes even this cannot be clearly stated.

The combination of philosophical and scientific method can be shown in the works of the two thinkers who have exercised the most decisive influence on the development of modern philosophy and education, Francis Bacon (1561–1626) and René Descartes (1596–1650). The first of the two, Bacon, is, as a philosopher, characteristically English in his emphasis on empiricism, whereas Descartes represents more the rationalistic trend prevailing in the Continental philosophy of the sixteenth to the eighteenth century.

[1]Cf. Pierre Duhem, *Études sur Léonard de Vinci*, troisième série, pp. 54–112. Paris, 1913 See also Ernest A. Moody, "John Buridan on the Habitability of the Earth," in *Speculum, a Journal of Mediaeval Studies* for October, 1941, Vol. XVI, pp. 415–425.

Yet Bacon speculated about the inductive method rather than pursue it, while Descartes speculated about abstract problems but wrote his name also into the annals of physics and applied mathematics.

Two great purposes are the inspiring motives of Bacon's work: one is to "make a small globe of the intellectual world",[1] the other is to develop a reliable inductive method of research designed to help man subject nature to his will. All previous philosophical and scientific attempts, according to Bacon, were to be condemned as guesswork, because they accepted uncontrolled premises as the foundation from which to start. Perhaps nothing shows more clearly the change of attitude from the Middle Ages, or even from the time of Erasmus, toward empiricism than the disdain which Bacon displays for Aristotle and the Greeks in general:

> . . . for they certainly have this in common with children, that they are prone to talking, and incapable of generation, their wisdom being loquacious and unproductive of effects.[2]

So the exaggerated veneration for Antiquity has suddenly changed into contempt, though even the slightest perusal of Bacon's own work shows how much he owes to the ancients There are many pages in his *Novum Organum* that refer to one or the other of them, either implicitly or explicitly But modesty was never a characteristic of Sir Francis Bacon.

Bacon does not reject the deductive method completely. He calls it "Anticipation of the Mind" and believes that it may serve as a way for the "*cultivation* of the sciences." But the method by which alone one can determine "the degrees of certainty," or which, in other words, serves "for the *discovery* (the italics are the author's)

[1]Bacon· *The Advancement of Learning,* edited by William Aldis Wright, fifth edition, p. 268, Book II, end of Chap. xxv. Oxford University Press, New York, 1920 Cited in the following as· *Adv. of Learning.*

[2]Francis Bacon: *Works,* with a life of the author by Basil Montagu· *Novum Organum* Book I, Aphor. lxxi, Vol III, p. 354. Carey and Hart, Philadelphia, 1842. Cited in the following as. *Novum Organum.*

of sciences," is "Interpretation of Nature "[1] This is the method by which man may master his environment.

> Knowledge and human power are synonymous, since the ignorance of the cause frustrates the effect. For nature is only subdued by submission, and that which in contemplative philosophy corresponds with the cause, in practical science becomes the *rule*.[2]

Unfortunately, the establishment of "degrees of certainty" is hindered not only by defects of method but by a more general fault, namely, man's adherence to "idols and false nations "[3] Four classes of idols "beset the human mind."[4] The "idols of the tribe are inherent in human nature, and the very tribe or race of man."[5] Our senses often deceive us, our "mind resembles those uneven mirrors, which impart their own properties to different objects, from which rays are emitted, and distort and disfigure them."[6]

The second class of idols, those of the "Den"·

> . . . are those of each individual. For everybody (in addition to the errors common to the race of man) has his own individual den or cavern, which intercepts and corrupts the light of nature; either from his own peculiar and singular disposition, or from his education and intercourse with others, or from his reading, and the authority acquired by those whom he reverences and admires, or from the different impressions produced on the mind, as it happens to be preoccupied and predisposed, or equable and tranquil, and the like: so that the spirit of man (according to its several dispositions) is variable, confused, and as it were actuated by chance; and Heraclitus said well that men search for knowledge in lesser worlds, and not in the greater or common world [7]

The third species of idols is that of the "market." They express themselves in words, concepts, and judgments which "throw every

[1] The quotations are from the Preface to the second part of the *Novum Organum*, Vol III, p. 343 f

[2] *Novum Organum*, Book I, Aphor. iii; Vol III, p. 345

[3] *Novum Organum*, Book I, Aphor. xxxviii; Vol. III, p. 347.

[4] *Novum Organum*, Book I, Aphor. xxxix, Vol III, p. 347.

[5] *Novum Organum*, Book I, Aphor. xli; Vol III, p 347.

[6] *Novum Organum*, Book I, Aphor xli, Vol. III, p. 347

[7] *Novum Organum*, Book I, Aphor xlii; Vol. III, p. 347

thing into confusion," because they spring simply from the vulgar "commerce and association of men with each other,"[1] not from the desire for clear definitions.

The last group of idols, the "Idols of the Theater" have crept into men's minds from the various dogmas of peculiar systems of philosophy, and also from "the perverted rules of demonstration." Here Bacon alludes to the power exercised over men by systems and sects of thought or by "many elements and axioms of sciences, which have become inveterate by tradition, implicit credence, and neglect."[2]

One could call Bacon's description of the "four idols" the first Declaration of Independence, a declaration of a character as fundamental as any political statement can be, though it is, like all great ideals, as unattainable to man as it is eternal in its demand upon him. Bacon himself never lived up to it. In his scientific work he failed to acknowledge the value of the Copernican hypothesis, of Kepler's new astronomy, of Vesalius' anatomy, of Gilbert's discoveries on magnetism, and of Harvey's experiments on the circulation of the blood, though he was himself among the private patients of the great physiologist. In his personal and official life he showed a vexing mixture of great and mean ambitions, and he indulged in that robust dualism between religious belief and skepticism which has contributed much to our modern talent for hypocrisy. Certainly his famous essays are masterpieces in the art of shrewd and clever sayings, and quite a few of them are even profound. But a civilization adopting their spirit fully as its own, though perhaps becoming rich and powerful for a time, would eventually collapse, for it would breathe in the atmosphere of veneration of utility and success, but not of real greatness.

How great is Bacon's influence on educational method proper? It is not different from his influence on science: directly, he has contributed nothing, but indirectly he has contributed much, perhaps even more in education than in the sciences. The scientists

[1]*Novum Organum*, Book I, Aphor. xliii, Vol. III, p. 347.
[2]*Novum Organum*, Book I, Aphor. xliv; Vol. III, p. 347.

did not pay much attention to Bacon's work; they found that his method of induction was too mechanical to be productive. But among the great educators there was one who listened to Bacon, though it is difficult to measure how much he really owes to him and how much to his own genius. This is John Amos Comenius, the most comprehensive and systematic among the educators of the seventeenth century. About his work we speak later.

Bacon himself expresses his ideas on methods of teaching particularly in the *Advancement of Learning* There is a chapter on "Pedantical Knowledge"[1] in which he speaks of the "timing and seasoning of knowledges"; of the method of beginning sometimes with the easiest, and of pressing sometimes "the more difficult, and then to turn them [the pupils] to the more easy"; of "the application of learning according unto the propriety of the wits"; and, finally, of "the ordering of exercises." These paragraphs contain nothing that could not be found in many educational treatises of the time. Nor do the more elaborate chapter on pedagogy in *De Augmentis*[2] and the essay *Of Studies*[3] contain more of interest except that they express Bacon's admiration of the Jesuit schools and the "collegiate system" in contrast to the tutorial education customary in the upper classes of the time, and his appreciation of the newer humanities, such as modern languages, in contrast to the older classical curriculum. Thus the spirit of the new period extends its influence to the curriculum.

[1]*Adv. of Learning,* Chap. XIX, 2, p. 182 f. *Pedantical* is used in the older sense of "pedagogical."

[2]Francis Bacon: *Works,* collected and edited by James Spedding, Robert L Ellis, and Douglas D. Heath, 15 vols. Houghton Mifflin Company, Boston, 1904 See Vol II, p. 492 f *De Augmentis,* Book VI, Chap IV.

[3]*Ibidem,* Vol. XII, pp. 252 ff.

II. René Descartes

(1596–1650)

Descartes' fundamental philosophical experience is of a depth and radicalness which the versatile mind of Bacon never reached, namely, doubt in any sort of human certainty.

I do not know that I ought to tell you of the first meditations there made by me, for they are so metaphysical and so unusual that they may perhaps not be acceptable to everyone. And yet at the same time, in order that one may judge whether the foundations which I have laid are sufficiently secure, I find myself constrained in some measure to refer to them. For a long time I had remarked that it is sometimes requisite in common life to follow opinions which one knows to be most uncertain, exactly as though they were indisputable, as has been said above. But because in this case I wished to give myself entirely to the search after Truth, I thought that it was necessary for me to take an apparently opposite course, and to reject as absolutely false everything as to which I could imagine the least ground of doubt, in order to see if afterwards there remained anything in my belief that was entirely certain. Thus, because our senses sometimes deceive us, I wished to suppose that nothing is just as they cause us to imagine it to be; and because there are men who deceive themselves in their reasoning and fall into paralogisms, even concerning the simplest matters of geometry, and judging that I was as subject to error as was any other, I rejected as false all the reasons formerly accepted by me as demonstrations. And since all the same thoughts and conceptions which we have while awake may also come to us in sleep, without any of them being at that time true, I resolved to assume that everything that ever entered into my mind was no more true than the illusions of my dreams. But immediately afterwards I noticed that whilst I thus wished to think all things false, it was absolutely essential that the "I" who thought this should be somewhat, and remarking that this truth "*I think, therefore I am*" was so certain and so assured that all the most extravagant suppositions brought forward by the sceptics were incapable of shaking it, I

came to the conclusion that I could receive it without scruple as the first principle of the Philosophy for which I was seeking.[1]

Certainly Descartes conceives of his experience of self-consciousness in much too intellectual a fashion; self-awareness is not the same as "thinking"; it is of a much more complex nature. Yet he deemed this experience sufficient to serve as the starting point for showing forth a "complete chain of truth,"[2] among which in particular was the dualism between body and soul, the idea of a perfect being, and of free will,[3] and his belief that notions endowed with the same clearness and distinctness as the idea of God must be true to the same degree.[4] Though the highly deductive character of these conclusions is contrary to Bacon, by some strange turn in Descartes' mind they lead him to beliefs not unlike those of the English philosopher. There are, so he argues, notions of similar aprioristic clarity as those of God; we are convinced, for example, that nature is not mere chaos, but operates according to certain laws. A way to understand these laws immanent in matter, space, and time is mathematics; there is no doubt in our minds that the modes of thought which help us to solve a mathematical problem are of absolute logical necessity.[5] Such mathematics, and particularly applied mathematics,[6] became central in Descartes' philosophical system.

But as soon as I had acquired some general notions concerning physics, and as, beginning to make use of them in various special

[1]*The Philosophical Works of Descartes*, rendered into English by Elizabeth S. Haldane and G. R. T. Ross. 2 vols. Cambridge University Press, England, 1912. By permission of The Macmillan Company, publishers, New York. See Vol I, pp. 81–130· *Discourse on the Method of Rightly Conducting the Reason and Seeking for Truth in the Sciences.* Cited in the following as· *Disc. on the Meth.*

[2]*Disc. on the Meth*, Part V, Vol. I, p. 106. Compare with this and with the following description of Descartes' philosophy his *Principles of Philosophy* in his *Philosophical Works (loco citato)*, Vol I, pp. 203–302 Cited in the following as: *Principles of Phil*

[3]*Principles of Phil.*, Part I, Prin. xxxix; Vol I, p. 234 f.

[4]*Disc. on the Meth.*, Part IV, Vol. I, p. 105.

[5]*Disc. on the Meth*, Part V; Vol. I, p. 106. Also, *Principles of Phil.*, Part I, Prin liv f. and lxxv; Vol I, pp. 241 f. and 252.

[6]*Disc. on the Meth*, Part VI; Vol I, p. 119.

difficulties, I observed to what point they may lead us, and how much they differ from the principles of which we have made use up to the present time, I believed that I could not keep them concealed without greatly sinning against the law which obliges us to procure, as much as in us lies, the general good of all mankind. For they caused me to see that it is possible to attain knowledge which is very useful in life, and that, instead of that speculative philosophy which is taught in the Schools, we may find a practical philosophy by means of which, knowing the force and the action of fire, water, air, the stars, heavens and all other bodies that environ us, as distinctly as we know the different crafts of our artisans, we can in the same way employ them in all those uses to which they are adapted, and thus render ourselves the masters and possessors of nature.[1]

So Descartes became convinced of the necessity of experiments. "They become so much the more necessary the more one is advanced in knowledge."

Like Bacon, Descartes also develops, at the end of the first part of his *Principles of Philosophy*, a theory of prejudices. He finds them in the errors of the senses to which we are particularly exposed in childhood when the mind is "so closely allied to body that it applied itself to nothing but those thoughts alone by which it was aware of the things which affected the body."[2] Furthermore, we unfortunately like the prejudices implanted in us during youth, and the mind shows a tendency "to fatigue itself when it applies its attention to the objects which are not present to the senses. . . . We are therefore in the habit of judging of these [objects], not from present perceptions, but from preconceived opinions."[3]

Descartes, notwithstanding his doubtful metaphysical premises, was a more productive scholar than Bacon. His mind was more open to the new astronomy and medicine than was that of the author of *Novum Organum*. In his *Dioptric* he contributed new ideas to the science of optics. Though his respect for pure mathematicians was not very great, he was one of the pioneers in this

[1]*Disc. on the Meth*, Part VI; Vol. I, p. 119.
[2]*Principles of Phil.*, Part I, Prin. lxxi; Vol. I, p. 249.
[3]*Ibidem*, Part I, Prin. lxxiii, Vol I, p. 251

discipline of thought. As a biologist he foresaw the problem inherent in the traditional theory of special creation, and he strengthened the scientific method through his attempt to reduce natural phenomena to the working of mechanical laws. Unfortunately, he disregards the principle of unity completely in his own psychology, which advocates a stern dualism between matter and mind and has caused more confusion and complication than real enlightenment, though one may grant that Descartes' radicalness in the dualistic interpretation of the soul-body relation has shown the predicaments inherent in the psycho-physical problem.

III. Galileo (1564–1642) and the Conflict Between Faith and Science

Such changes in mentality and knowledge as occurred in the period between Thomas Aquinas and Descartes inevitably convulsed the total relation of man to his spiritual tradition. Not only did the Protestants break with the Catholic Church, but the new form of empiricism was bound to conflict with both the Catholic and the Protestant clergy. In this attitude toward scientific research the Protestants were not very different from the Catholics, though the more individualistic character of Protestantism certainly paved the way for the modern concept of freedom of research. But this occurred often against, not according to, the intention of the average Protestant theologian

Many of the first pioneers of modern research became the victims of intolerance. Johann Reuchlin was prosecuted for his philological interests in the Hebrew language; Giordano Bruno was burned at the stake for his philosophical cosmology, Michael Serveto suffered the same fate in the Geneva of John Calvin. The anatomist Andreas Vesalius was sentenced for sorcery and was granted a pardon only on the intervention of Philip II of Spain, on condition that he undertake a pilgrimage to Jerusalem. On his homeward journey he was shipwrecked and died on the island of Zanthe. Copernicus preferred to present his heliocentric theory as a hypothesis; but when Galileo proved it empirically, the clash was inevitable. Hearing of the Italian's trial, Descartes preferred to destroy the manuscript of a book called *The World*, or *Cosmos*, to which he refers often in his later writings. It was probably an attempt at a comprehensive scientific theory of the universe.

It would be too narrow to explain these dark events in the history of our civilization merely as a result of the willful fanaticism of inquisitors. The inquisitors could not have exerted their influ-

ence had there not existed a terrific dilemma in the souls of many of their contemporaries. The two levels of their consciousness, the magical and the reasonable, were still unreconciled and worked against each other. Otherwise it would be inexplicable that astrology played such an important role that men of highest character and intelligence, such as the great French philosopher of government Jean Bodin, wrote a book on witchcraft,[1] and that a man like Comenius could several times in his life fall victim to false prophets. But—how far are we now?

One of the most impressive documents of the fight between reason and the bondage of dogmatism in this period of transition is a letter addressed by Galileo to the Grandduchess of Toscana.[2] Here Galileo refutes the attacks directed against his empirical proof of the Copernican theory, attacks which were launched against not only his ideas but also his personal qualities, especially his piety. Galileo answers these reproaches by expressing his respect for the authority of the Scripture, the sacred theologians, and the councils, but stating that there is an essential difference between theology and profane research. If theology—so he says—is called the queen of all sciences, this can be only in view of the sublimity and dignity of her pursuits, which aim at man's eternal blessedness. But it cannot be understood as a privilege of divines to talk with the pretense of authority on subjects foreign to their competence and knowledge. Therefore it would be against all laws of thinking if the teachers of astronomy were compelled to reject their own findings because the theologians consider them erroneous. In this way the scholars would be ordered:

[1]Jean Bodin, *De la Démonomanie des Sorciers*. Paris, 1580

[2]"Lettera a Madama Cristina di Lorena, Granduchessa di Toscana" (1615), in *Le Opere di Galileo Galilei*, Edizione Nazionale, Vol V, pp 309 f. Firenze, 1895. Cited in the following as *Opere*.

For an English translation see Thomas Salusbury's *Mathematical Collections and Translations*, published in 2 parts (London, 1661), Part I, pp 426–460· "The Ancient and Modern Doctrine of Holy Fathers, and Judicious Divines, Concerning the Rash Citation of the Testimony of Sacred Scripture, in Conclusions Merely Natural, and That May Be Proved by Sensible Experiments and Necessary Demonstrations," written to Christina Lotharinga. Cited in the following as: "Letter"

. . . not [to] see that which they see, and . . . not [to] understand that which they understand; but that in seeking, they find the contrary of that which they happen to meet with. Therefore before that this is to be done, it would be necessary that they were shewed the way how to make the Powers of the Soul to command one another, and the inferior the Superior; so that the imagination and will might, and should believe contrary to what the Intellect understands.

Immediately after these sentences, he implicitly refers to the scholastic theory of the twofold verity of faith and natural philosophy, and says:

I still mean in Propositions purely Natural, and which are not *de Fide* ("of Faith"), and not in the Supernatural, which are *de Fide.*[1]

Yet his confidence in the general power of truth again emerges:

If for the banishing this Opinion and Hypothesis [of Copernicus] out of the World, it were enough to stop the mouth, of one alone, as it may be they persuade themselves who measuring other's judgments by their own, think it impossible that this Doctrine should be able to subsist and finde any followers, this would be very easie to be done, but the business standeth otherwise: For to execute such a determination, it would be necessary to prohibite not only the Book of *Copernicus*, and the writings of the other Authors that follow the same opinion, but to interdict the whole science of *Astronomy;* and which is more, to forbid men looking towards Heaven, that so they might not see *Mars* and *Venus* at one time neer to the Earth, and at another farther off, . . . and many other sensible Observations which can never by any means be reconciled to the *Ptolomaick* System, but are unanswerable Arguments for the *Copernican.*[2]

Galileo was right. The Inquisition could force him to recant, but it could not prevent the Copernican theory from appearing in the textbooks of our children, whether Catholic or Protestant. Nobody in Galileo's time could anticipate that the greatest change of civilization would come not from the religious reforms with all their

[1]*Opere,* Vol. V, p. 326. "Letter," pp. 441 f.
[2]*Opere,* Vol. V., p. 328. "Letter," p. 443.

wars and conflicts but from the quiet work of mathematicians and scientists. Not even these men themselves foresaw the effect of their endeavors, for they did not expect two events which have molded our modern era: one, the immense scope of the application of the new sciences to technical invention; the second, the use of the method of the natural sciences to explain not only "matter" but also the mind and the total cosmos.

The climax of the hopes of this intellectual development was probably reached at the beginning of the twentieth century. Today we begin to see its limits. The "machine age," while lightening the fate of men in many respects, has made it harder in others. Furthermore, the validity of a universal application of the methods of the natural sciences to the great problems of the human race has been subjected to serious doubt. Whereas in the time of Galileo dogmatic theology, with its fear of empirical research, prevented man from following his vision of truth and progress, our generation suffers from the consequences of an empiricism which tries to belittle, as irrelevant or "unscientific," everything which cannot be demonstrated in the laboratory. The result is that many of us are nowadays as helpless and untrained in the spiritual sphere of life as medieval man was in the empirical.

If it is objected that modern scientists differ from medieval theologians in that they do not use an inquisition to enforce their arguments, this, fortunately, is correct. On the other hand, it must not be forgotten that the abandonment of the Inquisition was due not only to the sciences but also to a general cultural development of humanity. In this development theologians have taken just as much part as anybody else. Furthermore, other forms of intolerance have arisen, such as nationalistic chauvinism, idolization or contempt of races, and the deification of political doctrines. And each of these modern tempters of mankind dons a scientific cloak in order to cheat essentially decent but credulous individuals and peoples.

Help can come only from a reconciliation between religion and free research. The conviction of man's rootedness in a common

metaphysical ground, which is the essence of religion, must also be a part of the consciousness of the scientist, in order that he may identify himself with the common purposes of humanity. On the other hand, the defenders of the faith must not bring the scientist into a situation where he has to rebel against the interference of dogmatism. Physics and metaphysics must recognize that they are but two complements of man's full existence and that they offend each other the moment either trespasses on the other's province.

All this was well known to Plato, Descartes, Galileo, Leibnitz, Newton, and Kant. They all hoped that both religion and science could help man toward understanding himself and his part in nature and history. The spiritual and scientific unity of culture that still awaits us will thus be nothing more than the realization of an old dream, the dream of the best minds of mankind since the beginning of its slow ascent toward maturity.

The Awakening of the Middle Class Spirit

The Commonwealth Educators

It will always be difficult to delineate sharply the boundaries of historical periods. Whether we want to call a period of history an entirely new one or only another link in the endless chain of being will depend on our preference for the revolutionary or the evolutionary character of human civilization.

We have already discovered the difficulty of clear historical classification in respect to the relation of the humanist period to the Middle Ages. We meet this difficulty again in the attempt to set off the educational drift of the seventeenth century from the humanist period. Was the cultural ascendance of the middle class—characterized by the most central event of the seventeenth century, the English revolution of 1648—only the final effect of dynamic forces emerging in the Reformation and in the Renaissance? And were the educational ideas of Cromwell's followers only the natural consequence of the work of Luther, Melanchthon, and Calvin? We may well answer this question in the affirmative. On the other hand, if we lay stress on distinction, we may say that the humanist and Protestant movement of the sixteenth century developed largely under the protection of feudalism and absolutism, whereas the English revolution was republican in character.

Protestantism in Germany, made possible through the art of printing, was perhaps the first great mass movement which allowed the reformers to spread thousands of pamphlets over the country.[1] But those of the Protestant dissenters who tried to shake off not only the ecclesiastical but also the feudal yoke were suppressed

[1]See Louise W. Holborn, "Printing and the Growth of a Protestant Movement in Germany from 1517–1524," in *Church History* for June, 1942, Vol. XI, No. 2.

in Germany as well as in most of the other countries. Luther's reforms in the field of education, though individualistic in a way, were still embedded in the old Christian transcendentalism and were untouched by any empirical tendency. With respect to authority, both the humanist and the Protestant educators of the sixteenth century, in spite of their fights against Catholic institutionalism, were looking back toward Greek-Roman-Christian Antiquity as the central period of human history. Compared with this attitude, the mentality of the progressives of the seventeenth century shows definite signs of modernity. They believed in a "New Philosophy" which, springing from Bacon's work, was of a more empirical character than that of Luther, Calvin, or Erasmus.

This does not mean that the new educational attitude arose always from strictly scientific thinking. It would need a very liberal interpretation to attribute the epithet of science to such educational experiments as were proposed by the German Wolfgang Ratke, who died in 1635. Ratke represents the same state of development in the history of education that his alchemist contemporaries represent in the history of exact sciences. Yet the idea that the teacher should make use of the vernacular and could do more and better work in a shorter time by proper use of the natural rules of learning was the motivating element in Ratke's endeavors. Thus they mark the first awkward beginning of the development of educational method which we associate with the names of Comenius, Locke, Rousseau, Pestalozzi, Froebel, and Herbart. Without this development a really professional training of teachers would not have become possible, for any such training depends on the existence of scientifically elaborated and communicable methods.

In order to understand the new attitude of the seventeenth century educator, we must refer again, as in the section on "The New Method of Thinking," to the initial paragraphs in Bacon's "Aphorisms on the Interpretation of Nature and the Empire of Man" in the *Instauratio Magna*, which read:

Man, as the minister and interpreter of nature, does and understands as much as his observations on the order of nature, either

with regard to things or the mind, permit him, and neither knows nor is capable of more. . . . Knowledge and human power are synonymous, since the ignorance of the cause frustrates the effect. For nature is only subdued by submission, and that which in contemplative philosophy corresponds with the cause, in practical science becomes the *rule*.[1]

This conviction about the interconnection between knowledge of causes and effective action creates among the new educators an intense, though often dilettante, desire to investigate the quality of mental growth and learning and to apply the findings systematically to practical education. At the same time, we find a tendency to write big encyclopedias in order to make the increasing body of knowledge available to the learner. Bacon's attempt at composing a *Globus Intellectualis* is paralleled on the educational side by the endeavor of Comenius to create a *Pan-Sophia* in which all essential knowledge is well ordered and related to certain fundamental and uniting principles governing the divine-natural universe.

No group of educators in the seventeenth century was more eager to apply new methods and ideas than the dozen or so men who tried to use the political upheaval of the English revolution (1640–1660) for thorough reforms in the school system. Perhaps there was never another group of respectable people so radical in their educational aspirations as these men. One of these so-called Commonwealth educators, John Durie (1596–1680), wrote in his *Reformed School:*

The true and proper end of Schooling is to teach and Exercise Children and Youths in the Grounds of all Learning and Virtues, so far as either their capacitie in that age will suffer them to come, or is requisite to apprehend the principles of useful matters, by which they may bee made able to exercise themselves in everie good Employment afterwards by themselves.[2]

[1]*Novum Organum*, Book I, Aphor. i and iii; Vol. III, p. 345.

[2]John Durie, *The Reformed Librarie-Keeper*, with a Supplement to *The Reformed School*, p 4. London, 1650.

See also John William Adamson, *Pioneers of Modern Education*, 1600–1700, p. 152. The Macmillan Company, New York, 1921. Cited in the following as: Adamson.

Such an individualistic and practical concept of education leads naturally to certain consequences which we would nowadays denote by the term "guidance." So Sir William Petty (1623–1687), famous in the history of economics for his use of vital statistics, says in his *Advice of W[illiam] P[etty] to Mr. Samuel Hartlib for the Advancement of Some Particular Parts of Learning* (London, 1648), one of the most progressive works in the history of educational literature:

Boyes, instead of reading hard Hebrew words in the Bible (where they either trample on, or play with Mysteries) or parrot-like repeating heteroclitous nounes, and verbs, might read and hear the History of Faculties expounded, so that before they be bound Apprentices to any Trade, they may foreknow the good and bad of it, what will and strength they have to it, and not spend seven years in repenting, and in swimming against the stream of their Inclinations.[1]

In modern terms this means: arrange the process of learning and teaching systematically and adapt it to the growth, the mental abilities, the expanding interests, and the future work of the child. There also appear the first glimpses of the idea of "learning by doing." William Petty, in the work just mentioned, proposes common elementary schools, which he calls *Ergastula Literaria*, or Literary Workshops, for children of all social classes above the age of seven. For "many are now holding the Plough, which might have been made fit to steere the State."[2] In these *Ergastula Literaria* the children ought to be "taught to observe and remember all sensible Objects and Actions, whether they be Naturall or Artificiall. . . . All children, though of the highest ranke" ought to be "taught some gentile Manufacture" as turning, making of watches and mathematical instruments, engraving, etching, carving, gardening, the making of naval and architectural models, confection-

[1]*The Advice of W[illiam] P[etty] to Mr. Samuel Hartlib for the Advancement of Some Particular Parts of Learning*, p. 23. London, 1648. Cited in the following as Petty's *Advice*. See also Adamson, p. 135.

[2]Petty's *Advice*, p. 4. Adamson, p. 132.

ary, perfuming, and anatomical preparations.[1] The arts of drawing and designing ought to be introduced, since their use for "expressing the conceptions of the mind, seems (at least to us) to be little inferior to that of Writing, and in many cases performeth what by words is impossible."[2] Children also ought to use physical exercises "whether in work, or for recreation, as tend to the health, agility, and strength of their bodies."[3]

The whole period is filled with an intense optimism as to the effectiveness of the "new method" Everywhere books appear on inventions, on good husbandry, medicine, agriculture, manufacturing, and gardening. Holland and Flanders especially serve as examples to the English. Bacon expresses the technical and educational optimism in paragraph cxxii of the *Novum Organum.* The new inductive approach, he says, is of such a reliability that the difference of the "ingenia," that means of intellectual and imaginative talent, will no longer play any great part, *cum omnia per certissimas regulas et demonstrationes transigat* ("as it [the new method] achieves everything by the most certain rules and demonstrations"),[4] which each person can apply as properly as the other.

We know today that nature, especially the nature of man, is not prone to yield to bare methodical skill. Nor is the process of original reasoning and discovery so mechanical that it does not need imagination and genius. Nevertheless, this youthful enthusiasm of the first empirical generations for the power of systematic procedure served as an enormous incentive in the progress of natural science; it also paved the way for the gradual entrance of scientific subjects into the curricula of the schools and universities.

When so many things could be improved by the application of better methods, why not also the training of teachers? So the educators of the seventeenth century set out to carry through what such far-seeing men of the sixteenth century as Luther, Erasmus,

[1]Petty's *Advice*, p. 5 f. Adamson, pp. 133 and 134.
[2]Petty's *Advice*, p. 5. Adamson, p. 133.
[3]Petty's *Advice*, p. 4. Adamson, p. 133
[4]*Novum Organum*, Book I, Aphor. cxxii; Vol. III, p. 368.

and Duke Ernest of Saxe-Gotha had already thought of, namely, the institution of teachers' colleges. But it would be one-sided to ascribe this tendency exclusively to the rise of empiricism. The first systematic teacher of teachers was probably the Catholic priest Démia[1] of Lyon, who in 1680 founded an institution for the training of nuns in the art of teaching. He was followed in 1682 by Jean Baptist deLaSalle, and in 1696 by August Hermann Francke, with his *Seminarium Praeceptorum* at Halle. Probably none of these men acted under the direct influence of Bacon or any of the leading natural scientists, though Francke at least was deeply interested in the natural and applied sciences and established laboratories in connection with his schools. These pioneers, who were religious men, intended to apply the gospel of Christian brotherhood to the upbringing of poor youth. Nevertheless, even they prove that a methodical tendency penetrated more and more the minds of men, irrespective of the source from which it received its impulse.

In combination with the methodical attitude, a concept of the aim of education developed which was decidedly different from the humanist attitude of the sixteenth century. It was the idea of usefulness and reality as a criterion of good education A new educational vocabulary arose; no longer was it *pietas et eloquentia*, but "usefulness," "reality," "things instead of words." And this change of criteria occurred not only in the works of liberal-minded laymen but also in those of the clergy.

The trend toward application was closely related—particularly in England—to the growing influence of the new business and bourgeois class. If we read the works of men like Hartlib, Petty, and Durie, we are rightly surprised by the straightforwardness with which they want to direct education toward useful purposes. Nevertheless, the religious tenor which permeated their thinking was not merely a relic of a reverential past, a cloth worn for decorative purposes around a withering body. These men felt—here

[1]*Nouveau Dictionnaire de Pédagogie et d'Instruction Primaire*, publié sous la direction de F Buisson, p. 459. Paris, 1911.

also emerges the empirical trend of the time—that religious ideas are not worth much unless they change people and their dealing with each other toward the better. Thus work, politics, and education, if performed in a Christian spirit, became as sacred as, or even more sacred than, contemplation and mere inwardness.

If one wishes to understand the atmosphere of that time, he must read its Utopias. They emerge in the most diverse camps of thought and cover a relatively long period. The Catholic humanist Thomas More, as well as the Protestants James Harrington and Johann Valentin Andreae, picture cities of God realized here on earth; Bacon and, finally, Hartlib project a scientifically engineered city of men; and around the campfires of the Cromwellian army the Puritan soldiers forge their Christian democratic manifestos.

In such a time education must develop a practical social philosophy. The Hussites, the Lutherans, and the Calvinists in Geneva had already incorporated education in their planning. Some of the humanists had done similarly; and about a hundred years before the Commonwealth revolution, Sir Thomas Elyot in his *Boke Named the Governour* had told the English noblemen that only those have the right to rule who show the highest degree of social and cultural responsibility.

In the middle of the seventeenth century the interconnection of education and society becomes clearer than ever. Milton (*Of Education*, 1644) wants the school to be the spring from which the new religious republicanism flows, though he differs from his Commonwealth friends through his ardent humanism. He stresses the necessity of a wide classical and linguistic training to such a degree that one cannot but fear that most pupils undergoing such a training would get helplessly stuck in verbalism and not receive what Milton wishes them to have: "a complete and general education, which fits a man to perform justly, skillfully, and magnanimously all the offices, both public and private, of peace and war."

But, whatever we may think about the means which Milton chose for attaining his aims, he as much as his friends, and perhaps even more, represents a new ideology. In the Middle Ages and

during the Reformation education is demanded because it helps the individual to understand the sacraments and the Bible and thus to save his soul. Milton and his friends demand education for the same reason, but also because it helps the citizen to understand the tasks and problems of his nation and to participate, as a free man, in its government.

With this new attitude education receives necessarily a new and more comprehensive meaning in its relation to the body politic. Nations represented by the citizens, and not only by kings and governments, become aware of their historical destiny and begin to consider themselves the bearers of the divine mission which God has given to humanity. This new national self-consciousness serves as a powerful patriotic impulse; it is also culturally productive as long as nations conceive of their role in terms of service for a great human and religious ideal. However, with growing might and wealth, imperialistic interests are sometimes substituted for the idea of humanity. The moment this narrowing of the concept of national destiny takes place, national power in itself becomes the cause and goal of political action and uses the patriotic impulse of men for destroying the supernational unity of mankind. We are now in a stage of history when this process has reached its most catastrophical form and thrown our civilization into a crisis from which only a new realization of the real purposes of men and nations can save us.

To Milton the new republican relation between man and society appears as an active and deeply ethical responsibility of the individual to his government. Government no longer incorporates divine authority to which man has to submit; every citizen has the right and the duty to make his own social effort. He is challenged by God Himself to help in the great purpose of organizing a dignified and productive Christian society. Thus the old dualism between the Kingdom of God and the kingdoms of earth begins to relent. The religious sphere penetrates the political; but, as we have already seen, there is always the danger that the political sphere may absorb the religious.

Religiously inspired republicanism motivated the English Puritans to become revolutionaries, to execute first their ecclesiastical suppressor, Archbishop Laud, and then, in 1648, their monarch Charles I, "by the grace of God King of England, France and Ireland, defender of the faith," etc. It is deeply symbolic of the historical situation that the defense of the king does not attempt to vindicate the monarch in terms of legal argumentation. It consists merely of a principal denial of the right of jurisdiction of a civil court over His Majesty's sacred Government. Two worlds meet here—transcendent absolutism and the self-assertion of the new citizen who also claims political rights of religious sanction At the same time, the House of Commons proposes to employ property of the Church for "the advancement of Learning and Piety" and deliberates on the possibility of supporting the new political system by adequate educational measures. Behind the scene Samuel Hartlib, John Durie, and their friends work to make education a part of the revolutionary Commonwealth. They invite John Amos Comenius to come to England to give his advice. It is not their fault, but the consequence of the unrest which goes with revolutions, that their great plan of a democratic educational system tinged with strong vocational tendencies was not realized. After 1660 the political and ecclesiastical restoration swept away not only the Cromwellian republic but with it the ideal of a progressive education for the large masses of the English citizenry.

We may rightly say that an idea has not much worth before it is realized. The educational ideas of the Commonwealth suffered the fate of the political aspirations of the whole Cromwellian period. Both were crushed by reactionary forces; yet their external failure could not extinguish their inherent strength. But no new phase can emerge in human history without an idea serving as its usher.

The land where the spirit of religious republicanism found an outlet was North America. Before the outbreak of the Great Revolution, a group of English Puritans had exchanged Old England for New England to avoid the pressure of political and religious

absolutism. Economic considerations, as well as the dream of a new Kingdom of God, were in the minds of the settlers. Had they not been endowed with such a spirit, they could not have written the famous lines in one of the early New England pamphlets, *New England's First Fruits*, published in London in 1643:

> After God had carried us safe to New England and we had builded our houses, provided necessaries for our livelihood, reared convenient places for God's worship and settled the Civill Government: One of the next things we longed for, and looked after was to advance Learning, and perpetuate it to Posterity; dreading to leave an illiterate Ministery to the Churches when our present Ministers shall lie in the Dust.[1]

And what else is the spirit of the Declaration of Independence and of the Bill of Rights but the final realization of the ideas of the Commonwealth educators within the political life of a new nation?

[1] *New England's First Fruits; with Divers Other Special Matters Concerning That Country.* (Sabin's Reprints, Quarto Series, No. VII), p 23 New York, 1865

John Amos Comenius

(1592–1670)

Comenius' Personality

Almost every educational idea of Comenius can be found in some other great thinker: in Plato and Aristotle; in Cicero, Plutarch, and Quintilian; in the Church Fathers; in the mystic philosophy of Master Eckart; in the Spanish neoscholastic and humanist educator Juan Luis Vives; and in Erasmus of Rotterdam; not to mention Francis Bacon and the English reformers described in the previous section. Had Comenius employed all this already existing knowledge only in the manner of a skillful and orderly eclectic, he would not deserve the honors given him as one of the great pioneers, if not the greatest pioneer, of modern education. What makes him outstanding is the fact that he combines an unusual degree of susceptibility to foreign influences with an equally strong faculty of systematic integration. This faculty is fundamentally different from mere imitation. It enriches itself through contact with the ideas of other people, but it does not spring from them. The ultimate source of creativeness in men like Comenius is their personal intuition, observation, and imagination. This individual strength and originality in the productive genius gives also a particular depth and color to everything he says. He sheds new light on even the simple things he deals with, and later generations are inspired by his words, even if their factual content has already become a common cultural possession.

Like many of the great men of the seventeenth century, Comenius was able to combine in his mind ideas which to many of us seem logically exclusive. There is first his mysticism. He belonged to the Moravian pietists, followers of the Bohemian martyr John Huss, who was burned as a heretic in 1415 at the council of Constance. Comenius' religion brought him close to the Lutheran as well as to the Calvinist Protestants; but in many respects he was

closer to the mysticism of Master Eckart or Nicolaus Cusanus than to the argumentativeness of the Lutheran or Calvinist professors. His religion was of the optimistic, to some degree pantheistic, type. It considered man and all nature to be permeated by God's spirit, hence it was less dualistic than orthodox Catholicism or Protestantism. Strangely enough, this religious attitude opened for Comenius an avenue into the empirical philosophy of Bacon; for if God had radiated both man and nature with his spirit, how could he object to man's eagerness to discover his eternal laws, not only in the human soul but also in nature? Like Bacon, however, Comenius applied the empirical method either insufficiently or not at all; to him it was still more a thought and a desire than a thoroughly penetrating principle. He often confuses—particularly in his main pedagogical work, the *Great Didactic*—mere analogies with causal relations; in his private life as well as in his role as a bishop of his scattered Community of Brethren, he sometimes falls prey to all kinds of superstition. It was, after all, a time when spirits and demons were still considered real beings, and when otherwise sensible people hunted witches. As a Moravian Brother, Comenius was imbued with a strongly democratic concept of Christian life; membership in the Church carried with it equal rights within the body politic. This attitude brought him into kinship with the English dissenters both in Britain and on the New Continent. On the other hand, Comenius did not despise the scholastic learning; he had no prejudices against Aristotle, nor against the Spanish Catholic Juan Luis Vives, from whose psychology he learned much. To what extent Comenius was at home in the world of the humanists it is difficult to say. He appreciated the wisdom of the ancients, but Greek and Latin to him were instruments, not ends—his own Latin had more medieval character than humanist elegance; and when he felt that classical authors had offended Christian morality, he condemned them, irrespective of the aesthetic quality of their writings.

The greatest power which worked on his thinking was his own life. He began his career quietly as a teacher and minister in

Moravian communities; but when he was twenty-six years of age, the Thirty Years' War broke out. Shortly after its beginning, in November, 1620, the Protestant Bohemians lost the battle of the White Mountain Their leaders were executed and, under the auspices of the House of Hapsburg, Pope Paul V, and the Jesuits, there began a most cruel persecution of the non-Catholics in the southern parts of the German Empire. Thus Comenius became an emigrant for the rest of his life. For some time he took refuge at the estates of his compatriot friends; then he lived as a schoolmaster and writer in Poland, where he was elected bishop of the Moravian Brethren. In 1638 the Government of Sweden invited him to work out a plan for the organization of its school system. In 1641 Hartlib invited him to come to England. Because of the Revolution, he left England for Holland, went again to Sweden, and finally died at Amsterdam His manuscripts and books were lost in besieged cities and burning houses.

Though he expressed much sadness on account of the deplorable state of Europe, Comenius never allowed bitterness and hatred to creep into his soul. His religious convictions, together with his experiences in many different countries, helped him to become a citizen of the world. Of course, he loved his native land and worked for its restoration; but he wished it to be a part of a great Christian human community. In this respect one might compare Comenius with Erasmus of Rotterdam, if it were not for one essential difference. Whereas Erasmus despised national peculiarities and national languages, Comenius was convinced of their value; his internationalism was not a sign of uprootedness and vague cosmopolitanism, but was the result of a love and understanding which embraced both nations and the unity of mankind as necessary parts of an organic Christian culture.

Comenius' Educational System

All these influences and experiences are melted by Comenius into his educational philosophy. This can be found in his *Great Didactic*, 1632, which was first written in Czech and later pub-

lished in Latin as a part of his *Opera Didactica Omnia*, 1657, in his *Via Lucis* ("The Way of Light"), and in many of his minor educational writings

Let us speak first of the aims he sets forth as inherent in the process of education. In Chapter II of the *Great Didactic*, he says.

All our actions and affections in this life show that we do not attain our ultimate end here, but that everything connected with us, as well as we ourselves, has another destination. For whatever we are, do, think, speak, contrive, acquire, or possess contains a principle of gradation, and, though we mount perpetually and attain higher grounds, we still continue to advance and never reach the highest.[1]

This is a clear expression of the mystical thought which came from Neoplatonism, rose again in the philosophies of the medieval and humanist mystics, found a more modern philosophical form in the systems of Leibnitz, Hegel, and Schelling, and finally reached its empirical version in Darwin's theory of evolution. According to Comenius, life is in a continual state of development toward the divine, each inferior state contains the potentialities of a higher development, and the higher contains the lower. So the world is a purposeful and dynamic universe, with man at the head of all creatures, because he is able to understand the work of God and is his image.

In the history of education we find Comenius labeled as the first sense-realist. This label is erroneous if it relates to Comenius' basic philosophy, which is mystical and religious and the very opposite of modern empiricism. But it is not incorrect if related to parts of his psychology and methodology of learning.

Comenius distinguishes three stages of preparation of man for his eminent role in the natural and divine universe. In Chapter IV of the *Great Didactic* he says:

[1]*The Great Didactic of John Amos Comenius*, translated into English and edited by M. W. Keatinge, in 2 vols.; Vol. II, p 28. A and C. Black, Ltd , London, 1921–1923 By permission of The Macmillan Company, publishers, New York. This edition is cited in the following as· *Great Didactic.*

Man is situated among visible creatures so as to be

(i) A rational creature

(ii) The Lord of all creatures

(iii) A creature which is the image and the joy of its Creator.

These three aspects are so joined together that they cannot be separated, for in them is laid the basis of the future and of the present life.[1]

From these premises certain consequences follow for education. In order to assume his rational function in the world, man must be "acquainted with all things." In order to dominate all creatures, man must become endowed "with power over all things and over himself"; and to prepare him for his religious mission, education must teach man "to refer himself and all things to God, the source of all." So education has three main tasks: erudition which aims at man's reason, moral education which aims at man's character and independence, and piety which aims at his understanding of God.

All this is still traditional thought, to be found in similar versions among medieval or humanist philosophers. But the realistic tendency, as well as the psychological interests of Juan Luis Vives, emerge the moment Comenius sets out to explain the ways in which education should help man to materialize the three states of his rational-moral-divine nature. For there Comenius adopts in the interest of education the Baconian idea that one must obey nature in order to master it; but at the same time he combines it with the ethical-philosophical conception of nature as it had come down to him from Cicero and Seneca, and from scholastic philosophy. Comenius says, in Chapter V of the *Great Didactic*:[2]

By the word *nature* we mean not the corruption which has laid hold of all men since the Fall . . . but our first and original condition, to which, as to a starting point, we must be recalled. It was in this sense that Ludovici Vives said "what else is a Christian but a man restored to his own nature, and, as it were, brought back to

[1]From *Great Didactic*, Chap. IV, § 2; Vol II, p. 36 By permission of The Macmillan Company, publishers, New York.

[2]*Ibidem* Vol. II, p. 40. By permission of The Macmillan Company, publishers, New York.

the starting-point from which the devil has thrown him?" (Liber I, *De Concordia et Discordia.*[1])

This combination of the Baconian-empirical and the Stoic-Christian concept of nature must always be remembered if we want to understand Comenius' system of teaching. The Baconian-empirical principle clearly comes to the fore when Comenius develops his ideas of teaching and learning *secundum naturam,* which means "according to the order of nature" inherent in man's mind and its physical environment. The philosophical-ethical Christian principle appears in his emphasis on sources of inspiration and wisdom which man can draw on because his nature not only is a system of deterministic relationships but is embedded in the divine.

His principles of educational method are for Comenius as certain as the metaphysical sources of education. He believes that science —as he understands it—can serve as "an immovable rock" on which "the method of teaching and of learning can be grounded." In Chapter XVI he says:

> Hitherto the method of instruction has been so uncertain that scarcely anyone would dare to say: "in so many years I will bring this youth to such and such a point; I will educate him in such and such a way." We must therefore see if it be possible to place the art of intellectual discipline on such a firm basis that sure and certain progress may be made . . . by assimilating the processes of art as much as possible to those of nature.[2]

In pursuing this aim, Comenius develops principles which, in his opinion, help man to achieve physical and mental health, to prolong his life, and to find the universal conditions of teaching and learning which guarantee facility, thoroughness, conciseness, and rapidity in both intellectual and moral education.

We are here particularly interested in what we would call today

[1]Joannis Lodovici Vivis [*sic*], *De Concordia et Discordia,* Vol. I, Fol C(r). Lugduni, 1532.

[2]From *Great Didactic,* Chap. XVI, § 4 f.; Vol. II, p. 112. By permission of The Macmillan Company, publishers, New York.

the principles of teaching. They are to be found in § 2 of Chapter XVII of the *Great Didactic*, where Comenius says:

Following in the footsteps of nature, we find that the process of education will be easy

I. If it begin early, before the mind is corrupted
II. If the mind be duly prepared to receive it
III. If it proceed from the general to the particular
IV. And from what is easy to what is more difficult
V. If the pupil be not overburdened by too many subjects
VI. And if progress be slow in every case
VII. If the intellect be forced to nothing to which its natural bent does not incline it, in accordance with its age and with the right method
VIII. If everything be taught through the medium of the senses
IX. And if the use of everything taught be continually kept in view
X. If everything be taught by one and the same method.

These, I say, are the principles to be adopted if education is to be easy and pleasant.[1]

Certainly the way through which Comenius arrives at these principles—namely, through analogies instead of scientific investigation—could not be called empirical today. Yet, in spite of all methodical dilettantism, Comenius' profound intuition into human growth helped him to formulate the first classical laws of teaching. After the rationalists of the eighteenth century had slighted all of Comenius' work except his textbooks, a Pestalozzi and a Herbart were needed to discover anew the foundations of educational method in order to base on it a systematic organization of modern public education.

The reason for the eighteenth century contempt for Comenius was the aversion of the enlightened Voltairians for Comenius' mystical religion and his belief in all kinds of miracles and prophets. But such superstitions he shared with almost all other great men at the time of the Thirty Years' War. Still, his belief that one

[1]From *Great Didactic*, Chap. XVII, § 2; Vol. II, p. 127. By permission of The Macmillan Company, publishers, New York.

cannot sufficiently explain the nature and meaning of life by strict logic and inductive science, but must have recourse to metaphysics, represents an attitude of mind for which modern thought has again acquired more understanding than did the French encyclopedists of the eighteenth century It seems a symbolic act of history that the great representative of mystical thought, Comenius, was allowed to meet and exchange views with the great representative of rationalist thought, René Descartes In 1642 Comenius paid a visit to the French philosopher at his residence near Leyden. They realized the essential difference in their thought.[1] Descartes was convinced that philosophy should be built exclusively on certain rational principles; Comenius maintained that all human knowledge is "imperfect and defective" and that man, in order to grasp the eternal verities and to acquire inner certitude, must resort to a power above his own reason, namely, to divine inspiration. They "parted in friendly fashion" and apparently with a profound feeling of mutual sympathy; Comenius says in his notes, "I begging him to publish the principles of his philosophy[2] and he similarly urging me to mature my own thoughts, adding this maxim· 'Beyond the things that appertain to philosophy I go not; mine therefore is that only in part, whereof yours is the whole.' "[3]

THEORY AND APPLICATION

As Comenius was a writer of textbooks and in this quality known to later generations even when his educational philosophy was forgotten, we may question to what extent he proved himself capable of applying his own ideas in practice.

There is one work of Comenius' which, up to the beginning of the nineteenth century, made his name known the world over—

[1]*Continuatio Admonitionis Fraternae de Temperando Charitate Zelo,* Joh. Comenii ad S. Maresium, § 59. Amsterdami, 1669. Anna Heyberger, *Jean Amos Comenius (Komenský), sa Vie et son Oeuvre d'Éducateur,* p. 64 Paris, 1928 Robert Fitzgibbon Young, *Comenius in England,* p. 49. Oxford University Press, New York, 1932.

[2]These principles were published as *Principia Philosophiae* in Amsterdam in 1644.

[3]Robert F. Young, *Comenius in England,* p. 50.

his *Orbis Sensualium Pictus.* It represents an attempt to combine the learning of foreign languages with visual education and an introduction of the pupil to civilization. A picture heads every section, and the words beneath it refer to the details to be seen in it. Goethe says in his autobiography that the only book for children in his youth was Amos Comenius' *Orbis Sensualium Pictus.* The idea was not entirely new. Before Comenius there had existed books which tried to combine learning with illustration, for example, the *Ars Memorativa,* which was printed at Augsburg in 1477. But Comenius proceeded more systematically and comprehensively than had his predecessors. In addition, the time was ripe for such a combination of the *humaniora* with the *realia.*

The *Orbis Pictus* is not a full application of Comenius' own principles of education, however. The first picture, representing the idea of God, is the most abstract in the whole book and certainly does not conform to Comenius' demand that the child should be led from the known and concrete to the more remote and difficult—though we may admit that for Comenius the idea of God had the greatest reality of any in his life. Furthermore, if Comenius had followed his principle of activation, he might have invited the children to interpret the pictures themselves, instead of presenting them with a description in words

Yet in comparison with the other textbooks written by Comenius, the *Orbis Sensualium Pictus* is by far the closest realization of his own theory. His famous *Janua Linguarum* ("Gate to Languages") represents perhaps some slight progress over the typical Latin textbooks of the time, but it relies completely on a rather dull form of memorization. The 1650 London edition of the *Janua Linguarum Reserata* and the other known editions contain merely a series of alphabetically arranged Latin sentences with English translations. In each sentence Comenius uses primarily nouns and verbs which begin with one and the same letter, in the hope that such an alphabetical arrangement would give the child sufficient mental assistance in remembering all the nonsense the author is forced to compile in order to conform to his mechanical arrange-

ment. For example, the beginning of the *Janua Linguarum Reserata* of 1650 runs thus:

Januae Latinitatis Fundamentum	The Foundation of the Gate of Tongues
1. *Ab abdomine viscera abduntur, et ex abiete fiunt abaci.*	1. The entrails are hidden by the outward part of the bellie, and Dressers are made out of the firetree.[1]

Apparently it takes mankind a great length of time and effort before it learns to apply its more intuitive insights effectively. Often theory and practice are widely separated in one and the same person; in Comenius they are less widely so than is the case with other great pioneers of human thought. For though his textbooks, with the exception of the *Orbis Sensualium Pictus*, are disappointing, his plans for the organization of instruction and division of schools, as well as the general social applications he draws from his philosophy, show more practical courage and vision than are to be found in the works of many other theologians and educators.

His idea of the fourfold division of schools based on age and requirements is the one which, in spite of deviations in detail, the modern school system follows.

The whole period [of education] must be divided into four distinct grades: infancy, childhood, boyhood, and youth, and to each grade six years and a special school should be assigned.

I. For infancy	the school should be	The mother's knee
II For childhood		The vernacular School
III. For boyhood		The Latin School or Gymnasium
IV. For youth		The University and Travel.[2]

In his social philosophy even more than in other parts of his work, Comenius shows his progressive spirit. He is interested not

[1] *Janua Linguarum Reserata*, autore J. A. Comenio: *The Gate of Languages Unlocked*, p [III]. London, 1650.

[2] From *Great Didactic*, Chap xxvii, 3, p. 256. By permission of The Macmillan Company, publishers, New York.

merely in education but in the progress of mankind, in the most general sense. Education is only the indispensable means of accomplishing a better society. Therefore the children of all classes, rich or poor, must be instructed thoroughly, boys and girls alike. Comenius sees clearly the obstacles: the lack of methodically trained teachers, of good textbooks, of sufficient financial support by the governments of states and cities, and the indolence of the clergy.

> To you also I appeal, theologians, since it is in your power to be the greatest assistance or the greatest obstacle to my designs. If you choose the latter course, the saying of Bernhard will be fulfilled: "that Christ has no bitterer enemies than his followers, and especially those who hold the first place among them."

In the preface to his *Panegersia*, Comenius urges all mankind, and principally all Europeans, schools, sovereigns, statesmen, and theologians, to concentrate their minds on the organization of a better society.

> First we must all have one and the same goal, the salvation of the human race.[1]

Science, political organization, and religion must be daringly combined and remodeled

> Then we shall also be bold, as it were, in the parliament of the whole world, to proclaim how in our judgment Learning, Religion, and Government may be brought to certain given and immutable principles or bases, to their best foundation, so that ignorance and uncertainty, discussion, the noise and tumult of disputes, quarrels and wars shall cease throughout the world, and Light, Peace, Health return, and that golden age which has ever been longed for, the age of Light and Peace and Religion, may be brought to sight.[2]

Comenius demands the foundation of a league of nations which must be interested not only in politics and government but also

[1][I A. Comenius] *De Rerum Humanarum Emendatione Consultatio Catholica,* Pt I: *Panegersia, Excitatorium Universale,* Chap xi, § 19 Amsterdam, 1666.

[2]Comenius: *The Way of Light* (*Via Lucis*), translated into English, with an Introduction by E. T. Campagnac, pp 8 f. University Press of Liverpool, 1939.

in "universal books, universal schools, a universal college, and a universal language." This universal language, of which also Juan Luis Vives and Bacon had thought, ought to be no longer Latin, as Vives had recommended, but an entirely new language, because Latin is, from the viewpoint of Comenius, too "full of variety in the cases of nouns, in the moods and tenses of verbs, and in its syntactical constructions" and "overflows with innumerable instances of all these anomalies." Finally, it is no sufficient "antidote to confusion of thought," for it does not possess sufficient "precision" to express "the nature of the things with which it deals, by the very sounds which it uses."

Comenius' vision of public and universal education has been realized in most modern countries, but the goal he wanted to achieve by this means—universal peace and progress—has so far remained a dream.

Now that we live again in a world full of war, persecution, and forced migrations, our sympathy for the suffering and hopes of the men living in the Thirty Years' War has received new strength. The more deeply we ourselves feel the plight of humanity, the more we understand the seeming paradox in the soul of Comenius. Driven from country to country by tyranny and inquisition, he believed not only in the infinite kindness of the Creator and in the dignity of man but also in the final realization, even here on earth, of a kingdom of sympathy and liberty.

> For there is inborn in human nature a love of liberty—for liberty man's mind is convinced that it was made—and this love can by no means be driven out: so that, wherever and by whatever means it feels that it is being hemmed in and impeded, it cannot but seek a way out and declare its own liberty.[1]

[1] *The Way of Light* (*op. cit.*), p. 18.

John Locke

(1632–1704)

One might ask how it came about that for two centuries or more the ideas of the Commonwealth educators and of Comenius were condemned to oblivion, whereas John Locke's treatise, *Some Thoughts Concerning Education* (1693), became a classic. For Locke's book is less comprehensive and less original than the *Great Didactic* of the Moravian bishop, and less representative of the interests of the rising middle class than Sir William Petty's *Advice.*

The answer is that Locke provided for the educated Englishman of the eighteenth century the right mixture of progress and conservatism, whereas Petty was too revolutionary and Comenius too mystical. In addition, Locke's fame as philosopher and political writer lent to his treatise on education more significance than it would have been accorded if written by a less well-known author. According to Locke himself, *Some Thoughts Concerning Education* was "rather the private conversation of two friends than a discourse designed for publick view."[1] The treatise resulted from letters which he sent during his political exile in Holland, 1683–1689, to his friend Edward Clarke. From a philosophical point of view, Locke's *Of Human Understanding* is perhaps a greater contribution to education than his *Thoughts.*

What are the elements which made Locke's educational thought so convenient for the enlightened citizen?

Since the days when Sir Thomas Elyot wrote his *Boke named the Governour* (1531), and even earlier under the first impact of the Renaissance, there had crystallized in English society an image of manly excellence, the gentleman ideal. This ideal, if estimated according to its highest aspirations, could be called the English

[1]John Locke: *Works* 10 vols. London, 1823. See Vol. IX, p. iii Cited in the following as· *Works.* John Locke· *Some Thoughts Concerning Education,* with Introduction and Notes by R. H. Quick, p 29. The Macmillan Company, New York, 1904.

equivalent of the Greek ideal of the *anḗr kalós k'agathós*, though it also shows an admixture of the standards of the medieval Christian knight and the *uomo universale* of the Renaissance.[1] As a practical social element in English life, the gentleman ideal demanded a well-bred and integrated person, God-fearing but otherwise independent and self-reliant; devoted to the service of his country and his king, provided the latter respected the covenant between the ruler and the other gentlemen of the realm; open-minded, but only to the extent that it did not uproot him from the firm ground of established rules and beliefs; educated as far as it behooves a man of influence who does not wish to be confused by too much scholarship and who has too stable convictions to lose himself in the traps of speculation and the traps of "enthusiasm."

It would be wrong to say that Locke's *Some Thoughts Concerning Education* is not considerably more profound than the picture which the average upper-class Englishman in the times of William and Mary had of a gentleman. But it contained what they wanted to read in order to be confirmed that they were, generally speaking, on the right track.

There was first the liberal element. The gentleman ideal of Locke was no longer feudal as in the times of the Tudor courtiers or the Stuart cavaliers. The old hereditary nobility had decreased in number anyhow, and the crown had to admit to the peerage more and more members of the wealthy middle classes. Furthermore, Locke's gentleman ideal was anti-absolutist regarding not only politics but also religion. Thus it appealed to a free and critical mind.

[1]On the development of the gentleman ideal, see the following. August Hoyler, *Gentleman-Ideal and Gentleman-Erziehung*. Leipzig, 1933.

Esmé C. Wingfield-Stratford, *The Making of a Gentleman*. Williams and Norgate, Ltd., London, 1938.

Edward C. Mack, *Public Schools and British Opinion, 1780-1860* (Columbia University Studies in English and Comparative Literature, No. 142). Columbia University Press, New York, 1939.

Edward C. Mack, *Public Schools and British Opinion since 1860*. Columbia University Press, New York, 1941.

Cyril Norwood, *The English Tradition of Education*. E. P. Dutton and Company, New York, 1930.

When the educated Englishman read the *Thoughts* he had in the background of his mind two other works by Locke in which he had expressed his political and religious opinions. One was the *Two Treatises of Government* (1690) in which, as a political exile, Locke had rejected the reactionary theories of absolutism and divine rights of kings, paved the way for a more liberal government, and inspired people all over the world to free themselves from political tutelage.

> Man being born, as has been proved, with a title to perfect freedom, and uncontrolled enjoyment of all the rights and privileges of the law of nature, equally with any other man, or number of men in the world, hath by nature a power, not only to preserve his property, that is his life, liberty and estate, against the injuries and attempts of other men; but to judge of and punish the breaches of that law in others.[1]

The other work was his four *Letters Concerning Toleration* in which he had given his contemporaries, all tired with a long period of religious wars and hatred, the most expressive formulation of religious liberty. In the preface to the first letter Locke himself had underscored one sentence. "Absolute liberty, just and true liberty, equal and impartial liberty, is the thing that we stand in need of."[2] The principal tenet defended in all these letters was the following:

> The care of souls cannot belong to the civil magistrate, because his power consists only in outward force: but true and saving religion consists in the inward persuasion of the mind, without which nothing can be acceptable to God. And such is the nature of the understanding, that it cannot be compelled to the belief of any thing by outward force. Confiscation of estate, imprisonment, torments, nothing of that nature can have any such efficacy as to make men change the inward judgment that they have framed of things.[3]

In spite of their individualism, respectable people in the England of William and Mary were far from being progressive; with reference to the people outside their own group, they believed that

[1]*Of Civil Government,* Book II, Chap vii, § 87. See *Works,* Vol. V, p. 387.
[2][*First*] *Letter Concerning Toleration, To the Reader,* in *Works,* Vol. VI, p. 4.
[3]*A Letter Concerning Toleration* in *Works,* Vol. VI, p. 11.

divine dispensation had rather conservative intentions. In England after the coronation of William and Mary the limited power of the monarchy gave room to a political constellation in which the aristocracy and the wealthy, in co-operation with the High Church, agreed to keep the rights of democracy rather strictly within their own highly conformist group. The older monarchical absolutism changed into a kind of democracy of privileged gentlemen, who were greater in number and had more political rights than comparable groups in the continental countries; but the nation as a whole did not enjoy a truly democratic life[1] The privileged classes and their church soon dominated the old Public Schools of Eton, Harrow, and Winchester, excluded the dissenters from Oxford and Cambridge until the year 1871, and cared little for the education of the large masses When Horace Mann, not unrightly called the father of the modern American public school system, visited Europe in 1843, he arrived at the following judgment:

Arrange the most highly civilized and conspicuous nations of Europe in their due order of precedence, as it regards the education of their people, and the kingdoms of Prussia and Saxony, together with several of the western and southwestern states of the Germanic confederation, would undoubtedly stand pre-eminent, both in regard to the quantity and the quality of instruction. After these should come Holland and Scotland—the provision for education in the former being much the most extensive, while in the latter perhaps it is a little more thorough. Ireland, too, has now a National system, which is rapidly extending, and has already accomplished a vast amount of good. The same may be said of France. Its system for National education has now been in operation for about ten years; it has done much, and promises much more. During the very last year, Belgium has established such a system; and before the revolution of 1830, while it was united with Holland, it enjoyed that of the latter country. England is the only one among the nations of Europe, conspicuous for its civilization and resources, which has not, and never has had, any system for

[1]George M. Trevelyan wrote in his *History of England*, p. 505: "Indeed the ostensible object of the Revolution [of 1689] was not change but conservation" (London, 1926.)

the education of its people. And it is the country where, incomparably beyond any other, the greatest and most appalling social contrasts exist—where, in comparison with the intelligence, wealth, and refinement of what are called the higher classes, there is the most ignorance, poverty, and crime among the lower. And yet in no country in the world have there been men who have formed nobler conceptions of the power, and elevation, and blessedness that come in the train of mental cultivation; and in no country have there been bequests, donations, and funds so numerous and munificent as in England. Still, owing to the inherent vice and selfishness of their system, or their no-system, there is no country in which so little is effected, compared with their expenditure of means; and what *is* done only tends to separate the different classes of society more and more widely from each other.[1]

Locke himself was apparently convinced that only that kind of education was really worth its effort which was extended to future "gentlemen," because if they are "once set right, they will quickly bring all the rest into order." Certainly no society is in greater danger than one in which the men in power are not "set right," but Locke contradicts his own ideas concerning a society of free men if he conceives of those who do not belong to his oligarchy of "gentlemen" as being nothing but "the rest" who have quickly to be brought "into order."

We possess a document that gives us some clue as to Locke's ideas on the education of the children of the poor, his so-called *Proposals for the Bringing Up of the Children of Paupers*, which he made in his capacity as the King's Commissioner of Trade and Plantations. His plan was not realized, although to a degree it anticipated the establishment of the workhouses which were set up by an act of Parliament in the English parishes in 1722, and in other countries at about the same time. Many of these workhouses were worse than prisons.

Locke wished all pauper children "above three and under fourteen years of age" to attend day "working schools" in which,

[1] "Seventh Annual Report of the Secretary of the Board [of Education, Massachusetts], January, 1844," reprinted in *The Common School Journal*, Vol. VI, No. 5, pp 84 f.

under control of teachers, they would be trained to work, in order to learn industry and to pay back to the community what it spent for their food.

We do not suppose that children of three years old will be able at that age to get their livelihoods at the working school, but we are sure that what is necessary for their relief will more effectually have that use if it be distributed to them in bread at that school than if it be given to their fathers in money. What they have at home from their parents is seldom more than bread and water, and that, many of them, very scantily too. If therefore care be taken that they have each of them their belly-full of bread daily at school, they will be in no danger of famishing, but, on the contrary, they will be healthier and stronger than those who are bred otherwise. Nor will this practice cost the overseers any trouble; for a baker may be agreed with to furnish and bring into the school house every day the allowance of bread necessary for all the scholars that are there. And to this may be added, also, without any trouble, in cold weather, if it be thought needful, a little warm water-gruel; for the same fire that warms the room may be made use of to boil a pot of it.[1]

The apparent cruelty of this scheme of education is not so much Locke's personal fault as it is historically conditioned. The fate of the poor in the England of Locke was such that many children would have been less exposed to misery under Locke's "teachers" than in their homes. Nevertheless, the fact remains that Locke—like Voltaire in France—distinguished his society of free men definitely from that of "the rest." There is a wide gap between the social ethics of these enlightened men and that of the Catholic humanist Juan Luis Vives[2] or the Moravian bishop John Amos Comenius.

Locke's hesitation to drive his progressive ideas beyond the boundaries of convention can also be proved with reference to his attitude in the emerging struggle of the "freethinkers" and the

[1]Henry Richard Fox Bourne, *The Life of John Locke*, in 2 vols ; Vol. II, p. 384. (London, 1876.) See also Locke· *Some Thoughts Concerning Education*, edited by R. H. Quick, Appendix A, p. 189 f. The Macmillan Company, New York, 1904

[2]*De Subventione Pauperum* ("Concerning the Relief of the Poor"), 1526.

religious tradition of his time. As an ardent advocate of tolerance, he had to defend himself against the accusation of "atheism" during his whole philosophical career. But in reality religion was for him the indispensable foundation of human development. Atheism, he thought, could not make a claim to tolerance, because it would destroy the very foundation of the sort of society on which a gentleman and a citizen of his time had the right to insist. "The taking away of God dissolves all." He also abandoned the spirit of radical inquiry when, in his famous *Essay on Human Understanding*, he saw himself confronted with the problem.

> Though God has given us no innate ideas of himself; though he has stamped no original characters on our minds, wherein we may read his being; yet having furnished us with those faculties our minds are endowed with, he has not left himself without witness. since we have sense, perception, and reason, and cannot want a clear proof of him, as long as we carry ourselves about us . . . But though this be the most obvious truth that reason discovers; and though its evidence be (if I mistake not) equal to mathematical certainty: yet it requires thought and attention, and the mind must apply itself to a regular deduction of it from some part of our intuitive knowledge, or else we shall be as uncertain and ignorant of this as of other propositions which are in themselves capable of clear demonstration.[1]

> Thus from the consideration of ourselves, and what we infallibly find in our own constitutions, our reason leads us to the knowledge of this certain and evident truth, that there is an eternal, most powerful, and most knowing being, which whether anyone will please to call God, it matters not.[2]

To be sure, this is no longer orthodox theology, since from theology's point of view it matters very much "whether anyone will please to call" this eternal being "God." It is "natural theology," as Locke himself developed it in his treatise on the *Reasonableness of Christianity*. But Locke's own premises, as set up in the first parts of his *Essay on Human Understanding*, ought to have led him by logical necessity to a much more critical attitude with

[1] *Opere citato*, Book IV, Chap. X, 1, in *Works*, Vol. III, p. 55.
[2] *Opere citato*, Book IV, Chap. X, § 6, in *Works*, Vol. III, p 57.

respect to the competence of pure reason in questions of transcendent character. He left it to Kant to prove that merely logical attempts at demonstrating the existence of God are invalid, and that religious faith must draw on experiences which are primarily of emotional and moral character, though capable of rationalization. For Locke, so it seems, critical thinking was permitted to go only as far as it served the welfare of a society as he desired to have it. The social and the practical, he supposed, had their own immanent laws, and to place abstract logic instead of trained common sense and practical considerations on the apex of the hierarchy of values was, from his point of view, not reasonable but a perversion.

That such a view of life is not far from the danger of hedonism is proved by Locke's own diary. There are reflections in it on happiness and on the avoidance of misery which border on timidity and on pleasure-seeking philistinism.[1]

The mixture of progressivism and conservatism which rendered Locke's general philosophy so influential can also be found in his ideas on education.

He is conservative in his almost fatiguing emphasis on private education and the right choice of the tutors—this even at a time when his aristocratic friends were already abandoning private education and were well on the way towards conquering the old "Public Schools," originally intended for serving the "poor scholar," for the training of their scions.

On the other hand, Locke, like Montaigne before him, was anticonservative in his rejection of book learning. More successfully than the forgotten Commonwealth educators, he fought against the routine dominating the English humanist schools of his time.

Reading and writing and learning I allow to be necessary, but yet not the chief business. I imagine you would think him a very foolish fellow, that should not value a virtuous or a wise man infinitely before a great scholar Not but I think learning a great help to both in well-disposed minds; but yet it must be confessed

[1]Lord Peter King, *The Life of John Locke,* pp 304 f London, 1829

also, that in others not so disposed, it helps them only to be the more foolish, or worse men.[1]

The refutation of bookishness, coming from one of the greatest thinkers of the nation, certainly pleased the English aristocracy, which was on the way to building a great empire and, like all people with great practical responsibilities, was unwilling to see the active side of the human personality neglected.

Starting from the conception that knowledge has to foster, rather than to impede, the growth of an all-rounded personality, Locke demanded a method of education apt to encourage initiative, independent judgment, observation, and critical use of reason. He wanted languages taught by conversation, not by grammatical exercises and memorization; generally speaking, he preferred learning by doing to learning by imitation. Consequently, his plans for a curriculum favored such subjects as the sciences, geography, astronomy, and mathematics for introducing the young into the world of nature; the Bible, history, and chronology for developing in the young a sense of morality and human affairs and the greatness of their nation; accounting as a requisite for good husbandry; and the vernacular and modern languages as means for communication. Of the ancient languages, he wanted Greek dropped from the ordinary program of a gentleman's education; he wanted Latin taught by speaking it, like modern languages, and used merely as an instrument, not as an end in itself. Like almost all great educators of modern times, he had a high esteem for the educational value of the manual arts and of "dexterity and skill";[2] and, following the custom of his time, he recommended travel.

[1]*Works*, Vol. IX, p. 142. Cf. *Some Thoughts Concerning Education* (*op. cit.*), § 141, p. 186. See also Note to § 147, p 229. The controversy between the advocates of real wisdom and the believers in information seems to be as old as civilization itself Plato was engaged in this conflict, and so are we today. Confucianism admonished its disciples to discover between the knowledge of essentials (*yili*), which deals with the world of human conduct and relationships, and the knowledge of externals (*shutu*), which deals merely with facts. Confucius wants a man to be first of all a good son, a good brother, and a good friend, and "if you have any energy left after attending to conduct, then study books." (Quoted from Lin Yutang, "When East Meets West," in *The Atlantic Monthly* for December, 1942, p. 45)

[2]*Works*, Vol. IX, p. 192. *Some Thoughts on Education* (*op. cit.*), § 202, p. 250.

Locke's realism appealed to the practical people of England and also to men like Franklin and Jefferson in America, Rousseau in France, Basedow and his followers in Germany; and the authors of progressive textbooks conjured in their prefaces the spirit of "the admirable Mr. Locke."

Yet one must not underestimate the resistance which the classical schools of England put up against Locke's doctrines. In the old "Public Schools" nothing changed. Locke's criticism of educational formalism had to be taken up by another great English philosopher, Herbert Spencer, who in 1861 published his essays on *Education: Intellectual, Moral, and Physical;* and by the famous scientist Thomas H. Huxley, who delivered an address on *Liberal Education and Where to Find It* to the South London Working Men's College on January 4, 1868 (subsequently published in *Macmillan's Magazine*). Huxley says:

> Well, what I mean by Education is learning the rules of this mighty game [of man with life]. In other words, education is the instruction of the intellect in the laws of Nature, under which name I include not merely things and their forces, but men and their ways; and the fashioning of the affections and of the will into an earnest and loving desire to move in harmony with these laws. . . . That man, I think, has had a liberal education, who has been so trained in youth that his body is the ready servant of his will, and does with ease and pleasure all the work that, as a mechanism, it is capable of; whose intellect is a clear, cold logic engine, with all its parts of equal strength, and in smooth working order; ready, like a steam engine, to be turned to any kind of work, and spin the gossamers as well as forge the anchors of the mind: whose mind is stored with a knowledge of the great and fundamental truths of Nature and of the laws of her operations; one who, no stunted ascetic, is full of life and fire, but whose passions are trained to come to heel by a vigorous will, the servant of a tender conscience; who has learned to love all beauty, whether of Nature or of art, to hate all vileness, and to respect others as himself. . . .
>
> If there be a people which has been busy making history on the great scale for the last three hundred years—and the most profoundly interesting history—history which, if it happened to be

that of Greece or Rome, we should study with avidity—it is the English. If there be a people which, during the same period, has developed a remarkable literature, it is our own. If there be a nation whose prosperity depends absolutely and wholly upon their mastery over the forces of Nature, upon their intelligent apprehension of, and obedience to, the laws of the creation and distribution of wealth, and of the stable equilibrium of the forces of society, it is precisely this nation. And yet this is what these wonderful people tell their sons. "At the cost of from one to two thousand pounds of our hard-earned money, we devote twelve of the most precious years of our lives to school. There you shall toil, or be supposed to toil; but there you shall not learn one single thing of all those you will most want to know, directly you leave school and enter upon the practical business of life. You will in all probability go into business, but you shall not know where, or how, any article of commerce is produced, or the difference between an export or an import, or the meaning of the word *capital*. You will very likely settle in a colony, but you shall not know whether Tasmania is part of New South Wales, or vice versa."[1]

Spencer and Huxley in England, and like-minded reformers in other countries, brought about a gradual recognition of the value of the natural sciences in the program of the elementary and secondary schools, and an inclusion of more modern studies even in the old classical institutions. Yet in spite of all attacks against it, classical education has existed up to the present time in Europe, under the most adverse conditions. This condition is due not only to prejudice and social inertia; it is due to the awareness of a certain part of the population that subtler conditions lie at the base of a liberal civilization than merely utilitarian interests. Locke himself would certainly have enjoyed much of the practical wisdom in Herbert Spencer's essays, but he would not have subscribed to his platitudinous attacks against the spirit of the humanist tradition. Nor would Locke have shared the modern admiration of mere technical efficiency which leaves no room for the recognition of the deeper auspices of humanity on which civilization depends.

[1]Thomas Henry Huxley, *Lay Sermons, Addresses, and Reviews*, pp. 32, 34, and 41. New York, 1876

Jean Jacques Rousseau

(1712–1778)

Rousseau's Social Ideas

It would be difficult to find a man in the history of thought who with so much half-truth has made as deep an impression on mankind as Rousseau. Perhaps only Nietzsche can in this respect be compared with him.

What is this half-truth?

It is expressed in the first paragraph of his famous educational novel *Émile*:

> All things are good as they came out of the hands of their Creator, but every thing degenerates in the hands of man. He compels one soil to nourish the productions of another, and one tree to bear the fruits of another. He blends and confounds elements, climates, and seasons: he mutilates his dogs, his horses, and his slaves: he defaces, he confounds every thing: he delights in deformity and monsters. He is not content with any thing in its natural state, not even with his own species. His very offspring must be trained up for him, like a horse in the menage, and be taught to grow after his own fancy, like a tree in his garden.[1]

This idea runs like a musical leitmotiv through all the writings of Rousseau. It appeared first with amazing vigor in his *Discours ... sur cette question ...: Si le rétablissement des sciences et des arts a contribué a épurer le moeurs* ("A Discourse on the Moral Effects of the Arts and Sciences"), which was an answer to the question set up in 1749 by the Academy of Dijon on the effect of civilization on morals. In his *Nouvelle Héloise* ("Eloisa"), 1761, he showed the conflict of love with the corrupt mores of the time; in his *Contrat Social* ("Social Contract"), 1762, he developed a revolu-

[1] *Émile, or, A Treatise on Education,* translated from the French of J. J Rousseau, Citizen of Geneva, in 3 vols.: Vol. I, p. 1. Printed for J. Dickson and C. Elliot, Edinburgh, 1773.

tionary theory of state on the basis of the natural rights of man. So the famous first paragraph of *Émile, ou De l'Éducation*, 1762, on the purity of nature and the depravity of civilization is merely the educational variation of a general theme which has deep roots in Rousseau's own experiences.

There is first his personal life. His genius was less the result of work and discipline than a product of nature. He grasped things intuitively and without prejudice, and his language was personal and original. He felt himself really at home only among pastures and mountains. One of his deepest comforts was music. His religion, in spite of all rationalization, sprang from a strongly emotional pantheistic mysticism. In *Eloisa* he says that the eternal being cannot be seen nor heard, it can only be felt; it communicates itself neither to our eyes nor to our ears, only to our hearts. To people accustomed to the sophisticated style of the eighteenth century French society, the voice of Rousseau must have sounded like the rush of glacial waters.

If these positive sides of Rousseau's character alienated him from civilization, his deficiencies did so still more. He had a neurotic and oscillating personality which makes it extremely difficult to characterize him in unequivocal terms. Certainly he was one of these uprooted "marginal men" in whom hypersensitiveness to the ethical defects of society and personal moral laxity are strangely allied. His education did not allow a natural growth of his emotions. His mother died in childbirth; his father was unable to cultivate the talents of his son harmoniously; relatives educated him in a haphazard fashion; and afterwards he served as an apprentice to an engraver. He was cruelly treated, and as a boy of sixteen he ran away. Then a strange period of traveling, adventures, and unbalancing erotic and religious experiences began. He never arrived at sexual maturity, for he mostly mistook the beloved woman for the mother he had missed in youth, or else fell into primitive sensuality. When he came to Paris he appeared in the difficult role of a young talent who felt deeply the difference between himself and the adulterated civilization around him, particularly as

he could not cope with its habits and standards. He felt himself ridiculous, and—as always happens in such a case—was indeed ridiculed. Feelings of superiority mingled with feelings of inferiority; obstinacy, on the one hand, and morbid self-criticism, on the other, were the result.

Experiences like these are not unusual; most of those who suffer from them appear to their fellow men as unhappy or unadjustable cranks. What made Rousseau important was, first, the combination of his maladjustment with unusual talent and, second, the fact that his criticism of society appealed to the latent feelings of the best of his contemporaries and made them aware of the utter unnaturalness of their own situation.

Never perhaps in European history was life more distorted than in the year when Rousseau came from Switzerland to France. First Spanish etiquette, then the French etiquette of the courts of Louis XIV and Louis XV had cramped the manners of the upper classes in a harness of artificiality. Their costumes, their wigs, their love, and their dealings with their children killed the nature in men, instead of developing it. Mechanization made itself felt both in work and in the organization of society. The tyrannical regime of absolutism contrasted strongly with the extreme individualism of the enlightened ones who dreamed of liberty and equality. Everywhere in France the Catholic Church exercised an enormous power; yet few of the leaders took its creed seriously. Even a considerable number of the higher clergy listened with delight to the arguments of naturalist philosophers and to the lascivious conversations that we find in the erotic literature of the time. Class discrepancy increased, while the cultural and economic justification of the existence of social castes had disappeared. What remained was mainly a system of monopolies, privileges, and barriers.

Thus France, and with her all Europe, listened with rapt attention when it suddenly heard the voice of a prophet: "God makes all things good; man meddles with them and they become evil"

There are two main ways by which Rousseau advances his gospel of return to nature. One is the political, culminating in the *Social*

Contract; the other is the educational, with *Emile* as the final manifesto. A brief analysis of these two works will illustrate our initial statement about the fascinating half-truth of Rousseau's philosophy.

All the main ideas of the *Social Contract* can be found in earlier writers, especially in Locke and Montesquieu, and also in the ancient philosophers of government. The fascination which Rousseau's work held for his contemporaries sprang from his burning enthusiasm for the great idea of equality, his hatred of injustice, and his absolute faith in the power of the natural nobility of man. All this he expresses with the strength of a religious evangel, in language which conveys at first glance the feeling of logical cogency, even though a closer examination reveals striking contradictions. Perhaps only those of our contemporaries who suffer again under dictators can imagine the impression which such sentences as the following made in the age of absolutism:

> Man is born free; and everywhere he is in chains . . . liberty results from the nature of man. His first law is to provide for his own preservation, his first cares are those which he owes to himself. . . . Since no man has a natural authority over his fellow, and force creates no right, we must conclude that conventions form the basis of all legitimate authority among men.[1]

Therefore, so Rousseau says, in order to understand and to reform society, one has always to examine the character of its conventions, and especially to go back to the first convention into which society entered. This first convention occurred when men passed from the state of nature into the state of civil society. This happened when they felt that the growing obstacles endangering their self-preservation in the state of nature could be overcome only by means of co-operation. This is the "Social Contract." Of course, the question arises as to how a man can pledge his individual strength and the freedom he possesses in the state of nature

[1]Jean Jacques Rousseau, *The Social Contract, and Discourses* (Everyman's Library); Book I, Chap I, II, IV, pp. 5, 6, 9. E P Dutton and Company, New York, 1914.

without "harming his own interests, and neglecting the care he owes to himself." Rousseau's answer is that the new covenant of men must "defend and protect with the whole common force the person and goods of each associate." In such a way "each, while uniting himself with all, may still obey himself alone, and remain as free as before." In other words, the transition from the primitive state into the state of a covenant is not meant to be an abandonment but rather a higher form of nature, in which the freedom of man, imperiled by continuation of primitiveness, is preserved more effectively. Therefore any violation of the free character of this covenant by external powers, as by kings and governments, gives society the right to overthrow the violator.

As the progressive people of the time felt that the existing governments had used their power not to preserve the original meaning of the social contract but for strengthening their own privileges, the gospel of Rousseau was understood as the proclamation of the right of revolution. By violating the social contract which had provided their original legal basis, the absolutist governments had outlawed themselves. Thus the citizen had regained his natural freedom, and from this achievement followed the right to make a new covenant for the purpose of building a social order more in accordance with the purpose of the original contract. For, according to Rousseau, governments are not divine but represent:

> . . . simply and solely a commission, an employment, in which the rulers, mere officials of the Sovereign, exercise in their own name the power of which it makes them depositaries. This power it can limit, modify, or recover at pleasure.[1]

Rousseau, however, was well aware of the factions and failures to which the sovereign people itself was exposed. How could one rely on it? He tried to solve this dilemma through his distinction of a *volonté de tous* ("will of all") in contradistinction to the *volonté générale* ("general will"). The *volonté de tous* is merely the accumulation of the expressions of the will of such-and-such a number of individual citizens; and as these citizens may be misled and may

[1]*Social Contract* (*op. cit.*), Book III, Chap. I, p. 50.

contradict one another, one cannot put his trust in their voice. In contrast, the *volonté générale* expresses not merely a quantitative factor but is identical with the common moral interest, which is above the mere sum of particular wills.

> But take away from these same wills the pluses and minuses that cancel one another, and the general will remains as the sum of the differences. . . . It is therefore essential, if the general will is to be able to express itself, that there should be no partial society within the State, and that each citizen should think only his own thoughts.[1]

This scheme involves the elimination of parliamentary representation and the curtailment of magistrates as much as possible, for "the government grows weak as the number of its members increases."

> Sovereignty, for the same reason as makes it inalienable, cannot be represented; it lies essentially in the general will, and will does not admit of representation: it is either the same, or other; there is no intermediate possibility. The deputies of the people, therefore, are not and cannot be its representatives: they are merely its stewards, and can carry through no definitive acts. Every law the people has not ratified in person is null and void—is, in fact, not a law. The people of England regards itself as free; but it is grossly mistaken; it is free only during the election of members of parliament. As soon as they are elected, slavery overtakes it, and it is nothing. The use it makes of the short moments of liberty it enjoys shows indeed that it deserves to lose them.[2]

The historians of the philosophy of government have often pointed out the contradictions and predicaments in Rousseau's theory. How can the population of a great country express its will without representation? How does that rather mystical *volonté générale* emerge out of a society full of egoisms and conflicting opinions? Is the legal power of the state the result of the social contract, or does the social contract presuppose some already existing power?

[1]*Social Contract* (*op. cit.*), Book II, Chap III, pp. 25 and 26.
[2]*Ibidem*, Book III, Chap. XV, p. 83.

One can understand why Rousseau considered all these problems of minor importance only through realizing the core in his philosophy—that is, his belief in the inherent goodness of man's nature. Allow it to unfold itself freely and it will prove its inherent goodness. In the same fashion, leave the inherent natural potentialities of society unhampered and you will have a good state. But is this really so?

Rousseau's Educational Ideas

The hope of a new society as expressed in the *Social Contract* gives us the clue to the understanding of the values and defects of Rousseau's educational ideas. From a realistic point of view nothing is more paradoxical than placing *Émile's* young hero outside society for the very purpose of educating him for society. The reason for this paradox lies in Rousseau's belief that the present society is incapable of renewing itself. In consequence of its corruptness, it will always frustrate the pure development of the original nature of man. Hence dare begin anew; begin with the child. It is only through a return to his own childhood, as it were, that man may again understand what he really is, and of what he is capable. Only reborn men can bring about a new social contract and create the *volonté générale* which distinguishes itself so definitely from the accidental results of the *volonté de tous.* We must not, therefore, imagine that Rousseau really dreamed of placing all children on some kind of island. All he needed was an artistic means of explaining to a corrupt society what might be achieved if nature were allowed to take the place of artificiality in education.

Shortly after the publication of *Émile*, a number of refutations appeared, partly from those who were offended by Rousseau's alleged "atheism"—for he postponed religious education until the period of adolescence—partly from those who took a cheap delight in showing the practical impossibilities in the educational scheme of *Émile*, and partly from those who denounced him as plagiarist.[1]

[1]Karl A Schmid, *Geschichte der Erziehung vom Anfang an bis auf unsere Zeit.* 5 vols. Stuttgart, 1884–1902 See Vol. IV, 1, p 592.

In a sense, all these critics were correct. Yet they are forgotten, whereas Rousseau's *Émile* has inspired one educational generation after the other to set the fundamental principles of education against educational routine. Certainly not every pioneer in education after Rousseau, beginning with Pestalozzi, is merely a "disciple" of Rousseau. Thinking men may have much in common and still be original. Nevertheless, Rousseau's influence on the eighteenth century was enormous. It is difficult to imagine a greater contrast than that between the emotional, artistic, and extremist Rousseau and the logically disciplined and somewhat pedantic Kant. Yet it is the latter who says:

> I am a scholar by inclination; I deeply feel the thirst for knowledge and the unceasing eagerness to perfect it. . . . There was a time when I believed that nothing so much but this constituted the dignity of mankind and I despised the masses which possessed no knowledge. Rousseau has set me right. He has freed me from my illusions. He has taught me to respect mankind, and I would consider myself much less useful than the ordinary worker, if I could not believe that this very insight could justify all my other thinking and help me to do my share in the restoration of the rights of man [1]

After reading this statement by Kant, it is difficult to sympathize with another great contemporary of Rousseau, Voltaire, who replied to Rousseau's *Discours sur l'Origine et les Fondements de l'Inégalité parmi les Hommes* ("Discourse upon the Origin and Foundation of the Inequality among Mankind," 1755) with the following words:

> Nobody has used stronger colors to paint the heinousness of human society of which, in our ignorance and credulity, we had expected so much good. Never has one spent so much intelligence on the endeavor to lead us back into the animal state. When reading your book, I hardly could resist the desire to walk on all fours.[2]

This letter from Voltaire symbolizes the clash of two worlds. One, the world of Voltaire, living in the hope that through the

[1]Hermann Leser, *Das pädagogische Problem in der Geistesgeschichte der Neuzeit*, in 2 vols.· Vol I, p. 420. München, 1925–1928.

[2]Voltaire· *Oeuvres Completes*, nouvelle édition, Vol. VI, p. 447. Paris, 1880.

application of more reason and civilization mankind could climb the path to perfection; the other, that of Rousseau, knowing that reason is futile unless it is rooted in the soil of naturally and harmoniously developed emotions and instincts. Rousseau gave in his *Émile* the best answer he could give to Voltaire's ironical remark: return to nature does not necessarily mean going back to the animal state, but giving man an opportunity to develop himself fully and harmoniously.

According to Rousseau, education should be "negative" up to the age of twelve, and ought to allow for the free play of nature. Though this postulate is fundamentally incompatible with the existence of a constantly intervening authority such as Rousseau's tutor, this tutor, nevertheless, does his best to harmonize his secret educational strategy with the natural conditions of a child's growth. He encourages his pupil to imitate good example. He creates scenes and experiences favorable to the right conditioning of the pupil's behavior and to his preparation for life. And as the child senses this care without feeling thwarted by it, he develops for his tutor a higher and more intimate sense of respect than could ever be created by any external authority.

One thing on which the tutor lays particular stress is that the experiences of the child ought to be in harmony with his physical and his mental development. During the first year of his life, the child is not clearly conscious of his own existence.[1] In the second period of his development, that of infancy, the child learns to develop his senses through contact with his environment. The first reactions are naturally those of joy and pain. In this period, the tutor must show the great skill of distinguishing what the nature of the child really demands from what is artificial or the result of the child's caprice. He has to foster the true demands of nature and to transform caprice into productive attitudes. Books and abstract concepts have to be avoided.

The first more complicated insights into human life and its moral qualities are to be created through leading the child into situations

[1]*Émile* (*op. cit.*), Book I, Vol. I, pp. 64 f.

where such experiences emerge naturally Nor should there be any punishment except that which will inevitably come from the revenge which life takes if its laws have been violated. Does not this kind of "negative" or merely waiting education involve an inexcusable loss of time? Rousseau answers: it is only this kind of education which develops in the child all the physical and mental organs which later on he will need for a balanced, unprejudiced, and courageous life.[1]

After the eleventh year of life, this concrete kind of education makes way for a more intellectual kind. The child learns to form concepts and is introduced to the elements of geography and astronomy. Together with the tutor, he builds the apparatuses required for this kind of instruction. In this way a young person develops a sense of utility and begins to ask what a thing is good for. Naturally, he relates usefulness always to his own personal advantage. This, according to Rousseau, is perfectly proper; it is the path of nature. Now the tutor introduces the first book, Daniel Defoe's *Robinson Crusoe.* Émile also learns carpentry; nobody can know whether he may need the knowledge of a trade to support himself.[2]

At about the age of fourteen, Émile is a thinking and acting being. But he is not yet educated, for there still remains the process of planting all the previous, merely egocentric experiences in the deep bed of human feeling, sympathy, and responsibility. This has to be done during adolescence, when his passions grow, when he begins to compare himself with others, to make abstractions, and to move into the deeper secrets of the universe. Now history and natural theology must be used for leading the child toward adulthood. Then the youth's nature, for the very reason that it has not been destroyed but respected as something which is in itself sacred, will discover the great moral feelings of love, justice, and duty and will enter into a deeper unity with the universe, the divine laws of which it has learned to acknowledge.

[1] *Émile* (*op. cit.*), Book II, Vol. I, pp. 125 f.
[2] *Ibidem,* Book III, Vol. I, pp. 373 f.

In *Émile,* as in the *Social Contract,* the paradoxes are striking, even if one allows the romantic author of a novel more freedom than the logical thinker. There is no clear statement—as in all his other works—as to what Rousseau really means by *nature.* Sometimes the word seems to be used in the sense in which the sensualists of the eighteenth century used it, indicating the theory that all human life and development has its origin in the senses. Sometimes it is used in a pantheistic sense: in this sense nature is the divine element which permeates and renews the universe, and infiltrates it with immutable laws which we all must obey, in order to avoid punishment. If interpreted in this sense, Rousseau's concept of nature joins a great and old tradition resembling that of the Chinese *Tao,* which we have already met in Western ancient and medieval thought, and which, in America, branches into the transcendentalist movement, with Emerson, Thoreau, and Bronson Alcott as its main representatives. Sometimes Rousseau uses the term *nature* merely as a signpost to tell the reader that beyond it begins the perilous area of non-nature, or perversion. With this vagueness inherent in the concept, it is largely left to the educator to decide whether he and his pupil are still within the realm of nature or whether they have already transgressed it.

Another defect in Rousseau's educational philosophy lies in his disregard of a fact which Pestalozzi was later to discern with wonderful clarity, namely, that all renewal of society depends on the increase of love—love in a twofold sense. First, there is love in its more physical and psychological meaning. A person who is to grow into a sympathetic and balanced personality must feel the warmness of family relationships in the early years of his life. Without this experience he would be deprived of the most nourishing element in human growth. This fact Rousseau, probably as a consequence of his own childhood experiences, failed to recognize. Second, man and society need love in its more ethical sense, as it has been expressed classically in the Pauline concept of *agáre,* or charity.[1]

[1] *I Corinthians,* 13.

A further defect lies in Rousseau's unhistorical thinking, which he has in common with most of the rationalists of the eighteenth century, in spite of his antagonism towards them. It is one of the great features of enlightenment that it dared shake off the trammels of an obsolete tradition and proclaim man's right of freedom. But it failed to see that nowhere and never can man begin his civilization completely anew and uproot himself from his historical soil without being hurt and impoverished thereby. In order to build up a better future, man must combine two things: he must dare to tear out the rotten parts in the structure of the past, while at the same time he must respect those traditions which give him a feeling of the essential continuity in human existence. Otherwise he finds himself adrift on an ocean of abstract ideas which give him neither direction nor a feeling of security. The ignorance of Rousseau and his contemporaries about the complex character of human history partly explains the failure of the leaders of the French Revolution to carry their great experiment to full success. First they aroused, then they disappointed the hopes of the liberals of the world. For these liberals wished not only the overthrow of old and obsolete institutions, but the actual realization of the new ideas of liberty, fraternity, and equality, a new social contract, and a new education Instead, they saw the strife of parties, the guillotine, Napoleon, political reaction, and instability in the political life of France and of Europe.

Evaluation of Rousseau's Work

It is as difficult to appraise the general historical significance of Rousseau's writings as it is to judge his merits as an educational philosopher The revolutionary-minded critic would say that political progress—unfortunately—seems to develop only in great cataclysms, and that, consequently, it needed men like Rousseau to pull the wheels of history out of the mud of decaying absolutism. The more organically minded thinker would say that in principle there was nothing new in Rousseau's thought except his derring-do, which appealed more to the emotions than to the reason

Had people followed the more balanced political progressivism of Montesquieu, they would have been happier than they were under the banners of Rousseauism.

If one tries to pass judgment on Rousseau's educational thought in particular, a similar dichotomy of opinion will emerge. One may say that it was Rousseau's cry of *retournez à la nature* which jolted educators out of their complacent routine, changed educational methods, and influenced the attitude of parents to such a degree that childhood was no longer considered a merely inferior state of adulthood. Even the dress of children was changed. They were no longer forced to walk around like miniature adults, but were permitted to be children. What, after all, can be greater than the Copernican turn achieved by Rousseau's educational philosophy to give childhood its natural rights and to place education in the very center of human development, instead of seeing it swinging as a satellite around the Church, the State, and society?

The opponent, however, could answer that in Rousseau's times there were already educational movements under way which would have brought about organic educational reforms without revolutionary upheavals There were the followers of Locke in England. In Germany a new educational life had started, eventuating in the Philanthropist movement. There were modernizing trends in France, springing from the Jansenists, from Fénélon and Fleury, and finally from Jean Baptiste de La Salle's Order of Christian Brothers. All these movements, if supported by a general reform of social conditions, would have transformed education more steadily and more organically. Then children would not have been exposed to danger because unwise educators and parents experimented wildly in Rousseauism; nor, perhaps, would there have been necessary that cleavage between secular and religious education from which France and other countries have suffered since the time of Rousseau.

However, if such contrasts of opinion center around an author and persist for centuries, the man must indeed have reached into unusual depths of life and thought. He does not deserve the kind

of disciples who regard each statement of the master as a gospel; rather he deserves the attention of free men who are able to preserve their own judgment even when faced with fascinating revolutionary ideas. For such men the work of Jean Jacques Rousseau will be a source of productive excitement, and they will reject a fallacious opinion shared by both his false admirers and his false critics—namely, that he is the advocate of unbridled individualism. In his political philosophy he sets the *volonté générale* against the *volonté de tous;* in his educational philosophy he is far from confusing natural methods of education with undirected educational instinctivism. It is his profound respect for the great ideal of the harmony of naturalness and discipline which led him to write his *Contrat Social* and his *Émile.* The fact that in his own life he was torn by contrasts is perhaps the very reason for the depth and intensity of his struggle as a thinker and writer.

Benjamin Franklin

(1706–1790)

Franklin's Philosophy

Franklin's importance lies in his personality, his inventiveness, his practical achievements, and the example he gave his nation. Among his contemporaries, in this country and in Europe, he was the first to realize the ideal of the rising middle class, which wished to be independent, successful, and enlightened. If one were building a pantheon for the great heroes in educational theory proper, no special niche would have to be provided for him.

Franklin came from the youngest country of the western civilization. Generally, colonial cultures remain conservative and, relatively, long dependent on the tradition of the mother countries, even if the colonists or their ancestors left their old homes in protest. As a matter of fact, the educational leaders of New England, in spite of their religious dissent and their emphasis on popular education, cherished for more than two centuries the ideal of the humanist scholar as it was established in the sixteenth century by such men as Erasmus, Sturm, and Colet. Such an attitude resulted from a natural trend toward cultural self-preservation. Surrounded by forests and "Indian savages," the colleges of Harvard and William and Mary could keep the tender flame of culture burning only through radical adherence to the tradition of European Humanism. The progressive educators of the English Commonwealth remained apparently unnoticed in America; it needed the authority of John Locke to make the first breach in the solid walls of American classicism.

But at the beginning of the eighteenth century the pedagogical zeal of the staunch Puritan schoolmasters had abated. Boston Latin School, and still more Harvard College, harbored many a boy who was more interested in his social career than in the wisdom

of Tully and sacred learning. Benjamin Franklin wrote in 1749, in his *Proposals Relating to the Education of Youth in Pensilvania:*

Many of the first settlers of these provinces were men who had received a good education in *Europe*, and to their wisdom and good management we owe much of our present prosperity. But their hands were full, and they could not do all things. The present race are not thought to be generally of equal ability: For though the *American* youth are allowed not to want capacity, yet the best capacities require cultivation, it being truly with them, as with the best ground, which unless well tilled and sowed with profitable seed, produces only ranker weeds.[1]

Yet it was Franklin's generation which, in North America, brought about not only political but also, to a considerable degree, cultural emancipation. The reason is that the decay of the older Puritan ideals occurred within a society which, as a whole, was vigorous, ambitious, and eager for new experiences, and far from general decay. It offered to young men like Benjamin Franklin more opportunity than did any European country to emerge from "poverty and obscurity . . . to a state of affluence and some degree of reputation in the world."[2]

Self-made men like Franklin always incline to see the essence of education in self-training. Franklin not only practiced it but made it a subject of intensive thinking. In his *Autobiography* he tells us about his "bold and arduous project of arriving at moral perfection."[3] He lists thirteen virtues which he wishes to achieve; following great examples, he designs a scheme which enables him to check every day the results of his endeavor toward self-improvement. According to his own testimony, he must have applied his method

[1]*Benjamin Franklin: Representative Selections*, with Introduction, Bibliography, and Notes by Frank Luther Mott and Chester E. Jorgenson (American Writers Series), p 200. American Book Company, New York, 1936. Cited in the following as. *Representative Selections.*

See also *The Writings of Benjamin Franklin*, collected and edited with a Life and Introduction by Albert Henry Smyth, in 10 vols.· Vol. II, p 388 The Macmillan Company, New York, 1905–1907. Cited in the following as Franklin's *Writings*.

[2]*Representative Selections*, p. 3 (*Autobiography*) Franklin's *Writings*, Vol I, p. 226.

[3]*Representative Selections*, p. 71. Cf. Franklin's *Writings*, Vol. I, pp. 326 f.

of self-improvement for several years. When voyages abroad and the "multiplicity of affairs" forced him to omit it, he nevertheless carried with him his little book of moral exercises.

Franklin's list of virtues is a mixture of the older Aristotelian-Christian ethics with the typical practical morality of the Age of Enlightenment. Of the Greek-Christian sort are the virtues of temperance, silence, sincerity, justice, moderation, tranquillity, chastity, and humility. Middle-class enlightenment, as well as Franklin's own personality, appears in the virtues of order, resolution, frugality, industry, and cleanliness.

Continuous self-examination, as it goes with this kind of self-training, fosters observation. Franklin possessed a natural talent for it, but through his daily exercises he trained it to a degree which was instrumental in his success as businessman and popular writer. He is one of the most vivid American painters of human scenes, virtues, and weaknesses in all his essays, however different their quality may be in other respects.[1] But most of all Franklin displays his capacity for watching the ways of life, particularly the ways of language and the reasoning of the common man, in his *Poor Richard's Almanack*, for years the friend and adviser of the American farmer and one of the greatest educational forces in America. The *Almanack* is a typical document of rationalist practical morality; and the new farming and trading middle class were apparently more willing to accept its conclusions than the hell-fire sermons of their parish ministers, of which they were a little tired.

Franklin's unusual capacity for observation not only opened to him the hearts of his people, it also made him one of the internationally famous experimenters and one of the great statesmen of his time. In his *Autobiography* he tells us about the modest beginning of his political activities in his community. "I began now to turn my thoughts a little to public affairs, beginning, however,

[1]As examples one could refer to the "Dialogue between Franklin and the Gout" (1780) and "The Art of Procuring Pleasant Dreams," *Representative Selections*, pp. 424 f. and 523 f. See also Franklin's *Writings*, Vol. VIII, pp. 154 f., and Vol. X, pp. 131 f

with small matters. The city watch was one of the first things that I conceived to want regulation." By use of the Junto, his discussion club, he persuaded the good citizens of Philadelphia to have "a more effectual watch" through "the hiring of proper men to serve constantly in that business"; and soon as "a more equitable way of supporting the charge," the city allowed "the levying a tax that should be proportioned to the property."[1]

From the improvement of the constable service he passed to the reform of fire protection, with the result that after the new plan was carried through, "the city has never lost by fire more than one or two houses at a time, and the flames have often been extinguished before the house in which they began has been half consumed." Thus it goes onward from local to national, and from national to international undertakings. He tries to discover the laws underlying the increase of population,[2] as had been done before him by the Commonwealth educators, to whose mentality Franklin is very closely akin, though apparently he did not know them.[3] He ardently defends his country against the intention of the English government to get rid of its felons and convicts through sending them to the American colonies;[4] finally, as a diplomat in Europe he watches every opportunity to detect the strength and the weakness of the great countries and to apply the dangerous weapon of political propaganda. He does it often in a humorous or sarcastic way, but always so that it hits the nail on the head and makes people think, instead of merely offending them.

Of course, much more than bare observation is requisite to all these accomplishments: thinking, foresight, organization, and untiring energy. But it is due to observation that all these qualities in Franklin start from a firm foundation and do not work in an ab-

[1]*Representative Selections*, p. 88. Franklin's *Writings*, Vol. I, pp. 352 f.

[2]"Observations Concerning the Increase of Mankind, Peopling of Countries, etc.," 1751, in *Representative Selections*, pp. 216 f. See also Franklin's *Writings*, Vol. III, pp. 63 f.

[3]Cf Sir William Petty, *Political Arithmetic* (London, 1690) and *Natural and Political Observations . . . upon the Bills of Mortality* (London, 1662).

[4]"Exporting of Felons to the Colonies," 1751, in *Representative Selections*, pp. 214 f. Cf. Franklin's *Writings*, Vol III, pp. 45 f.

stract intellectual sphere. Franklin never indulged in illusions. Who was more a friend of the people than he? Yet after the success of the Revolution, he observed the people's conduct with full awareness of its instability and tendency to prefer rights to duties. He writes in a letter to Charles Carroll in 1789:

We have been guarding against an evil that old States are most liable to, *excess of power* in the rulers; but our present danger seems to be *defect of obedience* in the subjects. There is hope, however, from the enlightened state of this age and country, we may guard effectually against that evil as well as the rest.[1]

Such a critical attitude was not at all due to old age or to the kind of disillusion which often occurs after a great dream has been realized. More than twenty years before the Revolution, in the first stages of marked dissension between the colonies and their mother land, Franklin writes to Governor Shirley of Boston a letter which proves that he looks through the veils of ideologies into the nature of life. He bravely defends American rights, but he does not hesitate to admit that the art of political leadership consists in producing and directing not only facts but also opinions.

It is very possible, that this general government might be as well and faithfully administered without the people, as with them; but where heavy burthens have been laid on them, it has been found useful to make it, as much as possible, their own act; for they bear better when they have, or think they have some share in the direction; and when any public measures are generally grievous, or even distasteful to the people, the wheels of government move more heavily.[2]

At the end of his life he repeats his observation on the importance of public opinion in his judgment about the Constitution:

[1]*Representative Selections*, p. 501. Franklin's *Writings*, Vol. X, p. 7. See also Franklin's "Speech in the Convention at the Conclusion of Its Deliberations" (1787), and his satire against the critics of the Constitution of 1788 in a letter to the editor of the *Federal Gazette* ("A Comparison of the Conduct of the Ancient Jews and of the Anti-Federalists in the United States of America"), in *Representative Selections*, pp. 491 f. and 496 f. See also Franklin's *Writings*, Vol. IX, pp. 607 f. and 698 f.

[2]*Representative Selections*, p. 263. Franklin's *Writings*, Vol. III, p 231.

Much of the strength and efficiency of any government, in procuring and securing happiness to the people, depends on *opinion*, on the general opinion of the goodness of that government, as well as of the wisdom and integrity of its governors.[1]

But observation becomes for Franklin not only a requisite for efficiency but also an intrinsic element of morality. He possesses the conscience of the thoroughly trained scientific mind which has disciplined itself to admit the possibility and the right of different points of view.

In a letter to Peter Collinson of the year 1747 he writes:

SIR,

I have lately written two long letters to you on the subject of electricity. . . . On some further experiments since I have observed a phenomenon or two, that I cannot at present account for on the principle laid down in those letters, and am therefore become a little diffident of my hypothesis, and ashamed that I have expressed myself in so positive a manner. In going on with these experiments how many pretty systems do we build which we soon find ourselves obliged to destroy! If there is no other use discovered of electricity this however is something considerable, that it may *help to make a vain man humble*.[2]

Franklin enjoys intensely the progress which can be seen in at least one field of human activity, namely, the applied sciences. Great visions about the improvement of the material side of human life appear to him. But, he questions, will it go hand in hand with moral progress? He wishes it; his realism, however, keeps him far from rationalist utopias. In a letter of 1780 to the great English chemist Joseph Priestley, he says:

It is impossible to imagine the height to which may be carried, in a thousand years, the power of man over matter. We may perhaps learn to deprive large masses of their gravity, and give them absolute levity, for the sake of easy transport. Agriculture may

[1] *Representative Selections*, p. 492. Franklin's *Writings*, Vol. IX, p 607 ("Speech in the Convention, September, 1787").

[2] *Representative Selections*, p. 194. Franklin's *Writings*, Vol. II, pp. 324 f.

diminish its labour and double its produce; all diseases may by sure means be prevented or cured, not excepting even that of old age, and our lives lengthened at pleasure even beyond the antediluvian standard. O that moral science were in as fair a way of improvement, that men would cease to be wolves to one another, and that human beings would at length learn what they now improperly call humanity.[1]

The morality of science (not any kind of science, but science understood morally) creates tolerance. Thus Franklin is against "cutting throats"[2] politically or in matters of religious dogmatism. The greatest example of this tolerant attitude is his "Speech in the Convention" of 1787, the beginning of which we cannot refrain from quoting fully.

MR. PRESIDENT,

I confess, that I do not entirely approve of this Constitution at present; but, Sir, I am not sure I shall never approve it; for, having lived long, I have experienced many instances of being obliged, by better information or fuller consideration, to change my opinions even on important subjects, which I once thought right, but found to be otherwise It is therefore that, the older I grow, the more apt I am to doubt my own judgment of others. Most men, indeed, as well as most sects in religion, think themselves in possession of all truth, and that wherever others differ from them, it is so far error. Steele, a Protestant, in a dedication, tells the Pope, that the only difference between our two churches in their opinions of the certainty of their doctrine, is, the Romish Church is *infallible*, and the Church of England is *never in the wrong*. But, though many private persons think almost as highly of their own infallibility as of that of their sect, few express it so naturally as a certain French lady, who, in a little dispute with her sister, said, "But I meet with nobody but myself that is *always* in the right." "*Je ne trouve que moi qui aie toujours raison.*"[3]

But all his realism, critical attitude, and tolerance do not make a relativist and skeptic of Franklin. With all the defects which go

[1]*Representative Selections*, pp. 420–421. Franklin's *Writings*, Vol. II, p 10.

[2]See his letter "To Sir Joseph Banks," 1783, in *Representative Selections*, p. 459. Cf. Franklin's *Writings*, Vol. IX, p 74.

[3]*Representative Selections*, p. 491. Franklin's *Writings*, Vol. IX, p. 607.

with labels, Franklin may be called a moral pragmatist. A sentence in a letter of 1738 to his father mirrors his ethical convictions:

> I think opinions should be judged of by their influences and effects; and, if a man holds none that tend to make him less virtuous or more vicious, it may be concluded he holds none that are dangerous; which I hope is the case with me.[1]

"Virtue" and "vice" are for Franklin the eminent criteria in all judgment of action. In his *Busy-Body* papers he writes:

> Virtue alone is sufficient to make a man great, glorious, and happy.[2]

This pragmatic emphasis on virtue has led some of Franklin's critics to consider him merely an enlightened moralist without any really serious interest in the metaphysical background of life and ethics. In addition, they say, like all moralists he sometimes failed to live according to his principles. Defenders of a merely "natural" morality, who believed virtue without any admixture of religion or metaphysics was sufficient for guiding man upwards, were indeed not rare during the eighteenth century. In England and in France Franklin was surrounded by such "freethinkers"; but his friendship with them did not impede his admiration for George Whitefield, the Christian evangelist. Franklin had gone to one of Whitefield's religious meetings with the firm intention not to yield to the preacher's oratory. Notwithstanding, the evangelist moved him so deeply that during the collection he gave all the money he had in his pocket. After all, he liked efficiency, even if he found it among the fundamentalists from whom he had broken loose in early youth.

He confessed that at the age of fifteen he had become "a thorough deist,"[3] like many youths of his time who rebelled against their dogmatic education. By "deism" he meant the theory which understood the universe to be created by a prime mover but, after

[1] *Representative Selections*, p. 177. Franklin's *Writings*, Vol. II, p. 214.
[2] *Representative Selections*, p 142. Franklin's *Writings*, Vol II, p. 106.
[3] *Representative Selections*, p. 55. Franklin's *Writings*, Vol. I, p. 295.

the act of creation, to be regulated by immutable forces with which even their creator could not, or no longer wished to interfere. During his first stay in London, Franklin ventured an excursion into the thickets of metaphysical speculation and composed "A Dissertation on Liberty and Necessity, Pleasure and Pain" (1725).[1] In a rather syllogistic way, with the sureness of youth in matters concerning the universe, he argued that the attributes of God—namely, wisdom, power, and goodness—if combined with the concept of omnipresence, did not allow any distinction between vice and virtue; for if God, the *summum bonum et verum*, was present in all, how could anything be godless and sinful? This first philosophical attempt is interesting because of its mixture of deductive scholasticism, Spinozistic pantheism, and skepticism. Considering the youth and training of the author, the treatise betrays some talent. Franklin sees clearly the dilemma inherent in the Christian concept of God and of sin. If God is omnipresent and nothing happens without his will, how are godless deeds or sins possible?

But after the dissertation was finished, Franklin discovered that his own logic had lured him into an avenue which he, as a moral pragmatist, did not want to follow; he saw himself on the shortest and surest way of destroying the foundation of ethics. In addition, he could not help but observe that he and his freethinking friends were inclined to use the new philosophy as an excuse for moral laxity. Thus he gave it up. To use a famous phrase of William James, his "will to believe" showed itself stronger than the cool logic of his intellect.

The adventure, however, left its trace in Franklin's soul until his old age. When in 1786 he received the manuscript of a book against providence (it was probably the first draft of Thomas Paine's *The Age of Reason*), he answered in a form that shows an unusual degree of irritation.

I have read your manuscript with some attention. By the argument it contains against the doctrines of a particular Providence, tho' you allow a general Providence, you strike at the foundation

[1]*Representative Selections*, pp. 114–128.

of all religion. For without the belief of a Providence, that takes cognizance of, guards, and guides, and may favour particular persons, there is no motive to worship a deity, to fear its displeasure, or to pray for its protection. I will not enter into any discussion of your principle, tho' you seem to desire it. At present I shall only give you my opinion, that, though your reasonings are subtile, and may prevail with some readers, you will not succeed so as to change the general sentiments of mankind on that subject, and the consequence of printing this piece will be, a great deal of odium drawn upon yourself, mischief to you, and no benefit to others. He that spits against the wind, spits in his own face.[1]

Can one, however, dispense with the problem of truth so easily and decide to subordinate it to other, however valuable, purposes? Apparently Franklin never went deeper into the metaphysics of the relationship between truth and life than most modern pragmatists have. He was the man of action, not of theory; thinking was for him a means, not an end in itself; the end for him was a better life.

But is not the pursuit of truth, and of truth as such, an essential requisite for a better life? Franklin, in trying to disentangle the predicament, would probably have given the following answer: The universe is regulated by divine laws which the human being is capable of approximating. This approximation may occur by dint of the intellect, as the astronomer proves through his discovery of the motions of the planets; but the intellect is not the only tool available. Another one is action, still another our sense for right and not right, for justice and injustice—briefly speaking, our moral sense. If our moral sense and our logical thinking conflict, it betrays the fact that our approximation to the divine laws is, unfortunately, incomplete. As long as the question is pending, have we not the right to rely first of all on our moral sense and on the criterion of the greater effect, instead of setting theories above all other values? This is the hidden metaphysics behind Franklin's practical philosophy, and this metaphysics is in accordance with the tradition in English philosophy and with natural common sense.

[1]*Representative Selections*, pp. 484–485. Franklin's *Writings*, Vol. IX, pp. 520 f.

With the exception of the short period of juvenile doubt, Franklin clung to his moral pragmatism during his whole life. And as he was, in spite of all his distrust in theology, fundamentally religious, his moral pragmatism merged with a transcendent creed. Through all his writings and letters there shines a profound admiration for the ultimately divine essence in life and history. Several times his mind turned to the problem of faith and he wrote down several "Articles of Belief."[1]

All these documents show Franklin's suspicion with respect to dogmatic creeds. The question of the divinity of Jesus he leaves undecided—in all likelihood he doubts it—but he believes in the eternal character of the fundamental Christian values, in prayer, in the interest of Providence in individual destiny, in some kind of final judgment of human deeds, and in the immortality of the soul.

This firm ground of convictions prevented Franklin from any degeneration of tolerance into softness or indifference, irrespective of whether a moral or a political issue was at stake. He tried his best to avert a war with England, because he hated war. Had the English government behaved wisely, Franklin would have remained an ardent supporter of the idea of a great English empire, as he really was for some time But when he saw that the natural rights of his country (which for him were identical with the divine rights of men) were offended, he became one of England's most dangerous adversaries. Yet even here he did not allow his righteous ire to overcome his tolerance. When he heard that one of his English friends, William Strahan, had voted in Parliament for the war against the American colonies, he drafted the following letter:

Philadelphia July 5, 1775.

MR. STRAHAN,

You are a member of Parliament, and one of that majority which has doomed my country to destruction —You have begun to burn our towns, and murder our people.—Look upon your hands! They

[1]See especially "Articles of Belief and Acts of Religion" (1728), his letter "To George Whately" (1785), and his famous letter "To Ezra Stiles" (1790), in *Representative Selections*, pp. 130 f , 479 f , and 507 Cf. Franklin's *Writings*, Vol. II, p. 91; Vol IX, pp. 331 f.; Vol. X, pp 83 f

are stained with the blood of your relations!—You and I were long friends:—You are now my enemy,—and I am

Yours,

B. Franklin.[1]

But the letter was never sent. War between countries was for him one thing, personal relations another. Even during the hostilities he maintained, to the advantage of both sides, his relations with liberal-minded Englishmen, and when the fight was over he helped bridge the gap which had opened.

Franklin's Educational Thought

After this analysis of Franklin's general philosophy of life one could almost guess the prevailing direction of his educational thought. Education was for him a life process, going on not only in the individual, but also in the community, the nation, and mankind. Though formal schooling was indispensable in the great enterprise of civilization, yet it was only a part. The whole of education was for Franklin synonymous with the whole of life. Where virtue and welfare throve, there was also education; when they were neglected, education could not help. As water does not run uphill, schools cannot save a corrupt civilization.

Thus Franklin's several plans and proposals relating to special educational institutions were all linked with his general ideas about the improvement of society. Read some of the questions drawn up for the Junto, the discussion club in Philadelphia which he called "the best school of philosophy and politics that then existed in the province."[2]

Is self-interest the rudder that steers mankind, the universal monarch to whom all are tributaries?

Which is the best form of government . . . ?

Can any one particular form of government suit all mankind?

Is it consistent with the principles of liberty in a free government, to punish a man as a libeller, when he speaks the truth?[3]

[1]*Representative Selections*, p. 381. Franklin's *Writings*, Vol. VI, p. 407.

[2]*Representative Selections*, p. 59 (*Autobiography*). Franklin's *Writings*, Vol. I, p. 300.

[3]William Smith, *Eulogium on Benjamin Franklin*, pp 13 f. Philadelphia, 1792

The need felt in the Junto for books led Franklin to set on foot "my first Project of a public nature, that for a subscription library."[1] Through this project Franklin not only procured for his city one of the best libraries then available in the colonies, but he also initiated a general movement among his American fellow citizens which rendered this country the richest in public libraries in all the world and provided an inestimable source of information and elevation.

His "Proposal for Promoting Useful Knowledge among the British Plantations in America" (1743),[2] from which the American Philosophical Society issued, shows Franklin's intention to serve the unity and culture of his young country through the promotion of knowledge and research, in spite of all physical obstacles to mutual communication.

When finally Franklin began to turn his interest to the reform of formal education of youth, he was convinced that nothing could be done with the existing institutions of secondary and higher learning. Already, as a boy of sixteen, he had contributed to his brother's newspaper, the *New England Courant*, a biting satire against the uselessness, idleness, ignorance, and social injustice which he considered characteristic of Harvard College.[3]

One can understand the resentment of a talented boy who, merely because of his father's poverty, felt himself excluded from the halls of learning. Certainly the picture he drew was satirical and not quite accurate. On the other hand, not only in America but in almost all countries higher learning was at a low ebb in the first half of the eighteenth century; and young Benjamin, together with statesmen and educators of England, France, and Germany, despaired of the possibility of reforming education with the help of the higher institutions then existing. As an influential Philadelphia

[1] *Representative Selections*, p. 68 (*Autobiography*). Cf. Franklin's *Writings*, Vol. I, p. 312.

[2] *Representative Selections*, pp. 180 f. Franklin's *Writings*, Vol. II, pp. 228 f. See also *Educational Views of Benjamin Franklin*, edited by Thomas Woody, p 58. McGraw-Hill Book Company, New York, 1931.

[3] *Representative Selections*, pp. 98 f. ("Dogood Papers, No. IV," 1722). Franklin's *Writings*, Vol. II, pp. 9 f.

citizen at the age of forty-three, Franklin published his "Proposals Relating to the Education of Youth in Pensilvania" (1749). The new "Academy," for which he asked support, included the plan for a curriculum which deviated considerably from the traditional program of learning.[1] The first concern of the Academy was:

> That, to keep them [the students] in health, and to strengthen and render active their bodies, they be frequently exercised in running, leaping, wrestling, and swimming. . . .
>
> As to their studies, it would be well if they could be taught *every thing* that is useful, and *every thing* that is ornamental: But art is long, and their time is short. It is therefore proposed that they learn those things that are likely to be *most useful* and *most ornamental*. Regard being had to the several professions for which they are intended.[2]

He suggested two main innovations tending toward secularization and the utilization of education: one, emphasis on English and modern foreign languages (French, German, and Spanish); the other, emphasis on the several branches of mathematics and "natural and mechanic philosophy." An "English School" was proposed as an independent branch besides the Classical Department, and the methods of instruction were to be such as to lead the student to scientific experimentation, observation, and application.

> While they are reading natural history, might not a little *Gardening, Planting, Grafting, Inoculating*, etc., be taught and practised; and now and then excursions made to the neighbouring plantations of the best farmers, their methods observed and reasoned upon for the information of youth? The improvement of agriculture being useful to all, and skill in it no disparagement to any.[3]

[1]In the "Proposals" themselves Franklin omits a clear indication as to the age of the students This indication can be found in a letter to Samuel Johnson of October 25, 1750, where he says: "I suppose the boys in this school to be generally between 8 years of age and 16, and that after they leave they may have time to learn Merchandising, Husbandry, or any other profession (that does not need the learned languages) by which they are to be supported through life. If they have estates already provided for them, they may continue longer, and make a farther progress in philosophy." Cf. Franklin's *Writings*, Vol III, p. 21.

[2]*Representative Selections*, pp. 201 and 202 Franklin's *Writings*, Vol II, pp. 390 f.

[3]*Representative Selections*, pp. 205–206. Franklin's *Writings*, Vol. II, p. 395.

For the historian of education Franklin's "Proposals" contain no fundamentally new ideas. He refers in the introductory remarks and in the footnotes which accompany the text in great number to such men as Milton, Rollin, Turnbull, Hutchinson, Walker, and particularly to Locke; yet he would not have accepted their theories had they not complied with his own judgment. His discussion about the advantages and shortcomings of the Socratic method[1] shows that he had personally reflected upon the methods of teaching. With fine understanding of the secret underlying all effective conveyance of ideas, he quotes Pope's "judicious" statement:

> Men should be taught as if you taught them not,
> And things unknown proposed as things forgot.

This is really the apex of educational wisdom.

Though there was theoretically nothing revolutionary in the "Proposals," the early history of the newly founded Academy, as well as Franklin's own complaints about the neglect of the English Department,[2] show that even America was not yet ripe for a more realistic education. After his return from long absence he discovered that the English School of the Academy had been slighted in favor of the Classical Department. With an undertone of resignation, he concluded:

> But there is in mankind an unaccountable prejudice in favor of ancient customs and habitudes, which inclines to a continuance of them after the circumstances, which formerly made them useful, cease to exist.[3]

Not only his contemporaries but also later generations blamed Franklin for his "utilitarian" conception of education. Certainly the remark in which he calls the ancient languages "the *chapeau bras* of modern literature" was no compliment for the typical

[1] *Representative Selections*, p. 17. Franklin's *Writings*, Vol. I, p. 244

[2] See "Observations Relative to the Intentions of the Original Founders of the Academy in Philadelphia," in Franklin's *Writings*, Vol. X, pp. 9 f

[3] Franklin's *Writings*, Vol. X, p. 30.

humanist instruction of his time.[1] Yet what says the sentence in which this remark is found? It is only one of the frequent expressions of revolt going on in Franklin's period against the monopoly claimed by the classical languages with respect to any kind of advanced education.

> The still prevailing custom of having schools for teaching *generally*[2] our children, in these days, the Latin and Greek languages, I consider therefore, in no other light than the *chapeau bras* of modern literature.

No doubt in his popular writings, such as *Poor Richard's Almanack*, or in essays like his "Advice to a Young Tradesman" (1748),[3] Franklin's practical and utilitarian spirit comes clearly to the fore. He admonishes the common people, of whom he always and proudly counted himself one, never to forget that "time is money," to invest their earning profitably, and to look properly for their advantage. How otherwise could he have impressed a generation of pioneers who knew that they would perish were their feet not firmly on the ground, their hands clinging tightly to the plow, and their products sold profitably? Certainly few printed sentences awakened so much confidence in the minds of these men as Franklin's own humorous confession in the "Preface to Poor Richard, 1733":

> COURTEOUS READER,
> I might in this place attempt to gain thy favour, by declaring that I write Almanacks with no other view than that of the public good; but in this I should not be sincere; and men are nowadays too wise to be deceived by pretences how specious soever. The plain truth of the matter is, I am excessive poor, and my wife, good woman, is, I tell her, excessive proud; she cannot bear, she says, to sit spinning in her shift of tow, while I do nothing but gaze at the stars; and has threatned more than once to burn all my books and rattling-traps (as she calls my instruments) if I do not make some profitable use of them for the good of my family. The printer has

[1]Franklin's *Writings*, Vol. X, p 31.
[2]Italics are by the author
[3]*Representative Selections*, pp. 196 f. Franklin's *Writings*, Vol. II, p. 370.

offer'd me some considerable share of the profits, and I have thus begun to comply with my dame's desire.[1]

For Franklin profit without honesty is no profit, but self-deception. There can be no utility without virtue, and no virtue without some sacrifice. And much use may come from things which are not immediately profitable. That is the case with ancient languages, provided those who teach and learn feel themselves committed to help in the promotion of their own civilization. With his strong sense for history Franklin knew that they were an essential element in the preservation of a liberal civilization. He himself, in his few spare hours, learned Latin and several modern languages and read great literature widely. The end of all instruction whatsoever was, for Franklin, not one or the other kind of knowledge, nor one or the other kind of special utility, but usefulness in the sense in which the eighteenth century understood it, as the general welfare of mankind. This welfare not only depends on external factors but is inseparable from the preservation and continuous renewal of the fundamental human values:

With the whole [process of instruction] should be constantly inculcated and cultivated, that *benignity of mind*, which shows itself in *searching for* and *seizing* every opportunity *to serve* and *to oblige;* and is the foundation of what is called GOOD BREEDING; highly useful to the possessor, and most agreeable to all.[2]

[1]*Representative Selections*, p. 169 Franklin's *Writings*, Vol. II, p. 196.
[2]*Representative Selections*, p 206 Franklin's *Writings*, Vol. II, p 396.

Thomas Jefferson

(1743–1826)

Jefferson's Personality

If Thomas Jefferson had lived in the Italy of the sixteenth century, he would probably have become one of the great representatives of the Renaissance. His interests were of unique universality and his talents equaled his interests. He loved the ancient languages, and classical authors remained his friends throughout his life. He quoted frequently from their works, though never with the intention of embellishing an idea but always of lending it more pith and color. He cherished books as did Petrarch and Lorenzo Valla. He could write long and excited letters about astronomical events[1] and botanical problems;[2] nature was for him not just woods, mountains, and rivers but an inexhaustible source of inspiration for his great and all-embracing soul. As farmer and gardener, he not only cultivated the land and experimented with it but adored its beauty and fertility. He was a master architect who, like the great Renaissance builders, did not fear to lose his originality when he followed great examples.

Loving, as you do, Madam, the precious remains of antiquity, loving architecture, gardening, a warm sun and a clear sky, . . .[3]

[1]See *The Writings of Thomas Jefferson*, Definitive Edition, edited by Albert Ellery Bergh. 20 vols. in 10. The Thomas Jefferson Memorial Association, Washington, D. C, 1907 Cited in the following as· *The Writings*. Note especially the letter to Dr. Ezra Styles, July 17, 1785, Vol. V, p. 35.

See also *Alexander Hamilton and Thomas Jefferson: Representative Selections*, with Introduction, Bibliography, and Notes by Frederick C. Prescott, p. 248 (American Writers Series). American Book Company, New York, 1934. Cited in the following as: Prescott.

[2]See "To Francis Hopkinson," Dec. 23, 1786, in Prescott, pp. 260 f. Cf. *The Writings*, Vol. VI, pp 220 f.

[3]"To Madame la Comtesse de Tesse," March 20, 1787. *The Writings*, Vol. VI, p 104, Prescott, p. 270.

This quotation contains the key to the melody of Jefferson's personality.

Like many of the great figures of Antiquity and the Renaissance, Jefferson was also a master in the art of friendship. His friends were, perhaps, his most influential teachers, in turn he educated them. He was devoted to his family, in such a manner as had once been demanded in the *Tratatto della Famiglia* by Leone Battista Alberti, one of the foremost humanists of the Renaissance. He was happy in the company of youth, and he considered helping them to be one of his noblest offices. In judging people, he not only valued what they did and how they expressed themselves (language was for him, who preferred to be silent and to listen, one of the great wonders of the mind), but also observed their posture and gestures. When he described the character of his friend Washington, he did not fail to mention that his stature was·

> . . . exactly what one would wish, his deportment easy, erect, and noble; the best horseman of his age, and the most graceful figure that could be seen on horseback.[1]

His senses were as cultivated as his mind. The letter written at Nimes to the Comtesse de Tesse, already mentioned, begins with the following sentences:

> Here I am, Madam, gazing whole hours at the Maison Quarrée, like a lover at his mistress. The stocking weavers and silk spinners around it consider me a hypochondriac Englishman, about to write with a pistol the last chapter of his history. This is the second time I have been in love since I left Paris. The first was with a Diana at the Château de Laye-Epinaye in Beaujolais, a delicious morsel of sculpture, by M. A. Slodtz. This, you will say, was in rule, to fall in love with a female beauty; but with a house! it is out of all precedent. No, Madam, it is not without a precedent in my own history. While in Paris, I was violently smitten with the Hôtel de Salm, and used to go to the Tuileries almost daily, to look at it.

[1]"To Walter Jones," Jan. 2, 1814 *The Writings*, Vol. XIV, p. 49; Prescott, p 382.

[2]*The Writings*, Vol. VI, p 102. Prescott, p. 269.

But in spite of his sensitiveness to the aesthetic side of life, he never indulged in sensuality; and his love of beauty, thoroughbred horses, good wines, and the good dishes which he set before the many visitors to his exquisite home at Monticello never disturbed the equilibrium of his naturally balanced personality and the regularity of his work.

Last, but not least, he reminds us of the noblest figures of ancient times and the Renaissance in that he could give up all—the comfort of his home and his family, his beloved studies, and even his friends—for the *nobilissimum officium* of a citizen, the service of his country.

But Jefferson was richer than the aristocratic *uomo universale* of the sixteenth century. Individualist though he was, and much though his birth and status would have permitted him to cultivate his own personality as an end in itself, he was a democrat and he loved the common man. Nor was his individualism merely a spiritual conviction, as was the case with most of the religious leaders of the Reformation; it passed from a personal attitude over into social and political life. In one conviction he was unshakable to the point of one-sidedness; this was his hatred of every sort of absolutism or even monarchism. Taken out of their individual historical contexts, many of his generalizations about kings and priests could easily be proved false. His opinion of the churches was influenced by the religious wars, persecutions, and witch trials to which the older of his own contemporaries had been witness. His opinion of the monarchy was naturally colored by the acts of suppression on the part of the English crown against the American colonists, and by the impressions he received during his diplomatic activities. Indeed, it was not easy for a liberal, beholding the decline of absolutism, to appreciate its historical significance in earlier periods of European history, or to anticipate the progressive development of some modern constitutional monarchies. His letters from Europe are filled with expressions of disgust at the exploitation of the people on the part of the potent in all countries, including England.

From Paris, where he served as American minister and successor to his friend Benjamin Franklin, he wrote:

If anybody thinks that kings, nobles, or priests are good conservators of the public happiness, send them here. It is the best school in the universe to cure them of that folly. He will see here, with his own eyes, that these descriptions of men are an abandoned confederacy against the happiness of the mass of the people.[1]

In another letter:

Behold me at length on the vaunted scene of Europe! It is not necessary for your information, that I should enter into details concerning it. But you are, perhaps, curious to know how this new scene has struck a savage of the mountains of America. Not advantageously, I assure you. I find the general fate of humanity here most deplorable. The truth of Voltaire's observation offers itself perpetually, that every man here must be either the hammer or the anvil.[2]

But he knew only too well that even his own country was not free from the temptation of delegating his freedom, even voluntarily, to dictators and monarchs. Despairingly he wrote in his *Notes on Virginia:*

In December 1776, our circumstances being much distressed, it was proposed in the house of delegates to create a *dictator,* invested with every power legislative, executive, and judiciary, civil and military, of life and death, over our persons and over our properties; and in June 1781, again under calamity, the same proposition was repeated, and wanted a few votes only of being passed. One who entered into this contest [the Revolution] from a pure love of liberty, and a sense of injured rights, who determined to make every sacrifice, and to meet every danger, for the re-establishment of those rights on a firm basis, who did not mean to expend his blood and substance for the wretched purpose of changing this matter for that, but to place the powers of governing him in a plurality of hands of his own choice, so that the corrupt will of no

[1] "To George Wythe," Aug. 13, 1786. *The Writings,* Vol. V, p. 396; Prescott, p. 257.

[2] "To Charles Bellini," Sept. 30, 1785. *The Writings,* Vol. V, p. 152; Prescott, p. 251.

one man might in future oppress him, must stand confounded and dismayed when he is told, that a considerable portion of that plurality had meditated the surrender of them into a single hand, and, in lieu of a limited monarch, to deliver him over to a despotic one! How must he find his efforts and sacrifices abused and baffled, if he may still, by a single vote, be laid prostrate at the feet of one man![1]

Coming back from France, he again discovered reactionary tendencies within his own people. Immediately the author of the Declaration of Independence ("We hold these truths to be self-evident: that all men are created equal") set out to buttress the Constitution with the Bill of Rights ("Congress shall make no law respecting an establishment of religion, or prohibiting the free exercise thereof; or abridging the freedom of speech, or of the press; or the right of the people peaceably to assemble, and to petition the government for a redress of grievances").

So deeply was he convinced of the necessity of overthrowing feudalism that he belonged to the few liberals outside of France who, in spite of all the cruelty of the French revolution, believed in its necessity as well as in its ultimately beneficent effect on all Europe.

Jefferson's Ideas on Education

More than anything else, Europe and its catastrophes convinced Jefferson of one imperative need that he had emphasized as long as he had been interested in statesmanship, namely, that of a continuous and systematic system of public education, without which democracy was bound to perish.

The first action he considered necessary for the purpose of raising the general level of education was of a more negative character—to free the people from coercion in religious matters, for there could be no democracy without religious freedom. The opportunity for such a reform was offered to Jefferson when he became a member of a committee on the revision of the constitution of Virginia

[1] *Notes on Virginia*, Query XIII. *The Writings*, Vol II, pp. 173 f, Prescott, p 229.

(1776–1779) His Act for Establishing Religious Freedom was passed by the assembly:

That the impious presumption of legislators and rulers, civil as well as ecclesiastical, who, being themselves but fallible and uninspired men, have assumed dominion over the faith of others, setting up their own opinions and modes of thinking as the only true and infallible, and as such endeavoring to impose them on others, hath established and maintained false religions over the greatest part of the world, and through all time; that to compel a man to furnish contributions of money for the propagation of opinions which he disbelieves, is sinful and tyrannical.[1]

But in the same committee on revision Jefferson immediately passed over from proposals intended to remove the obstacles to religious freedom to positive propositions. Like Franklin, he suggested the establishment of a public library, but without the success of his older friend. The most essential requisite of liberty, however, Jefferson considered to be a democratic reform of the schools of Virginia. His Bill for the More General Diffusion of Knowledge, proposed to the legislature of his state in 1779, already contains the essential elements of Jefferson's educational policy. Here, as in Jefferson's whole personality, we find the most interesting mixture of aristocratic and democratic elements: the idea of an intellectual elite is aristocratic; the insistence on recruiting this elite from the talented youth of the state, even from the poorest homes, is democratic. The bill proposes—we follow here closely the description given by Jefferson himself in his *Notes on Virginia:*

. . . to lay off every county into small districts of five or six miles square, called hundreds, and in each of them to establish a school for teaching reading, writing, and arithmetic.[2]

The teacher has to be supported by the hundred, and all parents have the right to send their children to this elementary school for three years without paying tuition, "and as much longer as they please, paying for it."

[1]*The Writings*, Vol. II, Appendix No III, p. 301. Prescott, p. 253.
[2]*Notes on Virginia*, Query XIV. *The Writings*, Vol. II, p. 203; Prescott, pp 232–233.

In each hundred a "visitor," to wit, a person of public merit and confidence, is entrusted with the general supervision of the elementary school and, in addition, with the task:

> . . . to choose the boy of best genius in the school, of those whose parents are too poor to give them further education, and to send him forward to one of the grammar schools, of which twenty are proposed to be erected in different parts of the country, for teaching Greek, Latin, geography, and the higher branches of numerical arithmetic.[1]

These boys, sent from the elementary schools of the hundreds to the twenty grammar schools, are to be tried out for one or two years.

> . . . and the best genius of the whole selected, and continued six years, and the residue dismissed. By this means twenty of the best geniuses will be raked from the rubbish annually, and be instructed, at the public expense, so far as the grammar schools go. At the end of six years' instruction, one-half are to be discontinued (from among whom the grammar schools will probably be supplied with future masters); and the other half, who are to be chosen for the superiority of their parts and disposition, are to be sent and continued three years in the study of such sciences as they shall choose, at William and Mary college, the plan of which is proposed to be enlarged . . and extended to all the useful sciences. The ultimate result of the whole scheme of education would be the teaching all the children of the State reading, writing, and common arithmetic; turning out ten annually, of superior genius, well taught in Greek, Latin, geography, and the higher branches of arithmetic; turning out ten others annually, of still superior parts, who, to those branches of learning, shall have added such of the sciences as their genius shall have led them to; the furnishing to the wealthier part of the people convenient schools at which their children may be educated at their own expense. The general objects of this law are to provide an education adapted to the years, to the capacity, and the condition of every one, and directed to their freedom and happiness.[2]

[1]*Notes on Virginia*, Query XIV. *The Writings*, Vol. II, p. 203. Prescott, p. 233

[2]*Notes on Virginia*, Query XIV. *The Writings*, Vol. II, pp. 203 f. Cf Prescott, p 233.

With this project, as well as with its revision, the Bill for Establishing a System of Public Education of the year 1817, Jefferson had the same disappointing experience that Franklin had with his proposal of an English School; the public was not yet ripe for it. After frequent talk in the Assembly of Virginia, much of which was more a show than a true expression of public interest on the part of the delegates, the bill of 1779 was "amended" in such a way that its final acceptance did not alter the *status quo*. The initiative was put in the hands of the local authorities—and nothing happened. But just as Franklin's plan of a more realistic academy—though defeated in its essential points—eventuated in the foundation of the University of Pennsylvania, so Jefferson's educational endeavors between 1779 and 1817 ended at last in the founding of the University of Virginia. Jefferson could even devote the last years of his life to the presidency of the new institution, the buildings of which had been erected according to his own plans.

A careful analysis of Jefferson's different plans for a reform of higher education would bring to light some of the finest features in his own personality, as well as his opinion about the responsibility of higher education for the cultural development of this country; it would show also the manifold influences which, deriving from almost all important European countries, worked on Jefferson's mind. From the beginning of his political career, he used his wide reading as well as his sojourn in Europe for gathering all possible information on modern plans for reform in higher education, in which the period abounded.[1] Here it can be mentioned only that Jefferson's personal taste reveals itself in his insistence on an attempt at student government. It was one of the last disappointments of his life that he had overestimated the maturity of the students. He remained loyal to his own tradition in his emphasis on the secular character of the University of Virginia; he provided no chair for theology and secured full freedom from sectarian

[1]See especially Roy J. Honeywell, *The Educational Work of Thomas Jefferson* (Harvard Studies in Education, Vol. 16) Harvard University Press, Cambridge, Mass., 1931.

restrictions. He also preferred a system of electives to the rigid curricular structure customary in the colleges of his time.

Jefferson has often been criticized for his intervention in the teaching of political science at the university, which he clearly steered toward the Republican side against the "slide into Toryism." To Madison he wrote in 1826:

> In the selection of our Law Professor we must be rigorously attentive to his political principles.[1]

But taking such a realistic standpoint, he preserved academic freedom better than if he had allowed a Tory to exercise his influence on the youth of Virginia. Academic freedom means respect for truth and the right of the scholar to follow his intellectual and moral conscience without persecution, but it cannot mean that the only professorship for political science available at a small university ought to be given to the representative of a doctrine opposite to the ideals of the supporters of such a university, who seriously believe that they stand for the liberal development of their country.

Like Franklin, Jefferson has been called a "utilitarian" for his disinclination for metaphysics, and for the large space which he gave in his university to the departments or "schools" occupied with science or with applied sciences. Jefferson also related the programs of study more closely to the patterns of modern professional life than the other educators in this country dared to do. In this respect he accepted ideas expressed by European liberal reformers, particularly by Condorcet in his *Rapport . . . sur l'Organisation Générale de l'Instruction* of the year 1792.[2]

There can be no doubt that the merits and the demerits of these European ideas are almost equal. Their merits lie in the emphasis on a free and empirical education adjusted to the culture and scien-

[1] "To James Madison," February 17, 1826, in *The Writings*, Vol XVI, p. 156

[2] See *French Liberalism and Education in the Eighteenth Century; The Writings of La Chalotais, Turgot, Diderot, and Condorcet on National Education*, translated and edited by F. de la Fontainerie. McGraw-Hill Book Company, New York, 1932

tific consciousness of the time, the liberation of scholarship from the censorship of religious and political absolutism, and the inclusion of education in the responsibilities of the commonwealth. In this way the French liberals transferred the ideas initiated by Luther and the Calvinists into the Catholic countries. The demerits of the reform plans of the eighteenth century rationalists lie in their unawareness of the dangers inherent in the appointment of sovereign governments and their bureaucracy as supreme umpires in cultural matters. In addition, the rationalist reformers of Europe advocated a rather atomistic concept of learning and research which cut the *globus intellectualis* into separate continents and thus imperiled the spiritual and organizational unity of the European university tradition. Some such unity must be preserved, together with the inevitable division of labor among the various modern professions. It can be done only through laying a general liberal foundation before specialization begins; and this was exactly Jefferson's ideal. In addition, the preservation of this unity requires a common spirit of responsibility toward the great values of mankind in the teaching of whatever subject on whatever level. This is also what Jefferson wished. Thus it depends on the definition of the term whether we may call Jefferson a "utilitarian" or not. If a utilitarian is one who wants education to free itself of bookishness and isolation and to serve all the worthy pursuits of mankind, whether theoretical or applied, then Jefferson may certainly be described as a utilitarian. But taken in this sense the word loses all distinct meaning; for what sensible educator or statesman would not fall into this category?

If, on the other hand, the term "utilitarianism" denotes a narrow conception of education, as if it were an enterprise destined for nothing but practice and profit, then Jefferson is certainly on the opposite side. How could a man of Jefferson's character be anything but an ardent supporter of the essential values of a liberal education?

Here, in spite of many similarities, is the difference between Franklin and Jefferson. For Franklin—as his autobiography shows

—everything was related to a purpose: a moral, or a scientific, or a practical purpose. When he enjoyed a certain luxury, as the china or the silver on his table, he thought how difficult it had been to earn the money for the first piece and how much they were worth. This is, after all, in character for the man who cannot easily forget the nights he has passed in toil and the sweat of labor that has been on his brow. For Jefferson, though he was born on the frontier—"the savage of America," as he called himself in Europe—a certain largeness was the most natural thing. Money was for him a basis of life, never an aim. When he augmented his estate, experimented with plants and seeds, invented new tools and made a model farm out of his property, he did it because he enjoyed it and wanted to do everything as perfectly as possible. And when his Monticello became one of the most attractive homes in America and his hospitality grew out of proportion to his income, he contracted debts, for friendship with him stood higher than money.

Jefferson disliked the cities and manufacturing which for Franklin were a kind of elixir of life. It probably cost Jefferson an effort in his inaugural addresses as President of the United States to put industry beside agriculture as one of the pillars of American wealth. Profoundly fascinated though he was by new discoveries, his attitude was nevertheless always much more that of a humanist who enjoyed the broadening of the human horizon than that of a modern technical executive. He would have admired work on a modern running conveyor for the skill, the timing, and the grandeur that goes with large-scale production, but he would have considered it deplorable; for man, not the machine, was for him the end of human effort. Therefore Jefferson considered classical studies to be the indispensable foundation of culture.

The learning [of] Greek and Latin, I am told, is going into disuse in Europe. I know not what their manners and occupations may call for; but it would be very ill-judged in us to follow their example in this instance.[1]

[1]*Notes on Virginia*, Query XIV. *The Writings*, Vol. II, p. 205. Prescott, p. 234

The Romans were in his opinion a richer source of wisdom than the Greeks. He disliked all mysticism, however profound, therefore he had no understanding of Plato.

I name not Plato, who only used the name of Socrates to cover the whimsies of his own brain.[1]

But Jefferson's humanism did not prevent him from joyfully including the natural sciences in the realm of human interests. On the contrary, taking all the utterances of Jefferson on learning and education together, one has some reason to believe that for him the exact sciences were the apex of intellectual effort. He considered them the purest expression of the quality from which human dignity issues, the power of reason. He was aware of living in a great era in which science succeeded increasingly in destroying "ignorance and superstition," and in blasting the road for rational and democratic ways of life. From this exalted hope the progressives of the eighteenth century received their inspiration. It was also in this hope that the limitations of their insight into the structure of human history originated. Caught in a kind of intellectual short circuit, they ascribed human suppression, vice, and weakness exclusively to lack of reason and to the attempt of "priests and kings" to extinguish freedom of thinking whenever it began to lighten the human mind. But these progressives did not sufficiently acknowledge the fact that emotional elements, such as tradition, deeply rooted beliefs, mores, greed, inertia, and—above all—the natural moral insufficiency of man, also play their parts in the complicated game of civilization. Nor could these liberals anticipate the extent to which scientific reasoning itself has its inherent limitations. They were far from clear about the intricate problem of the relationships among reason, science, and faith. Can the human intellect alone create the convictions and the faith on which, ultimately, the beneficent effect of all human effort depends, including that of reason itself? Or cannot reason, if applied to isolated purposes and divorced from all the other responsibilities

[1] "To Benjamin Rush," April 21, 1803. *The Writings*, Vol. X, p. 383. Prescott, p. 342.

of man, create the same disharmony in civilization as religion, if separated from reason?

With respect to Jefferson, we must say simply that he did not think these problems through. In a letter to Peter Carr he writes:

> Fix reason firmly in her seat, and call to her tribunal every fact, every opinion. Question with boldness even the existence of a God; because, if there be one, he must more approve of the homage of reason, than that of blindfolded fear.[1]

But the very same letter also shows Jefferson doubting the omnipotence of reason, and particularly one of its creations, namely, science.

> He who made us would have been a pitiful bungler, if he had made the rules of our moral conduct a matter of science. For one man of science, there are thousands who are not. What would have become of them? Man was destined for society. His morality, therefore, was to be formed to this object. He was endowed with a sense of right and wrong merely relative to this. This sense is as much a part of his nature, as the sense of hearing, seeing, feeling; it is the true foundation of morality, and not the τὸ καλόν, truth, etc., as fanciful writers have imagined. The moral sense, or conscience, is as much a part of man as his leg or arm. It is given to all human beings in a stronger or weaker degree, as force of members is given them in a greater or less degree. It may be strengthened by exercise, as may any particular limb of the body. This sense is submitted, indeed, in some degree, to the guidance of reason; but it is a small stock which is required for this; even a less one than what we call common sense. State a moral case to a ploughman and a professor. The former will decide it as well, and often better than the latter, because he has not been led astray by artificial rules.[2]

If one compares these two quotations he cannot fail to see a certain contradiction The first quotation holds reason to be the supreme arbiter; it could have been written by men such as Diderot, De Volney, or Thomas Payne. In the second quotation morality,

[1] "To Peter Carr," August 10, 1787. *The Writings*, Vol. VI, p 258 Prescott, p. 274.
[2] *The Writings*, Vol. VI, p. 257 f. Prescott, p. 273.

or an inborn sense of right or wrong, is set above reason. Whence does this sense come? To this question Jefferson gives no answer. The answer lies embedded in his ethical humanism, which is not without a deep religious background. But he failed to make the elements of his creed explicit.

In the last analysis, Jefferson's democratic convictions also spring from his ethical humanism, not from dogmatic belief in special forms of organization. Therefore his concept of equality is far from involving a tendency toward leveling; rather, it issues from the fundamentally Christian idea of the dignity of the individual and a consequent desire to lift men from lower to higher stages of life. Every man, as man, is an aristocrat in his own right. It is this creed that led Jefferson to prefer occasional disappointment to a generally distrustful attitude toward men. It is due to the same attitude that in his political studies he turned more and more away from merely legal arguments toward a general acceptance of the doctrine of natural law and natural rights. In a letter to Roger C. Weightman, written on June 24, 1826, a few days before his death, he expresses this conviction in the following inspiring words:

> May it [the American Revolution] be to the world, what I believe it will be (to some parts sooner, to others later, but finally to all), the signal of arousing men to burst the chains under which monkish ignorance and superstition had persuaded them to bind themselves, and to assume the blessings and security of self-government. That form which we have substituted, restores the free right to the unbounded exercise of reason and freedom of opinion. All eyes are opened, or opening, to the rights of man. The general spread of the light of science has already laid open to every view the palpable truth, that the mass of mankind has not been born with saddles on their backs, nor a favored few booted and spurred, ready to ride them legitimately, by the grace of God. These are grounds of hope for others. For ourselves, let the annual return of this day forever refresh our recollection of these rights, and an undiminished devotion to them.[1]

[1] "To Roger C. Weightman," June 24, 1826. *The Writings,* Vol. XVI, pp. 181 f Prescott, pp. 402–403.

It was due to these ideas that Jefferson—like Franklin—regarded the existence of slavery as a disease in the American body politic.

> There must doubtless be an unhappy influence on the manners of our people produced by the existence of slavery among us. . . . The man must be a prodigy who can retain his manners and morals undepraved by such circumstances. . . . With the morals of the people, their industry also is destroyed. . . . Indeed I tremble for my country when I reflect that God is just; that his justice cannot sleep forever.[1]

But the belief in the fundamental dignity and equality of men which Jefferson cherished did not prevent him from acknowledging differences of quality and merit. As we know, he hated, to the degree of one-sidedness, the European nobility, with the "horde of kings"[2] at its head; he was against any kind of hereditary privilege in this country as well as in others; but, on the other hand, he was convinced that democracy, more than any other social order, needed a "natural aristocracy."

> For I agree with you, that there is a natural aristocracy among men. The grounds of this are virtue and talents. . . . The natural aristocracy I consider as the most precious gift of nature, for the instruction, the trusts, and government of society. . . . May we not even say, that that form of government is the best, which provides the most effectually for a pure selection of these natural *aristoi* into the offices of government?[3]

What else, after all, was his proposal of the school reform in his native state of Virginia but an attempt to select these natural *aristoi*?

Not without a certain feeling of melancholy do we think nowadays of statesmen like Jefferson, who combined in their nature this richness of beauty and talent. "One by one the lamps of loveliness are going out." But should they fade for too long a time,

[1]*Notes on Virginia,* Query XVIII. *The Writings,* Vol. II, pp. 225 f. Prescott, p 242

[2]*Autobiography. The Writings,* Vol I, p 151 Prescott, p. 291.

[3]"To John Adams," October 28, 1813. *The Writings,* Vol. XIII, p. 396. Prescott, p. 375.

our civilization would perish with them, because there are two types of personality without which no society of free and self-reliant people can thrive. One is represented by Benjamin Franklin, the proud, industrious, and thrifty man with a trained and experienced common sense; and the other type is represented by Thomas Jefferson, the highly cultured, yet democratically minded, natural aristocrat, who expressed the guiding principle of his life most clearly in his letter of January, 1787, to James Madison:

Malo periculosam libertatem quam quietam servitutem.[1] ("I prefer freedom though fraught with dangers to servitude with security.")

[1] "To James Madison," January 30, 1787. *The Writings*, Vol. IV, p. 65 Prescott, p. 263.

Johann Heinrich Pestalozzi

(1746–1827)

The Evening Hour of an Hermit

There are moments in the life of man when he grasps the essence of his existence in one visionary intuition. Such a moment occurred to Pestalozzi when his first great life experiment had broken down. At Neuhof near Zurich in Switzerland, after an emotionally unbalanced youth, he had settled down as a farmer and tried to combine agriculture with the education of the children of poor peasants, of whom there were plenty in his neighborhood. After some time he failed financially; and as an educator also he considered himself bankrupt. One evening he jotted down some aphorisms, *Die Abendstunde eines Einsiedlers*[1] ("The Evening Hour of an Hermit"), in which he tried to give an account of his educational ideas One must read them many times in order to fully appreciate their wisdom. In a sense, all his later works were nothing but an elaboration of them. Everywhere, even in the wording, one feels the spirit of Rousseau; but there is no imitation or pupilship. Every word and idea is formed by Pestalozzi's own mind.

He starts with the Rousseauist theme of *retournez à la nature.*

Man who is the same whether on the throne or in a hut, what is he in his innermost nature? Why do not the wise tell us? Why are the greatest of our thinkers not concerned to know what their race is? Does a peasant use his ox without knowing it? Does not a shepherd care for the nature of his sheep?

And you who use man and profess that you guard and nurture him, do you care for him as the peasant cares for his ox? Do you tend him as the shepherd tends his sheep? Does your wisdom help you to understand truly your race and is your goodness the goodness of enlightened guardians of the people?[2]

[1]The first draft of *The Evening Hour of an Hermit* was made in 1779.
[2]Translations from *The Evening Hour of an Hermit* are by the author

As in Rousseau, there is in these lines not only the cry for a more natural life but also the political unrest of the period before the French Revolution. Pestalozzi, as a student in Zürich, had lived with a group of political reformers. He himself had been arrested and considered by the patricians of the city as dangerous to the stability of society. Certainly Pestalozzi believed in equality: "Man who is the same whether on the throne or in a hut." But as a true revolutionary, Pestalozzi does not remain in a merely questioning mood; he immediately passes over toward a positive answer.

> Man, driven by his needs, can find the road to this truth nowhere but in his own nature.
>
> The nursling, his hunger satisfied, learns in this way what his mother is to him; she develops in him love, the essence of gratitude, before the infant is able to utter the words "duty" and "thanks"; in the same natural way the son finds his happiness in the duties towards his father who gives him bread and a hearth to warm himself.

So for Pestalozzi the deepest source of development and education lies in the experience of love which a person has as a child in relation to his parents. If he is put firmly on this "road of Nature," he will understand without many words the most essential moral elements of human life, namely, fellowship, peace, gratitude, and justice. He will also feel what is right for him and what is not.

> Man, if you seek truth in this way of Nature, you will find it as you need it according to your station and your career. . . .
>
> Following the path of your nature you cannot make use of all truths. The sphere of knowledge from which man in his individual station can receive happiness is limited; its sphere begins closely around him, around his own self and his nearest relationships; from there his knowledge will expand, and while expanding it must regulate itself according to this firm center of all the powers of truth.

So Pestalozzi supplements the idea of the essential equality of man with the idea of individuality, which man must recognize with all its strength and limitations in order to achieve productivity and

happiness. Do not try to extend your activity over areas you cannot connect organically with your previous experiences and with the convictions from which you receive your inner balance and certainty. For the educator this means: never throw a child out of his own self. Do not engage children "in the thousandfold confusion of verbal instruction and opinions, before having trained their minds for truth and wisdom through firsthand knowledge." Only a person who has been molded by the influence of events, whose relation to himself and others he has really understood, can expose himself to the richness of life without being bewildered, because his inner certainty will direct him. "Power, strong and clear sentiments, and a sense for right application are its expression."

With this truth in mind, Pestalozzi now attacks the "artificial methods of schooling" of his time, which prefers "words to things" and forges "ahead of the free, slow, and patient course of Nature," and gives man a superficial polish which gratifies the superficial standards of modern civilization but conceals the lack of natural power within a person. From such unsound education results "the wretched and exhausting pursuit of the mere shadow of truth."

Only men educated in the "road of Nature" can understand and estimate one another, because they will develop a pure sense of simplicity and uprightness. They will also know that man can use his strength and knowledge best only in clearly defined situations. In this context Pestalozzi emphasizes the necessity of vocational and class education. This may sound surprising to those who know Pestalozzi as the prophet of equality in education; yet the two aspects are, at least from Pestalozzi's point of view, not contradictory. For his concept of equality means not uniformity but the full acknowledgment of nature as it develops diversely in different men and relates them thus to different strata and vocations of life. Everybody has to follow the "road of Nature," but it is not the same road for everybody. The less gifted have to go through other experiences and choose other tasks than do those endowed with unusual talent. If a school tried to treat the two in one and the

same way, it would kill the talent in the talented, and the possibility of proper and practical adjustment for the average, and neither of them would be happy. So differentiation is inevitable, and it contributes to the richness of human life. But above all variety starts the unity of humanity, and those who put the differences above the unity reverse the order of nature. Therefore the same Pestalozzi who is for a differentiated society and education can also say:

> Whoever departs from this natural order and lays artificial emphasis on class and vocational education, or training for rule or for service, leads man aside from the enjoyment of the most natural blessings to a sea of hidden dangers.

A society with a differentiated training of youth, which does not at the same time acknowledge the democratic right of all to develop and serve mankind according to their particular abilities, is a "class society" in the negative and dangerous sense of the term. It can only end in catastrophe, as did the absolutist and patriarchical society of the eighteenth century, whose downfall Pestalozzi clearly anticipated.

So far Pestalozzi's ideas move within psychological and sociological concepts. Positive experiences in early childhood—so he says—tend to create confidence and to bring forth morally positive reactions. Through an uninterrupted series of favorable stimuli of conscious or subconscious character, an ego is being formed which will allow for a natural formation of a moral super-ego, and the result will be a mature and well-directed personality.

But later in the course of his *Evening Hour of an Hermit* Pestalozzi surprises us with a sentence which almost abruptly leads from psychology and sociology into metaphysics. He says: "God is the nearest relationship of man." So he adds to the horizontal level of contact between man and man a vertical line which connects the human being and his relations with a divine spirit. Merely sociological relationships are ethically neutral. Men can interact according to the principle of love, and also according to the drive of hatred. That they feel the first way to be superior is due—accord-

ing to Pestalozzi—not only to mere experiences but to their ties to a divine law which they have to realize in order to achieve enduring strength, peace, and wisdom.

During the period of the Prussian reaction, in the middle of the nineteenth century, Pestalozzi's books were forbidden in the teachers' colleges, allegedly because of the revolutionary and atheist character of their ideas. No doubt Pestalozzi wanted a new society in place of one of power and privileges, and certainly his religion was not orthodox or dogmatic. It represented the organic development of the best features in Protestantism which tend to dissolve formal creeds in favor of man's own personal consciousness of God. This kind of social and religious thought certainly contains a liberal and democratic element, and so it may be regarded with disfavor by those who adhere to merely hierarchical systems in politics and religion. On the other hand, it will be difficult to find another educational philosopher who has understood how to combine a realistic psychological insight into the nature of man and society so intimately with full recognition of the transcendent character of life. In this Pestalozzi comes close to Comenius, but with the difference that the Swiss stands on a higher rung of the ladder of educational development.

In all essential points Pestalozzi's ideas are as true today as they were in the eighteenth century. Also, to our social conscience his ideas are still a challenge. Have we a society today which allows that degree of natural love, and provides the children of all groups with that core of positive experiences which Pestalozzi holds to be indispensable for human health? Have we organized our school system so that it combines equality with differentiation? Do we teach in such wise that we follow the "road of Nature" without leading the child away from his own real world into a world of words for which he does not feel any responsibility? Does not the modern development of advertisement and propaganda justify Pestalozzi's prediction that "sound and speech," instead of truth and actual objects, would endanger both our minds and our society?

Pestalozzi's Practical Work

In three different ways Pestalozzi elaborated the ideas laid down in his *Evening Hour of an Hermit.* First, through his own work as a practical educational reformer; secondly, through his educational writings proper; and thirdly, through his philosophical and sociological thought.

The practical work of Pestalozzi needs no detailed description here. After the failure of the Neuhof experiment, with its attempt to combine farm work with the education of children, he turned to writing, took a deep interest in the French Revolution, and joined the liberals in the Swiss Revolution of 1798. Like many of his contemporaries whose names are history, he was later on bitterly disappointed by the way in which the French *sans-culottes* materialized the ideals of Liberty, Equality, and Fraternity. Not only had he to admit the moral failure of the revolution itself, but he saw the cruelties of the French revolutionary groups who invaded Switzerland. After a massacre in the little town of Stans, where in September, 1798, a battle was fought between the inhabitants of the Canton of Niederwalden and the French, he took over the poorhouse for children in this desolate community. There he worked until 1799, under circumstances which we can imagine only if we think now of what some humble schoolmaster may do with his children in war-torn villages of Poland or China. In 1799 Pestalozzi went to Burgdorf and established an institute for children. It was there that Krüsi joined him, to become one of his closest collaborators. As a "citizen" of the new Swiss liberal republic, he went to Paris, in order to win Napoleon to the cause of the new democracy; but he failed. In 1803, instead of a united democratic republic, federalism of the conservative type was established in Switzerland, and he was deprived of the opportunity to continue his experimental work at Burgdorf. Thence he moved to Münchenbuchsee, where another educational reformer, Fellenberg, who made a deep impression on Goethe, was working. Here, as in all periods of Pestalozzi's life, one of the most tragic features of his complicated

character appeared—his inability to collaborate with others. After the break with Fellenberg, he went to Yverdon (Ifferten) at the upper end of Lake Neuchâtel. He gave this town an international reputation through the experimental school which he established in 1805 in an old castle, and which continued its existence until 1825, two years before his death. Here also internal dissension marred the work of the school Even his oldest collaborators came in conflict with him and with one another. Yet the school expanded, harbored more and more pupils, and attracted more and more educators and statesmen from all the great European countries. The great reform work of the elementary school, which started during the nineteenth century on the European and American continents, would have been impossible without the impetus given it by the Yverdon experiment.

In the studies of the old Swiss and German schoolmasters one could often find a reproduction of a painting of Pestalozzi, in which we see him, with a profound expression of love on his ugly and wrinkled face, embracing the children of peasants who, clad in rags, enter the simple schoolroom. The painting symbolizes the spirit of humble service to the young which was characteristic of Pestalozzi and his followers. It is this self-absorbing devotion to his work which distinguishes Pestalozzi so decidedly from Rousseau. Pestalozzi's example of "Let the little children come unto me" probably had a greater effect on modern education than all that philosophers ever said or wrote about the tasks and character of education.

Pestalozzi's Main Works on Education

Of Pestalozzi's writings, *Lienhard und Gertrud* ("Leonard and Gertrude"), *Wie Gertrud ihre Kinder lehrt* ("How Gertrude Teaches Her Children"), and *Schwanengesang* ("Swansong") have become most famous. They have been translated into most of the great languages of Europe, America, and Asia, though they are only a part of his total educational opus. *Leonard and Gertrude*, like Rousseau's *Émile*, is written in the style of a novel; and like Rousseau, Pestalozzi also had the disappointing experience that

most people read and understood his work as a piece of entertaining literature and not as a great challenge for thinking and acting. In spite of these similarities, the difference between Pestalozzi and Rousseau is striking. Whereas Rousseau dreams of an educational island of social isolation and conceives of nature as something which has to be separated from society, Pestalozzi plants his story in the setting of a desolate Swiss village.

There lived in Bonnal, a mason. He was called Leonard, and his wife, Gertrude. He had seven children and some property, but he had this fault: that he often let himself be tempted to the tavern. When he was once seated there, he behaved like a madman; and there are in our village, cunning, good-for-nothing rogues, whose sole employment and business it is, to take in honest and simple people, and seize every opportunity of getting hold of their money. These were acquainted with poor Leonard, and often led him on from drinking to gaming, and thus cheated him of the produce of his labor. Whenever this had happened over-night, Leonard repented in the morning, and it went to his heart when he saw Gertrude and his children wanting bread, so that he trembled, wept, and cast down his eyes to conceal his tears.

Gertrude was the best wife in the village; but she and her blooming children were in danger of being robbed of their father, and driven from their home, and of sinking into the greatest misery, because Leonard could not let wine alone.

Gertrude saw the approaching danger, and felt it most keenly.[1]

There is no bold and sweeping statement in these sentences as in the famous first sentences of *Émile*, but a complete absorption of the author in the life and griefs of his poor fellow men. In the Preface to the book Pestalozzi says:

In what is here related (the greatest part of which I have, in the course of an active life, myself observed), I have been careful never to set down my own opinions, instead of what I have seen and heard the people themselves feel, judge, say, and attempt.[2]

[1]The above text is the beginning of the first chapter of Pestalozzi's *Leonard and Gertrude* in Henry Barnard's translation, in *Pestalozzi and His Educational System* (School Bulletin Publication), pp 517 f. C. W. Bardeen, Syracuse, N. Y., 1906.

[2]*Leonard and Gertrude* (*loco citato*), p 521.

Gertrude, the wife of the mason, educates her children in a severe and orderly manner, and yet with that unwearying love and natural simplicity which for Pestalozzi were of higher worth than all the wisdom of the learned. Gertrude represents for Pestalozzi the living symbol of the "road of Nature." She forms a center of purity within her community and slowly overcomes all the social obstacles which corruption and inertia put in her way. Finally, the feudal lord who wishes to reform the community under his rule, but does not know how to materialize his noble intentions, discovers Gertrude and her way of educating her children. Her poor home becomes a source of encouragement to him and his friends. From her practice, and not from theories, they learn what education is, and with her they transform the misery-stricken village into a place of happiness and co-operation.

In the following work, *How Gertrude Teaches Her Children*, Pestalozzi tried to give a systematic psychological theory of his educational method. Such attempts are always in danger of mechanizing and isolating mental processes which can be fully understood only in relation to life in its totality. Of this danger Pestalozzi was fully aware. He says:

> The mechanism of physical human nature is essentially subject to the same laws by which physical Nature generally unfolds her powers. According to these laws, all instruction should graft the most essential parts of its subject firmly into the very being of the human mind; then join the less essential gradually but uninterruptedly to the most essential, and maintain all the parts of the subject, even to the outermost, in one living, proportionate whole.[1]

Yet the question arises as to whether that "living, proportionate whole" can be conceived of—as Pestalozzi conceives of it—as a "mechanism" which "is essentially subject to the same laws by which physical Nature generally unfolds her powers." Pestalozzi's idea that all learning is based on a child's realization of "sound,

[1]Johann Heinrich Pestalozzi: *How Gertrude Teaches Her Children . . . and an Account of the Method*, translated by Lucy E. Holland and Frances C. Turner, and edited by Ebenezer Cooke, second edition (Standard Teacher's Library), p. 322. C. W. Bardeen, Syracuse, N. Y., 1898.

form, and number" as the true basic elements in mental perception is more or less another kind of faculty psychology. Thus we observe a strange gap between his admirable grasp of the totality of education as expressed in *The Evening Hour of an Hermit* and *Leonard and Gertrude*, on the one hand, and the educational formalism prevailing in *How Gertrude Teaches Her Children* and in several others of his methodological writings.

Historically speaking, some kind of systematization of Pestalozzi's educational experiences was necessary. The progress of humanity needs a continual interaction between intuition and analysis, practice and theory, venture and system. It is the merit of Pestalozzi's writings on method that they brought structure and purpose into the thinking and practice of the nineteenth century elementary schoolteacher. Without Pestalozzi, and later Herbart, he would have stood in bewilderment before the enormous task of organizing his classwork with a school population which rapidly grew from relatively small numbers into thousands and millions.

Pestalozzi as a Social Philosopher

It was the fate of Pestalozzi, as of some other leaders in education, that his fame in this field overshadowed his other contributions, though it was in fact the breadth and generality of their interests which made all these men great as educators. Comenius, whose name historians mostly connect with his *Orbis Pictus* and the *Didactica Magna*, was the theological and political leader of his religious community and was also a great encyclopedist; Froebel, whose name lives in the memory of men as the founder of the kindergarten, was a scientist and a mystic philosopher; and Pestalozzi, in addition to his educational interests, was a prolific writer on politics, philosophy, and social problems. Quantitatively speaking, Pestalozzi's essays are as numerous in these fields as in education proper. Everywhere he defends the cause of liberty against usurped authority, of justice against suppression, and of common welfare against exploitation. Several times he dealt with the not infrequent and most horrifying result of despair and bigotry in older

societies, child murder by unmarried mothers. Like Rousseau, he and others of his contemporaries could not help but search for the laws inherent in the progress of civilization. The profoundest product of his thinking about this great historical and philosophical problem is his essay entitled *Meine Nachforschungen über den Gang der Natur in der Entwicklung des Menschengeschlechts,* 1797 ("Inquiries into the Course of Nature in the Development of Mankind"). It is almost unknown in the Anglo-Saxon and even in the German-speaking countries, though it is certainly one of the greatest documents of the eighteenth century endeavor to reveal the meaning of history It is also important because it shows more than anything else the similarity of interest between Rousseau and Pestalozzi, together with the differences in their solutions. It may well be that Pestalozzi's essay was aroused by Rousseau's *Discourse upon the Origin and Foundation of the Inequality among Mankind* and his other writings on social philosophy. Pestalozzi also starts with the hypothesis of a natural state of mankind, but he immediately objects to Rousseau's sentimental glorification of this state of man. Hobbes' pessimism seems to be much closer to him.

> It is not true that the original man lived in peace. It is not true that he had divided the earth without power, without injustice, and without shedding of blood; it is not true that the origin of property is to be found in man's sense for equity and justice. [Rather it is true] that he was wading in the blood of his equals. He had to protect his cave like a tiger and to kill his own race. He claimed all soil as his own. He did under the sun what he wanted to do. He did not acknowledge law, nor any master; his only law was his own will, and what sin is he did not know.[1]

Out of this state of mere biological primitiveness man has developed slowly into the state of society in which he still lives. But what is his state of society? It is not, as Rousseau says, mere show, artificiality, and deceit, but an unceasing battle raging in man between his desire for moral freedom and the animal drives which

[1]Cf. Pestalozzi, *Sämtliche Werke*, 12. Band, pp. 44 and 46. Berlin, 1938. Translated by the author.

have not yet lost their power over him. He creates organizations, laws, customs, and mores, but he uses them, and even religion, not for the final ethical purposes inherent in them, but for suppression, competition, and power. The state in which we live is not yet one of justice; rather, it is a state of institutionalized injustice, regulated by law—both in our group contacts and in our international relations

Out of this second state of history—the state of society—we have to strive for a third state in which man will find his real free and moral self. Pestalozzi shows how knowledge, property, social relations, power, honor, rulership, government, and religion appear in the biological state of primitiveness, in the state of society, and finally in the state of moral freedom, when man will succeed in identifying his nature with the inner laws of the universe.

But Pestalozzi is not satisfied with building up a mere historical construction. According to him, the development of the total race reoccurs in the life of every individual. Each of us has in himself the primitive man, the social man, and the ethical man; and whereas society as such has not yet achieved the third state, it is the privilege of the highly developed individuals, even in the state of mere social convention, to grow beyond this state into the state of liberty. From this vantage point they are able to envisage the misery, and also the possible progress, of the human race. Society in its present state of injustice, though constantly profiting from the wisdom and courage of these advanced individuals, will nevertheless hate and persecute them, because they are the mirror in which the bad conscience of mankind reveals itself. Pestalozzi leaves open the question as to whether mankind as a whole will ever achieve perfection. The only thing he knows is that a relatively high degree of perfection may be realized in select individuals, who, though offending the complacent, will be an incentive to the courageous.

Pestalozzi wrote his *Inquiries into the Course of Nature in the Development of Mankind* in a period when, as at several other times in his life, he had reason to fear that his work would have no effect

on his contemporaries. So at the end of this essay he passes over from the more objective tone of theoretical inquiry into a personal confession.

Thousands, mere products of Nature, pass their lives in mere sensual pleasures, and they do not aspire to more Tens of thousands slave in their workshops and in their palaces, and do not aspire to more.

But one man I know who strove for more; he was filled with an urge for purity and with a faith in mankind such as few mortals know; his heart was made for friendship, love, and loyalty.

But he was not made for this world; there was in it no niche for him. And the world, finding him a misfit, did not ask whether he was one through his own fault, or through the fault of others. It crushed him with its iron hammer, as masons who break up a stone to fill the gaps between their bricks. Even so, this lonely man believed in mankind more than in himself, and after untold suffering he learned what few mortals will ever be permitted to learn.[1]

[1]Cf. Pestalozzi *Samtliche Werke*, 12. Band, p. 166. Berlin, 1938. Translated by the author

Johann Friedrich Herbart

(1776–1841)

Herbart's Personality

Pestalozzi has often been characterized as a disciple of Rousseau; Herbart has not rarely been labeled a disciple of Pestalozzi. This latter statement corresponds as little to the full truth as the first. Herbart visited Pestalozzi in Switzerland while living there as private tutor to the sons of Governor Von Steiger in Bern; he was deeply interested in Pestalozzi's writings and reviewed carefully his ideas on educational method.[1] It may well be that Pestalozzi's attempts at creating a psychology of education aroused Herbart's curiosity and ambition to provide such a science as a basis for educational practice In other respects these two men differed considerably. Pestalozzi was helplessly exposed to all the heights and depths of human emotions, absorbed to the point of self-annihilation in the care of the poor, in spite of all tenacity of effort without regularity and discipline, and incapable of reading a book thoroughly or keeping steady co-operative relations with his friends.

Herbart, on the other hand, grew up in a sheltered environment with a very regular, scholarly, and aesthetic education, which led him to mastery of the ancient and modern languages as well as of mathematics and music, and prepared him to succeed Kant in the famous philosophical chair of the University of Konigsberg. Herbart, like Pestalozzi, was deeply interested in the most various aspects of life, but he was afraid of losing his own equilibrium through exposing himself too much to its vicissitudes, partly because of his

[1] E g, *Über Pestalozzis Neueste Schrift: Wie Gertrud Ihre Kinder lehrt* (1802) ("On the Recent Book of Pestalozzi, How Gertrude Teaches her Children"), *Pestalozzis Idee eines ABC der Anschauung untersucht und wissenschaftlich ausgeführt* (1802) ("The ABC of Sense Perception"); *Über den Standpunkt der Beurtheilung der Pestalozzischen Unterrichtsmethode* (1804), ("Judgments of Pestalozzi's Method of Instruction").

sensitive health, partly because of his urge to systematize and harmonize the diversity of experiences instead of being overwhelmed by them. His style is extremely pedantic and bookish. Not that Herbart was without deep emotions. But whereas emotions mastered Pestalozzi, Herbart mastered his; they were to serve, not disturb, his thinking. His aversion to extremes immunized him also against the exaggerations of German romantic idealism. This independence was not easy in a time when the halls of the German universities were charged with the intellectual atmosphere of the daring philosophies of Fichte, Hegel, and Schelling. Though critical about many fundamental tenets in Kant's philosophy, Herbart was a Kantian in his rigorous distinction between the scientific objectivity which behooved the philosopher and the romantic subjectivism in which, at this time, so many philosophers indulged. As Kant combined the rationalism of Descartes with the empiricism of the English school of thought, so also Herbart combined the sagacity and synthesis of the German philosophical tradition with the observational talent of the English. His marriage to an Englishwoman might be held symbolic of the general trend of his nature. All these qualities show, naturally, not only in his general philosophy but also in his specific educational thought.

One could divide Herbart's writings into three groups: first, a group of logical and epistemological character, dealing with the examination of the tools and criteria of philosophical thinking; second, a group intended to clarify (primarily by dint of the historical approach) the problems of psychology, education, metaphysics, and ethics (which, like Kant, he calls practical philosophy); third, a group concerned with comprehensive philosophical systematization. He never conceived of philosophy as springing from supernatural wisdom or as hovering above the special sciences. As far as his time allowed, his philosophy was critical and scientific.

He begins his essay *Über philosophisches Studium* ("On the Study of Philosophy"), 1807, with the following words:

Which relationship should Philosophy set up between herself and the other sciences, and between herself and life? Would she like to

be considered as ruler, superior through her new and unknown weapons, menacing and formidable? Or would she rather prefer to be considered a native in her environment, as kin and friend, needy of ever-new acknowledgment and approval?

To this question he gives the following answer:

> If the power of the human mind is strong enough simultaneously to expand itself into the width as well as the depth of life, then all the sciences, each separately and yet all united, ought to produce philosophy as their indispensable complement, and they ought never to cease in this endeavor. It is the limitations of the human mind which force us everywhere to divide labor, and which split knowing into portions of knowledge that philosophy has been severed from the totality of thought. . . . Thus philosophical thinking, unfortunately, has led to philosophy as a special and isolated branch of scholarship.[1]

But it is the task of the real philosopher to reconcile specialization with comprehensiveness, and this can be the result only of long personal development and maturity.

> Alas! if one feels the mission of a philosopher too early,—alas! if he feels it too late in his career![2]

Herbart's Psychology of Methods of Instruction

Herbart shows his philosophical mind also in his endeavor to clarify the problems of education. As a young tutor, he made careful reports about the progress of his charges. After visiting Pestalozzi, he began to scrutinize the latter's "method." On the other hand, in his general philosophical works he constantly refers to the role of education in the formation of the human individual and his society. As professor of philosophy, he founded a famous institute for the training of teachers, where theory and practice supported each other. He was convinced that the aims of education could not

[1]Translations are by the author.

[2]Johannes Friedrich Herbart: *Sämtliche Werke,* in chronologischer Reihenfolge, herausgegeben von Karl Kehrbach. 19 Bde. in 14. See Vol. II, pp. 230 and 234. Langensalza, 1887–1912. Cited in the following as: *Samtliche Werke.*

be explained without reference to the metaphysical meaning of human existence, but he searched also into the detailed psychological premises of learning, in order to base teaching on a firm, methodical ground. He applied mathematical methods to psychology in his essay *Über die Möglichkeit und Notwendigkeit Mathematik auf Psychologie anzuwenden* ("About the Possibility and Necessity of Applying Mathematics to Psychology"), 1822.[1]

Naturally, his educational work falls under psychology, theory of method, and theory of aim. Yet, dealing with a special field, he always keeps in mind the fact that they are all related to one another. Hence he considers psychology to be closely related to metaphysics. For without awareness of the connection of man with forces which are of trans-empirical character, all research about his nature is bound to remain on the foreground.

In the preface to the first edition of his *Lehrbuch zur Psychologie* ("A Textbook in Psychology"), 1816, he emphasizes the mission of this science to clarify the so far rather confused theory of the elements of knowledge. On the other hand, he warns against mistaking experimental psychology for a complete knowledge of human nature. Such a process would lead a scholar to "remain on the treacherous surface of mere appearances."

> And he may consider himself lucky if through this mistaking of isolated phenomena for the fullness of psychic life he does not distort the facts themselves, which he is proud to have discovered.[2]

The merits of Herbart's psychology lie first in the abandonment of primarily speculative methods of inquiry in favor of a more empirical investigation of mental life Furthermore, Herbart exploded the theory of separate mental faculties. This theory did not prevail in earlier times so completely as we are sometimes inclined to think; nevertheless, it haunted the minds of popular writers Herbart's third merit is that he blasted the way for a productive re-

[1]*Sämtliche Werke,* Vol. V, pp. 91–122.
[2]*Sämtliche Werke,* Vol IV, p. 297, translated by the author.

lationship between psychology, on the one hand, and mathematics, medicine, and physiology, on the other.

The defects of his psychology lie in its intellectualism, which considers ideas and their relation to one another as the sole origin of all the other mental activities, such as feeling and will, and results in a tendency to explain learning one-sidedly as a mere process of mental associations.

Yet this psychology enabled Herbart to develop the foundation for a systematic theory of learning and instruction which, though no longer tenable in all its aspects, nevertheless shows its influence even today in the different fields of psychology, from behaviorism to psychoanalysis.

Our psychic life—according to Herbart—consists of an ebb and flow of "ideas" or "presentations," and our emotions, such as feeling and willing, are nothing but the concomitants of the endeavor of one group of "ideas" or "presentations" to dominate the psychic scene against other groups of mental phenomena, which are also struggling for the top place in the ebb and flow of our consciousness. The educator has to make proper use of this mechanic of the mind. He must know that the ideas and presentations which appear in consequence of a particular experience tend to sink down below the threshold of consciousness when new experiences arise. He must help to emerge and to remain upon the level of consciousness those ideas which he desires to utilize in the process of teaching.

In order to make these abstract ideas more concrete, one could use the following example: I am reading a book and the ideas contained in it occupy my attention. I am trying to understand them; I compare them with my own experiences; I accept or reject them. If the book is interesting, I do not do this in a climate of intellectual coolness but become excited. Suddenly somebody enters the room and tells me that a dear friend of mine has been struck by an automobile. Immediately the interest in the book and its author (or, as Herbart would say, one mass of ideas) disappears and a new interest takes complete hold of me. If the circumstances happen to be such that after a while I can return to the reading, or if experiences

similar to those aroused by the book occur in my mind with some kind of regularity, then the book will leave some permanent impression—its ideas may become a part of myself. If, on the other hand, the circumstances are such that the accident to my friend deflects me completely from my reading, and if, in addition, my regular daily work does not touch upon the ideas contained in the book, then those ideas will sink down into the unconscious sphere of my mind. This may happen so completely that after some years I do not even remember having read the book at all. Yet if, through some chance factor, I later on come across another book which arouses ideas related to the ones I have already "forgotten," then the seemingly lost content of the book may suddenly reemerge. Perhaps the recollection of the old book does not become fully salient; nevertheless, it will influence my reaction to the new one. In one way or another I am already conditioned.

Hence the teacher, when presenting a new idea to the child, must be concerned with three things. First, the new lesson must be connected with ideas which are either salient or potentially salient in the child's mind. This makes it easier for the child to understand and assimilate the new presentations. Secondly, the teacher must help the child retain the content of the new lesson, for this, after all, is the purpose of teaching. But in order to attain this effect, the teacher will have to pay attention to a third factor, namely, to the "interest" of the child. For "interest" is nothing but that mental urge which motivates us to overcome the difficulties which may be involved in the acquisition of the new material and to keep our attention focused toward an object. Strong interest also supports the association between the new experience and those earlier experiences which have already dropped into the subconscious. In this way the total potential energy of the child enters into the process of learning.

With this explanation of the "stream of consciousness" and of "interest," Herbart not only laid the basis for our present theories of learning and motivation, but, as already intimated, he also paved the way for our modern hypothesis of the role of the unconscious in

the behavior of the individual. Freud, as one of his friends stated, personally acknowledged his indebtedness to Herbart.[1]

But Herbart was not satisfied with this explanation of the more or less mechanically working "inner circle of consciousness." He wanted also to know under what conditions presentations or ideas can become dynamic elements in the building up of knowledge and of an educated personality In his psychological work and also in his *Allgemeine Pädogogik aus dem Zweck der Erziehung abgeleitet* ("Science of Education"), 1806, he deals extensively with the mental conditions through which mere vague presentations are transformed into clear and logically coherent concepts The most important of these conditions, for Herbart, are "analysis," which breaks a complex down into its constituent parts and relates and compares them with other parts of our experience, and "synthesis," which regroups the diverse elements according to the particular purposes of the thinking in which we are engaged.

In his chapter on the course of instruction,[2] Herbart distinguishes between merely descriptive, analytical, and synthetic instruction A merely descriptive instruction "depicts" certain contents of life and history which may be attractive to the child. But even for merely descriptive instruction Herbart emphasizes the teacher's obligation to observe the law of association, and to connect the new impression with the "apperceptive mass," that is, the mass of conscious or unconscious ideas already existing in the mind and apt to be related to the new experience.

As we already know, good instruction uses the incentive inherent in interest. For this purpose the teacher must find out what kind of presentation and learning is commensurate with the child's capacity. Otherwise the school obstructs rather than assists the growth of the child's personality. On the other hand, every in-

[1]See Rudolf Allers, *The Successful Error, A Critical Study of Freudian Psychoanalysis* Sheed and Ward, Inc, London, 1940.

[2]Johann Friedrich Herbart: *The Science of Education . . and the Aesthetic Revelation of the World*, translated from the German by Henry M and Emmie Felkin, with an Introduction by Oscar Browning; Book II, Chap V, p. 154 D. C. Heath and Company, Boston, 1900. Cited in the following as: *Science of Education.*

dividual lives in society and must learn to comply with the objective standards and requirements characteristic of every civilization. The more advanced such a civilization is, the less can the individual be permitted simply to follow his bents and affections; rather, he must be able to direct them so that his individuality serves the civilization in and on which it thrives. Only in such wise can an individual be productive and feel himself free and happy.

Hence there arises for the teacher, on the one hand, the obligation to cultivate the interests of the child, in order to stimulate his spontaneity; on the other hand, the need not only to cultivate the child's personal interests but to introduce him to the variety of human knowledge and experiences, in order to help him in the appreciation of the fundamental values of civilized societies. Such education Herbart would call a "liberal education." Only with this background can a person become a specialist and at the same time avoid succumbing to the danger of narrowness and utilitarianism.

There ought to be a continual process of reintegration between an individual and his mental environment. One who only expands and develops many-sided interests without again and again relating these interests to his own individuality may lose himself. On the other hand, one who wishes to preserve his self by remaining in his own shell cannot realize his individuality either, but grows one-sided and, if worst comes to worst, ends by becoming a crank. Therefore, Herbart says, all instruction must aim at the development of *gleichschwebendes Interesse,* a term difficult to translate. An individual endowed with *gleichschwebendes Interesse* is one who is able to remain in a continual state of susceptibility and openness to outside impressions without losing his capacity of uniting these impressions in one harmonious whole.

This emphasis on an equilibrium of interests explains Herbart's deep concern with the program of teaching. He defines the contents of the curriculum according to the particular cultural conditions of his time, namely, the older European pattern of secondary and professional education. Thus he emphasizes, on the one hand, the humanities or social sciences, namely, languages (ancient and

modern) and history, and on the other hand, mathematics and the sciences. Through this combination the student is introduced to both the realm of humanity and the realm of nature. But Herbart is also fully aware of the fact that a curriculum has too much of a functional quality to be tied up with a rigid pattern of subject matter. He states several times that the content of a liberal education will always depend on the particular patterns of civilization. What is liberal and dynamic in one period may be stiffening and obsolete in another. Nor is there one and the same liberal education for every individual. It is much more due to the inevitable limitations inherent in any public instruction, rather than to a desire for uniformity, that Herbart advocates for secondary schools the curriculum which up to the end of the nineteenth century was more or less characteristic of the English Public School, the French *Lycée*, and the German *Gymnasium*.

Some of Herbart's disciples believed they had found a principle of instructional unity in the so-called culture-epoch theory. Every individual, they thought, repeats in his own development the development of his race. Consequently, the best form of instruction would be one which would familiarize the child first with the more primitive life, and ascend therefrom to the higher stages of human history. Since Homer represented for Herbart and his friends the classical example of a primitive yet fully human civilization, the works of this poet were considered basic for the introduction of the young into human civilization. Herbart himself did not develop a systematic theory out of his observation of the fitness of certain stages of human experiences and literature to certain stages in the development of the child. The culture-epoch theory, as well as other ideas of Herbart, was taken up eagerly by faithful disciples who pressed all the ideas into a strait jacket of rules and norms.

This transmutation of philosophy into a set of recipes had particular consequences when Herbart's so-called "steps of instruction" became the pet subject of the normal schools of the nineteenth century. In his *Science of Education* Herbart used his theory of

consciousness, interest, and the laws of association for devising four stages or "steps" of instruction, namely, "clearness" (*Klarheit*), "association" (*Association*), "system" (*System*), and "method" (Methode).[1] With these terms Herbart wished to indicate the necessity of a coherent method of teaching and of developing the child's powers of concentration, retention, and participation "Clearness" means that a pupil ought first of all to see the issue clear and unclouded. This is the prerequisite for the assimilation of a new subject. The next step, "association," comes with the connection of the new ideas to notions already contained in the apperceptive mental mass of the pupil. After this is done, the third step, "system," will be reached through emphasis on a clear distinction of the different elements of which the newly associated idea consists; furthermore, it must be related to the total context and purpose of the lesson. Only thus will the student arrive at a systematic order in his ideas. The last and fourth stage in the assimilation of the subject, "method," is reached when the student is capable of adding new aspects to the issue in view and of applying his newly acquired knowledge properly to future problems. Many pupils use words without knowing what they mean and without the ability to transfer their knowledge methodically into practice. But unless this skill has been achieved, learning is incomplete.

In other chapters of his *Science of Education* Herbart explains the same process in other terms, using verbs or adjectives, instead of nouns, to characterize its main stages. Instruction, he says, ought to be, first, "concrete" or "illustrative" (*anschaulich*); second, "continuous" or "consistent" (*kontinuierlich*); third, "elevating" or "lifting up"[2] (*erhebend*); and fourth, "active in the sphere of

[1]*Sämtliche Werke*, Vol. II, p 39; *Science of Education*, p. 126. Some English textbooks translate these terms as *clearness*, *association*, *generalization*, and *application*. In another chapter Herbart uses the terms *Klarheit*, *Association*, *Anordnung*, and *Durchlaufen dieser Ordnung* (see *Allgemeine Paedagogik* in *Samtliche Werke*, Vol II, p. 53).

[2]Herbart fails to give a sufficient explanation of whether he means by this term the intellectual process of elevating unclear ideas to the state of consciousness or the moral process of inspiration, or both.

reality" or "applying the discovered truth to reality" (*in die Wirklichkeit eingreifend*).[1]

Though Herbart conceives of these steps as following one another, he knows that such succession can never be adhered to mechanically. All instruction must be organized according to the particular situation; in addition, the logical processes are of such complexity that they often overlap. If anybody was aware of this complexity, it was certainly Herbart. Yet for about two generations his four steps—which were later modified by his disciples into the five steps of "preparation," "presentation," "association," "systematization," and "application"[2]—were admired by the true Herbartians as though they were the educational gospel. The result was often routine and mechanization. Pedagogical Herbartianism replaced the living spirit of the philosopher Herbart. Nevertheless, even today many teachers could improve their instruction considerably if they learned to realize the advantage which lies in the systematic order of teaching that Herbart recommends.

Ethics and Education

Though Herbart contended that he could not conceive of education without instruction,[3] he was also convinced that instruction plays only a secondary role in the process of education. In his *Kurze Encyklopädie der Philosophie aus praktischen Gesichtspunkten entworfen* ("Brief Cyclopedia of Philosophy"), 1831, there is a chapter on education (Abschn. I., Kap. 12, *Von der Erziehungskunst*),[4] which, so far as we are aware, is unknown in the Anglo-Saxon world, though it contains the best summary of Herbart's pedagogical theory. There Herbart repeats his idea that the final aim of all

[1] *Sämtliche Werke*, Vol II, p 54; *Science of Education*, p 147. Cf. also Gabriel Compayré, *Herbart and Education by Instruction*, (Pioneers in Education), p. 63. T. Y. Crowell and Company, New York, 1907.

[2] Herbart: *Outlines of Educational Doctrine*, translated by Alexis F. Lange, annotated by Charles De Garmo, p. 59. The Macmillan Company, New York, 1901.

[3] See *Einleitung zur Allgemeinen Padagogik* in *Samtliche Werke*, Vol. II, p. 10: "Und ich gestehe gleich hier, keinen Begriff zu haben von Erziehung *ohne Unterricht*."

[4] *Samtliche Werke*, Vol. IX, pp. 137–151.

education is the formation of character, and that all educational activities are only means to that end, not ends in themselves. In order to make such a means of instruction, several requisites must be fulfilled. The teacher must see to it that he does not inadvertently cripple the talents of his pupil.

> To create or transform the personality is beyond the teacher's power; but what he can do and what we may demand from him is to ward off dangers from his pupil and to abstain from ill-handling him.[1]

In such an atmosphere the child will acquire a proper relation to society, and it will not be difficult to arouse his interest in the knowledge of the human race. At the same time it will be possible to respect the child's individuality and yet to convey to him that sense for discipline and consistency without which he will not develop character.

Thus Herbart's educational system ends in ethics; for character, according to him, cannot be achieved merely by experimentation or instruction as such, but only by the constant imbuing of the mind with moral criteria For Herbart, ethics is anchored in metaphysics; hence education is ultimately related to transcendent values. But in spite of all his transcendentalism, Herbart's sense for psychology appears. He emphasizes the relationship between ethics and *Geschmack*, a term which denotes not only "good taste" and "tact" but "appreciation of beauty." This aesthetic character of his moral philosophy prevents him from becoming a narrow moralist. In the twelfth chapter of his *Allgemeine praktische Philosophie* ("General Practical Philosophy"), 1808, Herbart writes:

> Unfortunately, it happens not infrequently that moralistic zealots, in spite of all their good intentions, manage to become more objectionable to their fellow men than people with a certain levity of mind, nay even very frivolous people. . . . Practical philosophy must not fail to show the proper limits of the very same tendencies

[1] *Sämtliche Werke*, Vol. IX, p. 139, translated by the author.

it wants to awaken . . . It would be disastrous if ethics set its aim so high that it appeared to debase the things of the world.[1]

At the end of the same work he portrays his ideal man, whom we may consider also to be his ideal goal of education:

> An active and mature man will not be subject to a tempestuous fate that urges him on to an unknown goal, unaware whether he is driving or being driven. On each level of life he will attempt to attain serenity and reason. He will aim to attune his soul to accord with his environment, and from his vision of the Absolute he will derive his faith in the ultimate victory of the good. He will strive to acquire a harmony of mind that will allow him to move freely, but prudently, between the finite and the infinite, between the transient and the permanent. By noble participation in the joys and griefs of human life he will be led to a fuller appreciation of the pure light of the spirit, and his deeds will reflect the elation of his soul.[2]

In these sentences Herbart comes close to the Aristotelian ideal of man and to the ripe humanism of the aged Goethe.

[1] *Samtliche Werke*, Vol. II, pp. 456 f. ("Gen. Pract. Philosophy," Book II, Chap. 12). Translated by the author.

[2] *Samtliche Werke*, Vol. II, p. 458 ("Gen Pract. Philosophy," Book II, Chap. 12) Translated by the author.

Friedrich Froebel

(1782–1852)

Froebel's Philosophy of Unity

The kind of education which the nineteenth century calls "the new education" is based mainly on the work of three men: Pestalozzi the prophet, Herbart the thinker, and Froebel, who was closer to Pestalozzi than to Herbart in his intuitive religious attitude, and closer to Herbart than to Pestalozzi in his urge toward inquiry. This intellectual urge led Froebel to study the most divergent fields of thought, and to unite them in philosophical synthesis.

What was the central experience which enabled Froebel to place his diverse experiences over one denominator? Most people would say his love for children, which expresses itself in his founding of the kindergarten, and in his famous words: "Come, let us live for our children." Yet his autobiography, which seems to be very reliable in revealing the decisive impressions in his childhood, points to something else. the keynote in Froebel's response to life and men was sounded when, as a boy, he felt deeply troubled—like many sons of orthodox ministers—by his father's condemnation of the "mortal sins" of man. He touchingly describes this impact on his youthful soul in the following words:

> The way in which he [the father] spoke about these matters showed me that they formed one of the most oppressive and difficult parts of human conduct; and, in my youth and innocence, I felt a deep pain and sorrow that man alone, among all creatures, should be doomed to these separations of sex, whereby the right path was made so difficult for him to find. I felt it a real necessity for the satisfaction of my heart and mind to reconcile this difficulty, and yet could find no way to do so. How could I, at that age, and in my position? But my eldest brother who, like all my elder brothers, lived away from home, came to stay with us for a time; and one day, when I expressed my delight in seeing the purple

threads of the hazel buds, he made me aware of a similar sexual difference in plants. Now was my spirit at rest. I recognized that what had weighed upon me was an institution spread over all nature, to which even the silent, beautiful race of flowers was submitted. From that time humanity and nature, the life of the soul and the life of the flower, were closely knit together in my mind; and I can still see my hazel buds, like angels, opening for me the great God's temple of Nature.

I now had what I needed: to the Church was added the Nature-Temple; to the religious Christian life, the life of Nature; to the passionate discord of human life, the tranquil peace of the life of plants.[1]

This unity between spirit and nature was confirmed for him when, as a young man, he learned the arts of forestry and surveying. When he studied mathematics and the sciences at the University of Jena, he summarized the results of these studies, not in terms of an acquired sum of knowledge, but in the following words:

I could already perceive unity in diversity.[2]

Because of unpaid debts, Froebel was put into the university prison. There he ran across a translation of the old Persian religious document, the *Zendavesta*, and found his belief strengthened by it. Afterwards he came under the influence of Schelling's pantheistic philosophy of the identity of mind and nature; and when, as a young man, inspired with patriotic feelings, he joined the army of liberation against Napoleon, he discovered the same law of interaction of mind and body in the courage and sufferings of the soldiers on the battlefield. Most decisively were his convictions strengthened when finally he decided to devote his life to the reconstruction of education and to the observation of the laws inherent in the bodily and mental growth of the child.

All his work, whether scientific, philosophical, social, or educational, ended in admiration for the appearance of a divine spirit in

[1]Friedrich Froebel· *Autobiography*, translated by Emilie Michaelis and H. Keatley Moore, pp. 11 f. C. W. Barden, Syracuse, New York, 1906. Cited in the following as: *Autobiography*.

[2]*Autobiography*, p. 32.

all things growing. This experience was for him the essence of all religion. He is the representative of German transcendentalism in the realm of education. In comparison to the experience of universal unity, all the other features of religious life seemed to him of secondary importance. In his autobiography he says:

> I dare not deny that although the definite religious forms of the Church reached my heart readily both by way of the emotions and by sincere conviction, and cleansed and quickened me, yet I have always felt great reluctance to speak of these definite religious forms with others, particularly with pupils and students I could never make them so clear and living to a simple healthy soul as they were to myself. From this I conclude that the naturally trained child requires no definite Church forms, because the lovingly fostered, and therefore continuously and powerfully developed human life, as well as the untroubled child-life also, is and must be in itself a Christian life. I further conclude that a child to whom the deeper truths of life or of religion were given in the dogmatic positive forms of Church creeds would imperatively need when a young man to be surrounded by pure and manly lives, whereby those rigid creeds might be illuminated and quickened into life. Otherwise the child runs great danger of casting away his whole higher life along with the dogmatic religious forms which he has been unable to assimilate. There, indeed, is the most elevated faith to be found, where form and life work towards a whole, shed light upon each other, and go side by side in a sisterly concord, like the inward life with the outward life, or the special with the universal.[1]

In his *Menschen-Erziehung* ("Education of Man"), 1826, he states his philosophical creed in the following words:

> In all things there lives and reigns an eternal law. . . . This all-controlling law is necessarily based on an all-pervading energetic living, self-conscious, and hence eternal Unity. . . . This Unity is God. All things have come from the Divine Unity, and have their origin in the Divine Unity, in God alone. . . . The divine effluence, that lives in each thing, is the essence of each thing.
>
> It is the destiny and lifework of all things to unfold their essence, hence their divine being, and, therefore, the Divine Unity itself—to reveal God in their external and transient being. . . .

[1] *Autobiography*, p. 74.

Education consists in leading man, as a thinking, intelligent being, growing into self-consciousness, to a pure and unsullied, conscious and free representation of the inner law of Divine Unity, and in teaching him means thereto.[1]

His mystic religious experience necessarily leads Froebel to a concept of the human mind opposite to that held by Herbart. Herbart, as we saw, explained the human mind as consisting of either associating or conflicting representations. He was convinced that although the source of these representations and ideas was of metaphysical character, nevertheless in their interaction they resembled a delicate clockwork That is the reason why Herbart considered certain features of the human mind to be accessible to quantitative methods of measurement. For Froebel, on the contrary, mental life was the outgrowth of the incessant creativeness of the Divine, and the link between man and God was for him so close that emotions, much better than logical operations, could help man understand his own nature.

Froebel's Philosophy of Education

Nevertheless, Froebel, like Herbart and Pestalozzi, believed in the possibility of discovering certain laws which could be utilized for a scientific system of teaching and education.

Did not both spirit and nature emanate from a divine energy? Then why should not certain laws, detectable in nature, be detected also in the mind? This opinion was the starting point of most philosophies of nature in Froebel's time. From this starting point there issued a great number of utterly premature and even nonsensical conclusions, but also deep insights which today, on a higher level of scientific synthesis, are regaining scholarly attention.

So without doing any harm to the ultimately religious character of Froebel's educational philosophy, one could extract from his writings a series of methodological principles. They do not possess

[1]Friedrich Froebel: *The Education of Man*, translated by W. N. Hailmann (International Education Series, Vol 5), pp. 1 f. (1–2). D. Appleton and Company, New York, 1892.

such a degree of analytical accuracy as do those of Herbart. Nevertheless, Froebel and Pestalozzi both have probably exercised a greater influence on modern progressive education than Herbart, with his more logical and pedestrian procedure.

First, on the basis of his idea of the unity of all living things, Froebel derives a new conception of childhood. Childhood is not merely preparation for adulthood; it is a value in itself and possesses its own creativeness. It participates in the divine whole with the same rights of its own as adulthood, and therefore it can claim the same respect on the part of the educator. The adult has no right to feel himself superior and to interfere with the natural conditions of childhood; rather, he must combine guidance with the capacity of waiting and understanding. Here Froebel falls into line with Rousseau and Herbart.

The second postulate which Froebel derives from his idea of unity is that of the inner relatedness of all education. This means that the educator ought to lead the child through such situations as will help him to relate his experiences organically one with another. Only thus can the child realize his own personal unity and the unity inherent in the diversity of life. Many passages in Froebel's *Entwickelnd-erziehende Menschenbildung* (*Kindergarten-Pädagogik*) ("Education by Development") remind us of Pestalozzi's emphasis on gradual development.

> Man, in looking toward the aim of his wishes and desires . . . frequently overlooks the proper means. . . .
>
> But this hurrying (from the germ to the fruit, from the wish directly to the fulfillment, from the desire to the aim, springing over all the necessary conditions which should be previously fulfilled) has had the saddest and most pernicious results . . . in the education of the individual as well as in that of whole communities; in the education of the nations as well as in that of the human race —even in that of all humanity. . . . This is one of the most injurious errors, if not the most injurious one, in the education of the individual as well as of all men.[1]

[1]Friedrich Froebel: *Education by Development. The Second Part of the Pedagogics of the Kindergarten,* translated by Josephine Jarvis (International Education Series, Vol. 44), pp. 10 f. D. Appleton and Company, New York, 1902.

From the emphasis of such men as Rousseau, Pestalozzi, and Froebel on the proper conditions of child development springs the modern insistence on a "child-centered" education and on attention to individual differences. This is certainly a great achievement. It is almost needless to assert that such a system does not allow for complete fortuity of arrangement of subject matter. Each subject ought to be co-ordinated with the total curriculum, and the curriculum itself ought to be so constructed as to reflect the fundamental requirements of our complex civilization, in addition to the child's individual interests. Such a systematic order in the curriculum is as instrumental for the steady development of a child as is the respect for his particular individuality.

Surely the two requirements of good education—respect for the proper rights of childhood and individuality on the one hand, and for system and co-ordination on the other—are not always fully compatible, particularly in a large public school system. Nevertheless, if we decide for a one-sided solution, we shall finally defeat each one of the two purposes of education: the development of a free and harmonious individual and his preparation for the transpersonal tastes of civilization.

But let us return to our analysis of Froebel's contributions.

In order to realize the divine character of the universe and his part in it, man needs his senses and emotions as well as his reason. They all are windows of the soul. Hence Froebel emphasizes the totality of educational endeavor. This can be most clearly illustrated by a paragraph of *The Education of Man*, a paragraph devoted to religious education. The right development of religious feelings—note here Froebel's nearness to Pestalozzi—depends on the "living soul-unity" between parents and child, "that clear oneness of mind, which sees life as an unbroken whole in all its operations and phenomena."[1] Only through this first instinctive feeling of a loving communion of men can the child ascend to a later realization of a metaphysical unity of the universe. Without such an instinctive experience he will always live in two different worlds

[1]*The Education of Man*, (*op. cit.*),p 238.

opposed to each other, one "material," the other "spiritual." Nor can he ever understand what the concept of the "fatherhood of God" means in the history of mankind.

From this belief in the ultimate oneness of all life Froebel derives some other postulates, which belong to the heritage of classical educational thought, but which have, nevertheless, been rarely followed. These are the demand for a co-operative, instead of a primarily competitive, education; the demand for manual training, in order to unite the hand and the intellect; and, finally, the demand for a thorough study of nature.

The finest expression of Froebel's idea of harmony in diversity is probably to be found in his concept of play. One may raise the question as to whether Froebel has been influenced by Friedrich Schiller's admirable *Letters upon the Aesthetic Culture of Man*, in which the philosopher-poet expounds the idea that play and art—for art is the most sublime form of play—are the most essential elements in the education of mankind. For Froebel, also, play is not merely a means of distraction; it is the most important phase in the spontaneous development of the child, because it allows him to exercise harmoniously all his physical, emotional, and intellectual qualities. Play combines attention with relaxation, purpose with independence, and rule with freedom. Play is for the child as ethical as devotion to his work is for the adult.

No doubt Froebel's idea of the unity of spirit and life, or of idea and form, has led him toward a fantastic kind of symbolism. Particularly the ball seems to him "a mirror of all, and of the life in all, of the general as of the particular."[1]

One might rightly ask why Froebel, with his comprehensive training in so many fields of knowledge and his philosophical interests, finally concentrated his efforts particularly on the education of the pre-school child. There are two reasons for it. One is psychological. Froebel reveals an astounding insight into the importance of the early experiences of childhood for the future development of the personality. This anticipation of modern ana-

[1]*Education by Development*, pp. 248 f.

lytical psychology, which he shares with Pestalozzi and Herbart, led him naturally to emphasize the importance of pre-school education. The other reason is of a sociological nature. Froebel lived in the period of the Napoleonic wars, with all their destructive influences, upon which followed the early period of capitalism and a series of social revolutions. He saw that in all these crises nobody was so imperiled as the children; therefore he went beyond Pestalozzi, who considered the reform of the elementary school as basic for the reconstruction of mankind, and fought for the establishment of the kindergarten.

But though for the layman Froebel's name is connected with the kindergarten, he is also, as we have already indicated, one of the great inspirers of modern progressive education in a more general sense. The judgment one passes on his philosophical premises will depend on one's sympathy with Froebel's Christian form of pantheism. Certainly this metaphysics allows for much romantic speculation about the nature of God and man; it exposes itself to philosophical criticism, like any other metaphysical system of thought; and it has sometimes degenerated into mere sentimentality among followers of Froebel, who did not possess his power of synthesis. On the other hand, Froebel's influence may convince us that it is not empirical exactness alone but profoundness of intuition and depth of faith which give ever-new inspiration to mankind in its struggle for a better life.

Ralph Waldo Emerson

(1803–1882)

The Experience of the Absolute

There is a decisive difference of sentiment in the works of Franklin or Jefferson and those of Emerson. Though all three were optimists and believed in the future and the mission of America, the optimism of the revolutionary era is plainer and more concrete. Its leaders knew the defects of men and nations, but somehow they hoped that reason would be powerful enough to bring order into human institutions and to change a life full of shortcomings into one of happiness and freedom.

During the age of Emerson this faith in the perfectibility of earthly affairs was shaken, though twenty-three years of his life coincided with that of the author of the Declaration of Independence. What brought about this change of attitude in only two generations? The question is all the more significant because the same change befell Europe, also The answer is that several of the great hopes of the eighteenth century had failed to materialize. In France the revolution had ended in dictatorship and world war. The hopes of the German youth who had fought on the battlefields to defeat Napoleon and to recapture German unity and freedom from their own petty sovereigns had been nullified by princes and diplomats. In England early capitalism was on the way to driving more and more craftsmen and farmers into the slums of the cities, while reckless men piled up unheard-of fortunes from the exploitation of labor and the colonies. In America, also, the battle between the farmer and big industry had begun. The Jacksonian revolution had upset the policy of the older aristocracy, which was no longer revolutionary but eager to enjoy the fruits of its fathers' deeds. The noble liberalism of the eighteenth century degenerated into a business philosophy; in all countries men endowed with an

awakened social conscience questioned whether the progress of science and inventions had contributed as much to the wisdom and happiness of mankind as the Age of Reason and Enlightenment had expected.

Thus the period of Emerson was, in a way, one of disillusion, like our own. The dimensions of crisis and war were not so great as in our time, but dimensions are not all that matter; the intensity of disappointment after so much hope and heroic effort was probably the same.

There are two ways of overcoming calamities and disillusion. Either man gives up the hopes of times more dauntless, accepts the immediate as inevitable, and prefers to the exciting climate of great ideals the sober air of realism, with all its shades from heroic stoicism to opportunism, or he transcends gallantly the misery around him and clings to an absolute faith from which even the actual and present may suddenly receive a new task and meaning.

Emerson belonged to the latter group. He hated the "indurated heterogeneous fabric of many dates and of no settled character, in which the man is imprisoned"[1] who does not care to despise "worldly relations." False respect for such relations renders the mind unfitted for the constant wars of liberation without which humanity cannot preserve its freedom.

Emerson would object to being classified in one of the typical philosophical categories by which we try to characterize thinking men. Yet he has been called a "transcendentalist," and certainly the history of philosophy will always range him with the type we may call Platonic. He says himself in his essay on "Plato, or the Philosopher":

> Out of Plato come all things that are still written and debated among men of thought. Great havoc makes he among our orig-

[1]See "Compensation," in Ralph Waldo Emerson's *Complete Works*, New Centenary Edition, in 12 vols.. Vol II, *Essays*, First Series, p. 125. Houghton Mifflin Company, Boston, 1903–1904 Cited in the following as: *Works*, Cent. Ed.

See also *Ralph Waldo Emerson: Representative Selections*, edited by Frederic I. Carpenter (American Writers Series), p. 132 American Book Company, New York, 1934. Cited in the following as: Carpenter ed.

inalities. We have reached the mountain from which all these drift boulders were detached. The Bible of the learned for twenty-two hundred years, . . . Plato is philosophy, and philosophy, Plato.[1]

Certainly this judgment is quite different from that of Thomas Jefferson, who believed that the fancies of the old, "whimsical" Greek had been blown away forever by the fresh wind of an empirical era. From Plato the philosophical line up to Emerson would lead through Plotinus, Master Eckart, Giordano Bruno, Leibnitz, Goethe, the German transcendental idealists, and Coleridge. Thus it is possible to classify Emerson historically. Also, it is not necessarily a distortion of his ideas to point out their inner coherence, though this coherence is more one of spirit than of logic

The most fundamental and pervading trend in Emerson's life and thought is his experience of a spiritual principle behind and within all existence Whatever name he may give it—God, the Absolute, the Over-Soul, the Supreme Law, or the Eternal Whole—he conceives of it as ever present and as permeating the total universe. It is even in our "failures and follies"[2] Nobody can help but feel its stream of power unless he shuts himself off artificially. It is in nature as well as in man. But only man, "the immortal pupil"[3] and the climax in the evolution of the universe, can be conscious of it and feel it in himself as a constant challenge and obligation. However, it is too much the Holy Other to be fully grasped by the insufficient tool we call reason. The "Eternal Whole" appears to us in revelations which are "perceptions of the absolute law," but the moment we begin to analyze and dissect it, it evades us.

It is in this sense that Emerson's statement that "man is a stream whose source is hidden"[4] must be understood. Also, the

[1]See "Plato, or the Philosopher," in *Works*, Cent. Ed , Vol. IV: *Representative Men*, pp 39 and 40 See also Carpenter ed., p. 231.

[2]"Experience," in *Works*, Cent. Ed., Vol. III, p. 57; Carpenter ed., p. 177. See also "An Address Delivered before the Senior Class in Divinity College, Cambridge, Sunday Evening, July 15, 1838," in *Works*, Cent. Ed., Vol. I· *Nature, Addresses and Lectures* Cf Carpenter ed., p. 71.

[3]See *Works*, Cent. Ed , "Nature," Vol. I, p. 47; Carpenter ed , p. 33

[4]See "The Over-Soul," in *Works*, Cent. Ed , Vol. II. *Essays*, First Series, p. 268. Cf. Carpenter ed., p. 135.

question as to how the Absolute gains "access to the private heart" and mind passes understanding. Yet that we participate in it is an absolutely valid experience to those who live in the spirit. "The definition of *spiritual* should be, *that which is its own evidence.*"[1] There is a very originally phrased yet completely Platonic statement in "The Over-Soul":

> In youth we are mad for persons. Childhood and youth see all the world in them. But the larger experience of man discovers the identical nature appearing through them all. Persons themselves acquaint us with the impersonal. In all conversation between two persons tacit reference is made, as to a third party, to a common nature. That third party or common nature is not social; it is impersonal; is God.[2]

Persons who are aware of the presence of that "third party" in their association with nature or their fellow men speak "from within."

> The great distinction between teachers sacred or literary—between poets like Herbert and poets like Pope—between philosophers like Spinoza, Kant and Coleridge, and philosophers like Locke, Paley, Mackintosh and Stewart—between men of the world who are reckoned accomplished talkers, and here and there a fervent mystic, prophesying half insane under the infinitude of his thought—is that one class speak *from within*, or from experience, as parties and possessors of the fact; and the other class *from without*, as spectators merely, or perhaps as acquainted with the fact on the evidence of third persons. It is of no use to preach to me from without. I can do that too easily myself. Jesus speaks always from within, and in a degree that transcends all others. In that is the miracle.[3]

The teachers who speak "from within" also speak "to the heart" and understand how to raise up even the perverted individual to the community of men, because this community is not only social

[1] "Experience," in *Works*, Cent. Ed., Vol. III. *Essays*, Second Series, p. 53. Cf. Carpenter ed., p. 175.

[2] *Works*, Cent. Ed , Vol. II: *Essays*, First Series, p 277. Cf Carpenter ed., p. 140.

[3] "The Over-Soul," in *Works*, Cent. Ed., Vol. II, p. 287. Cf. Carpenter ed., p. 145.

but is fundamentally religious. Only because it is religious can it be social. A society without religion is merely a crowd.

No doubt Emerson's formulations of the relation between man and the Eternal lack the historical concreteness of ecclesiastical dogma or the preciseness in definition of some philosophical systems. Emerson is a "protestant" in the most radical and purest form, in that he acknowledges only the most personal ways of contact between God and man as truly religious.

There are several reasons for this attitude. First, Emerson's personal experiences: he could not stand the routine and formality of his ministerial work, hence he abandoned it. Those by whom he felt least understood were the clergymen in Boston and the divinity schools of its vicinity, though in a deeper sense he was serving their very purposes. He lived in an age when Calvinism, in which his ancestors were bred, had steered itself into a futile defensive position against modern ideas, a position characteristic of all institutions which have lost their vitality and self-confidence.

But these reasons for Emerson's dislike of all dogmatism were probably second to two other and deeper motives. One was his humility, the virtue which for him was among the highest on the scale of values; the other was his critical philosophical sense, trained by Kant, whose influence shows in many instances, even when he does not mention Kant by name. Both these trends converged to render him suspicious of any attempt on the part of individual reason to intrude upon the *arcana Dei.* "But we must pick no locks," he says in his essay on "The Over-Soul."[1] "Why should I hasten to solve every riddle which life offers me?"[2] he exclaims in his article on "Worship." Emerson belongs to the same school of thinkers as Goethe, whom he likes to cite, or the Danish theologian Soeren Kierkegaard, his contemporary, whom he did not know but whom modern thinkers regard as the most revolutionary theologian of the nineteenth century. All three—Emerson, Goethe, and Kierkegaard—were interested in what modern philos-

[1]*Works,* Cent. Ed., Vol. II, p. 283; Carpenter ed., p. 143.
[2]"Worship," in *Works,* Cent. Ed., Vol. VI. *Conduct of Life,* p. 230.

ophy now calls "existential thinking," or the endeavor of the feeling-reasoning mind to reach into the depth of human existence by dint of revealing its ever-new situations, decisions, and relationships to the universe. The fight of Kierkegaard against institutionalized Christianity and against Hegel's philosophy, which seemed to him the paradigm of speculative arrogance, is, in its nature, the same as the conflicts of Emerson with "a foolish consistency, . . . the hobgoblin of little minds, adored by little statesmen and philosophers and divines."[1] He was suspicious of this hobgoblin's lurking even in a system so close to his own transcendentalism as that of the German romantic philosopher Friedrich Schelling.[2]

There will always exist two essentially different types of thinkers. For one the path of reasoning ends in a well-cultivated landscape of ideas. All roads, hills, and rivers are thoroughly mapped so that everyone may find his way and know where he is. The other type would say that this kind of landscape may give to man a feeling of security, but it is not God's nature. The people who live in it forget the heights and abysses of reality and lose their sense for the magic of the primitive.

In spite of all aversion to any logical definition of the Absolute, Emerson believes that there is one experience through which this Absolute manifests itself to man with eminent clarity—the feeling of truth which we have if our moral will inspires us toward moral action. For Emerson the *summum verum*, the "highest truth," was identical with the *summum bonum*, the "highest good." Morality is for him, also, the only conceivable power in human life in the face of which all individuality becomes irrelevant.

> Morals is the direction of the will on universal ends. He is immoral who is acting to any private end. He is moral—we say it with Marcus Aurelius and with Kant—whose aim or motive may become a universal rule, binding on all intelligent beings.

[1] "Self-Reliance," in *Works*, Cent. Ed., Vol. II: *Essays*, First Series, p. 57. Cf. Carpenter ed., p 96.

[2] "Education," in *Works*, Cent. Ed., Vol. X: *Lectures and Biographical Sketches*, p. 133.

It is "binding" not because intelligent beings agree that it is useful to obey it (it is that also), but because:

> It is the truth. When I think of Reason, of Truth, of Virtue, I cannot conceive them as lodged in your soul and lodged in my soul, but that you and I and all souls are lodged in that.[1]

Here is the point that clarifies the essential difference between Emerson and the modern pragmatism of William James or John Dewey. In many respects the ideas of these thinkers overlap. Emerson, like James, repeatedly asserts that:

> The advantage of the ideal theory over the popular faith is this, that it presents the world in precisely that view which is most desirable to the mind.[2]

It gives wings to man and inspires him toward greater action. But all this is for Emerson, in contrast to James, only the effect, not the cause, of our belief in the Absolute. For Emerson, as for James, there exists "the universal impulse to believe."[3] But it is not the external desire for "beatitude"[4] that leads us to decide in favor of religion. Rather, religion and the consequent sentiment of beatitude spring from our imbeddedness in something infinitely greater than our individuality. Man can choose "isolation" from the whole, but then he impoverishes himself. He may be a decent and successful scholar, but he will not inspire; for how can he be profound who has no roots, and how can he enlighten who receives no light?

Emerson's teaching is not a gospel of retreat into a realm of dreams and illusions, an "escape into an ivory tower." It is a most valiant challenge to conquer the path toward freedom and independence in all humility and simplicity of mind. In Emerson's

[1] "Character," in *Works*, Cent. Ed., Vol. X: *Lectures and Biographical Sketches*, pp. 92 and 98.

[2] "Nature," in *Works*, Cent. Ed., Vol I, p 59; Carpenter ed , p. 40.

[3] "Experience," in *Works*, Cent Ed , Vol. III, p. 74, Carpenter ed., p. 186.

[4] "The Over-Soul," in *Works*, Cent. Ed., Vol. II, p. 269, Carpenter ed., p. 135. See also "The Divinity School Address," in *Works*, Cent Ed., Vol. I, p. 125; Carpenter ed., p. 74.

famous "Divinity School Address," which caused his temporary banishment from the precincts of Harvard, we find the following sentence:

> The man who renounces himself, comes to himself.[1]

Like similar passages in the New Testament, this sentence expresses that wondrous give-and-take which occurs in a vivid relation between man and eternity. Only those who are capable of immersing themselves in the ultimate whole will receive in return their individuality; only they can be "self-reliant," without arrogance and isolation, because they are links in an unbroken chain at the beginning and end of which is the Absolute, or God. Only they, and not the overweening individualists, have the right to assert their personality against society, because it is their inspiration and courage on which society and all worldly institutions live.

> Society everywhere is in conspiracy against the manhood of every one of its members. Society is a joint-stock company, in which the members agree, for the better securing of his bread to each shareholder, to surrender the liberty and culture of the eater. The virtue in most request is conformity. . . . Whoso would be a man, must be a nonconformist.[2]

"Conformity," according to Emerson, extinguishes the spark of democracy. For the moment people lose the Absolute in their hearts, they are on the way to admire idols. On the other hand, those who are nonconformists in Emerson's sense will always feel themselves compelled to submit all man-created work to the judgment of the Absolute. Herein lies a seeming contradiction. All religions tend to create communities, institutions, and churches; otherwise they could not reach the people and transmit their gospels On the other hand, it is genuine religion which will always rebel against the tendency of forms and institutions to deaden spontaneity. For out of its very nature, religion must fight all those who arrogate to

[1]See *Works*, Cent. Ed., Vol. I, pp. 122 and 131; Carpenter ed., pp. 73 and 78.
[2]"Self-Reliance," in *Works*, Cent Ed., Vol II, pp 49 f; Carpenter ed, p. 92.

themselves the right to become the masters of freedom and conscience. Therefore the originality of religious experience has always been the strongest enemy of settled hierarchies.

There are words in Emerson's writings which remind us of Rousseau's and Nietzsche's hatred of the so-called blessings of civilization.

> The civilized man has . . . lost by refinement some energy, by a Christianity, entrenched in establishments and forms, some vigor of wild virtue. For every Stoic was a Stoic; but in Christendom where is the Christian?[1]

Yet Emerson's world is completely different from that of Nietzsche's superman. Emerson says:

> Trust thyself: every heart vibrates to that iron string.

This sentence might occur also in Nietzsche But we could not find in Nietzsche the following statement of Emerson's:

> Accept the place the divine providence has found for you, the society of your contemporaries, the connection of events. Great men have always done so, and confided themselves child-like to the genius of their age, betraying their perception that the absolutely trustworthy was seated at their heart, working through their hands, predominating in all their being. And we are now men, and must accept in the highest mind the same transcendent destiny; and not minors and invalids in a protected corner, not cowards fleeing before a revolution, but guides, redeemers and benefactors, obeying the Almighty effort and advancing on Chaos and the Dark.[2]

That is to say, in spite of all your individuality and your criticism of society, and even though you feel that you must become a revolutionary, do it in humility. Man has the right of rebellion only if he does not serve his own self, but feels himself rightly a missionary of historic providence.

[1] "Self-Reliance," in *Works*, Cent. Ed., Vol II, p. 85; Carpenter ed., p. 111.
[2] *Works*, Cent. Ed , Vol. II, p. 47, Carpenter ed., p. 90.

The fear of the consequences of false intellectual arrogance leads Emerson to question the unlimited cultural effect of modern science.

Needless to say, he never shows that opposition to courageous scientific scrutiny which was, unfortunately, so often displayed by theology. For him the miracle of life becomes all the greater the more we know about it. To discover the relationship between "cause and effect" is for him one of the noble duties of the "self-reliant man".

> So use all that is called Fortune. Most men gamble with her, and gain all, and lose all, as her wheel rolls. But do thou leave as unlawful these winnings, and deal with Cause and Effect, the chancellors of God. In the Will work and acquire, and thou hast chained the wheel of Chance, and shall sit hereafter out of fear from her rotations.[1]

But he fears that the method of isolation and specialization, and the hypothesis of mechanical determinism which underlie all exact experimentation, may be expanded into a total aspect of man and the universe. Such a confusion of scientific method with statements about the ultimate nature of being would deprive us of the breadth of comprehension and imagination which is necessary to see even the very results of exact science in their proper relationship to the deeper concerns of man.

> I see not, if one be once caught in this trap of so-called sciences, any escape for the man from the links of the chain of physical necessity. . . . But it is impossible that the creative power should exclude itself. Into every intelligence there is a door which is never closed, through which the creator passes.[2]

At another place Emerson says:

> In inquiries respecting the laws of the world and the frame of things, the highest reason is always the truest. . . . Empirical science is apt to cloud the sight, and by the very knowledge of

[1] "Self-Reliance," in *Works*, Cent. Ed., Vol. III, p. 89; Carpenter ed , p. 113.
[2] "Experience," in *Works*, Cent. Ed., Vol. I, p 54; Carpenter ed., p. 175.

functions and processes to bereave the student of the manly contemplation of the whole. The savant becomes unpoetic. But the best read naturalist who lends an entire and devout attention to truth, will see that there remains much to learn of his relation to the world, and that it is not to be learned by an addition or subtraction or other comparison of known quantities, but is arrived at by untaught sallies of the spirit, by a continued self-recovery, and by entire humility.[1]

A critic may miss in these sentences the necessary caution against all kinds of metaphysical dogmatism and subjective intuitionism that scientific training is rightly proud to have driven out of its pupils. Or one may object that it is the very improvement in scientific knowledge and method which improves also our intuition. Pasteur said: *Dans les champs de l'observation le hasard ne favorise que les esprits préparés*, and there is certainly no necessity to confine the word "invention" merely to scientific and technical discovery; rather, the words of the French scholar hold true also of philosophy. These objections Emerson would accept. But he would reply that nothing is won if we mistake quantitative methods, properly intended for the investigation of matter, for the total instrumentality available to the human mind in its search for truth. In our attempt to avoid the traps of intuition, we may run into the ambushes of another fallacy, which forbids us any faith, unless we can submit its content to the tools of a laboratory.

To what extent Emerson's prognosis of the limitations of a merely empirical concept of man and his civilization has been correct, everybody will have to decide according to his own convictions But Emerson would never have wished us back into a pre-scientific age only because we have not understood completely how to use the great tool of science. How could it be otherwise with a man who believes that "the universe is represented in every one of its particles"?[2]

In a visionary chapter in the essay on "Worship," Emerson even predicts the convergence of science, philosophy, and the humanities

[1] "Nature," in *Works*, Cent. Ed., Vol. I, p 66; Carpenter ed., p. 43.
[2] "Compensation," in *Works*, Cent. Ed., Vol. II, p 101; Carpenter ed., p. 119.

with a confidence that must astonish modern specialist orthodoxy in both the laboratories and the liberal arts departments of our universities.

> Our recent culture has been in natural science. . . . Man has learned to weigh the sun, and its weight neither loses nor gains. The path of a star, the moment of an eclipse, can be determined to the fraction of a second. Well, to him the book of history, the book of love, the lures of passion and the commandments of duty are opened; and the next lesson taught is the continuation of the inflexible law of matter into the subtile kingdom of will and of thought; that if in sidereal ages gravity and projection keep their craft, and the ball never loses its way in its wild path through space—a secreter gravitation, a secreter projection rule not less tyrannically in human history, and keep the balance of power from age to age unbroken. For though the new element of freedom and an individual has been admitted, yet the primordial atoms are prefigured and predetermined to moral issues, are in search of justice, and ultimate right is done. Religion or worship is the attitude of those who see this unity, intimacy, and sincerity; who see that against all appearances the nature of things works for truth and right forever.
>
> It is a short sight to limit our faith in laws to those of gravity, of chemistry, of botany, and so forth. Those laws do not stop where our eyes lose them, but push the same geometry and chemistry up into the invisible plan of social and rational life.[1]

A great vision indeed! Some experts in the history of thought, reading this passage, may be reminded of the fancies of the romantic school of natural philosophy, particularly of Schelling, whose thought had certainly some indirect influence on Emerson. Philosophers may object that Emerson points exactly at the most crucial of all problems—that of the relationship between natural laws and human freedom of individuality—but gives no hint as to how to solve it. Yet if we disregard for a while the premature solutions of earlier periods and the riddles still before us, is the dream of Emerson so very different from that of the great pioneers of science, let us say, of Galileo and Newton? Might the day not come when, at

[1] "Worship," in *Works*, Cent. Ed., Vol. VI: *Conduct of Life*, pp. 218 f.

a higher stage of philosophical thought and empirical research, a new unity of all the sciences could be achieved?

Emerson's Ideas about Education

All Emerson's writings are more or less variations of the same central scheme: man within the Absolute. This fact becomes perceptible also in his thoughts on education, which are interwoven with almost all his important utterances, and also in the special essay on the subject entitled "Education."

Children are for Emerson the purest expression of divinely inspired nature. They are still in that organic unity with themselves and the universe which most adults have forfeited For this reason they have a surer instinct than adults and are unerring in their ability to distinguish "truth from counterfeit."[1] Emerson loved children for their grace and innocence and the charm of their frailties, and he regarded them with reverence Again and again he repeats the idea which more than any other shows his respect for the child: "Trespass not on his solitude."[2] In a world mad with constant bustle and false concepts of sociality, that sentence ought to be written over the entrance of every house where adults work as guides and guardians of children. "Their mind being whole, their eye is as yet unconquered, and when we look in their faces we are disconcerted," because we feel painfully our own inferiority.

> I like boys, the masters of the playground and of the street—boys who have the same liberal ticket of admission to all shops, factories, armories, town-meetings, caucuses, mobs, target-shootings as flies have; quite unsuspected, coming in as naturally as the janitor—known to have no money in their pockets, and themselves not suspecting the value of this poverty; putting nobody on his guard, but seeing the insight of the show—hearing all the asides. There are no secrets from them; they know everything that befalls in the fire-company, the merits of every engine and of every man at the brakes, how to work it, and are swift to try their hand at every part; so too the merits of every locomotive on the rails, and

[1] "Education," in *Works*, Cent. Ed., Vol. X, p. 139.
[2] *Ibidem*, p. 143.

will coax the engineer to let them ride with him and pull the handles when it goes to the engine-house. They are there only for fun, and not knowing that they are at school, in the courthouse, or the cattle-show, quite as much and more than they were, an hour ago, in the arithmetic class.[1]

This is certainly one of the most charming descriptions of the life of an old, small town. Those of us who were blessed with such a youth will always preserve the memory of it with a feeling of gratitude. It makes us understand the account of Julian, son of Nathaniel Hawthorne, Emerson's friend, that Emerson was the most loving and understanding comrade of the children in his neighborhood. When little Una had ventured to invade his study, "he laid aside the poem or the essay he was writing to entertain Una in his study, whither she had gone alone and of her own initiative to make him a call. . . . But Emerson's mind was so catholic, so humble, and so deep that I doubt not he derived benefit even from child-prattle."[2]

Such men we can trust when they write about education. And how similar they were, in spite of all differences—Pestalozzi, Froebel, and Emerson—not only in essential tenets of their philosophy, but also in their sublime love for the young.

This is the main duty which Emerson sets before the educator: Take care that your teaching does not destroy but deepens man's imbeddedness in that stream of life which flows from the universe.

It is ominous, a presumption of crime, that this word Education has so cold, so hopeless a sound. A treatise on education, a convention for education, a lecture, a system, affects us with slight paralysis and a certain yawning of the jaws. . . . Education should be as broad as man.[3]

It is, therefore, a courageous, a manly, and a demanding education which Emerson desires.

[1] "Education," in *Works*, Cent. Ed., Vol. X, p. 138.

[2] Julian Hawthorne, *Hawthorne and His Circle*, p. 69. Harper and Brothers, New York, 1903.

[3] "Education," in *Works*, Cent. Ed., Vol X, p. 133.

Our culture has truckled to the times—to the senses. It is not manworthy. If the vast and the spiritual are omitted, so are the practical and the moral. It does not make us brave or free. We teach boys to be such men as we are. We do not teach them to aspire to be all they can. We do not give them a training as if we believed in their noble nature. We scarce educate their bodies. We do not train the eye and the hand. We exercise their understandings to the apprehension and comparison of some facts, to a skill in numbers, in words; we aim to make accountants, attorneys, engineers, but not to make able, earnest, great-hearted men. The great object of education should be commensurate with the object of life. It should be a moral one; to teach self-trust: to inspire the youthful man with an interest in himself; with a curiosity touching his own nature; to acquaint him with the resources of his mind, and to teach him that there is all his strength, and to inflame him with a piety towards the Grand Mind in which he lives. Thus would education conspire with the Divine Providence. A man is a little thing whilst he works by and for himself, but, when he gives voice to the rules of love and justice, is godlike.[1]

One of the main obstacles to the realization of all the great "hope" which education should hold for us is "a low self-love in the parent" which "desires that his child should repeat his character and fortune; an expectation which the child, if justice is done him, will nobly disappoint."[2]

There is a time in every man's education when he arrives at the conviction that envy is ignorance; that imitation is suicide; that he must take himself for better or for worse as his portion; that though the wide universe is full of good, no kernel of nourishing corn can come to him but through his toil bestowed on that plot of ground which is given him to till . . . We but half express ourselves, and are ashamed of that divine idea which each of us represents. It may be safely trusted as proportionate and of good issues, so it be faithfully imparted, but God will not have his work made manifest by cowards. A man is relieved and gay when he has put his heart into his work and done his best; but what he has said or done otherwise shall give him no peace. It is a deliverance which

[1]"Education," in *Works*, Cent. Ed., Vol. X, p. 134.
[2]*Ibidem*, p. 137.

does not deliver. In the attempt his genius deserts him; no muse befriends; no invention, no hope.[1]

What are now, according to Emerson, the ways and methods which could help us to bring up youth in this spirit of piety and self-trust? There are no isolated methods—here, also, everything points back to a spiritual ground in the freest and widest sense of the word.

One paragraph in Emerson's essay on "Education" is in this respect of most general significance:

> We learn nothing rightly until we learn the symbolical character of life. Day creeps after day, each full of facts, dull, strange, despised things, that we cannot enough despise—call heavy, prosaic, and desert. The time we seek to kill:—the attention it is elegant to divert from things around us. And presently the aroused intellect finds gold and gems in one of these scorned facts, then finds that the day of facts is a rock of diamonds; that a fact is an Epiphany of God.[2]

Does this mean to learn, or to teach, the symbolical character of life? It means this: do not convey facts simply as facts, and do not think that the essence of education is this or that particular knowledge. In whatever you teach, arouse the sense of wonder and reverence for the deeper causes of life. Then indeed facts will become eloquent and transparent; they will become transformed into energy, instead of remaining mere data. This energy will force the student to connect and to compare whatever he perceives; he will not only relate facts to each other horizontally but will discover that everything in the world is related to a deeper dimension, until he finally arrives at the realization of laws which permeate the universe. These laws will tell him that there is an order behind the flight of appearance, a principle within the transient, and he will see that he himself, as body and as mind, is a part of this cosmos.

This reverential feeling makes a person different from all those without a similar experience. He may not yet have "a religion"

[1] "Self-Reliance," in *Works*, Cent. Ed., Vol. II, pp. 46 f.; Carpenter ed., p. 90.
[2] "Education," in *Works*, Cent Ed., Vol. X, p 132.

and an articulate philosophy of life, but he has become religious; he feels his "being bound" to an Absolute which includes not only him but also his fellow men and all creation.

In spite of Emerson's individualism, he does not wish to leave this kind of education to merely subjective experiences. This he would deem the same as leaving the child to chaos. Christianity and classical authors, from Plato up to Goethe, had given him a depth, calmness, and discipline of mind which very few achieve. The self-reliance and nonconformity he asks for are the result of strenuous effort and self-discipline; they are not something for "timid striplings," "desponding whimperers," and those unable to "go alone," even when they are adults. The one element of life, which is power or energy, needs the other, which is form.[1] Therefore every child must have inculcated in him "habits" and "discipline" with which to master himself and the tasks of life. "Here are the two capital facts, Genius and Drill."[2] (Emerson capitalizes both words.) Needless to say, this emphasis on the necessity of training and habituation would never have induced Emerson to welcome the old drillmaster. Even in teaching religion or the great authors, such a person would bar the child's way toward reverence and wonder for the great things in life. But Emerson wants, with as fine methods as are available, to make the drill and discipline in a child's work parts of a vibrant and animated process which arouses the child to exercise his natural youthful vigor even in the face of obstacles.

Fortunately, it is not the school alone that educates, nor is it the intellect. We learn most through action. Here Emerson's metaphysical convictions concerning the identity of the true and the morally good enter into his pedagogy. Give the young person a chance to prove and develop his personality through doing something worth while. Use his talents and knowledge for a purpose which spurs his moral imagination. Even good books can become enemies of a man who does not know how to apply what they

[1]See "Experience," in *Works*, Cent. Ed., Vol. III, p. 65; Carpenter ed., p. 181.
[2]"Education," in *Works*, Cent. Ed., Vol. X, p. 144.

teach, either because he is not yet "ready for them"[1] or because they seduce him into mistaking a merely contemplative for an ethical life.

His belief in the unity of the true and the good and in the realization of the Absolute in man leads Emerson toward a certain pedagogical optimism. "We are born loyal. . . . We are born believing," he says in "Worship."[2] It is doubtful whether Emerson wished these sentences to be understood as an answer to the merely theoretical question of whether man is innately good or bad—a question which rests, anyhow, on false logical premises But he believed that the moment a human being has realized his unique place within the universe, he cannot help but desire to live a life adequate to this insight. Then he has become a "character." Here is Emerson's profound formulation: "Character is the habit of action from the permanent vision of truth."

Emerson's optimism is no shallow belief in historical progress, emerging automatically if you only leave human nature to itself. Rather, he did not believe in progress. "Not in time is the race progressive," he says in "Self-Reliance."[3] He also says: "All men plume themselves on the improvement of society, and no man improves."[4] The clearest expression of his opinion on this subject can be found in "Self-Reliance."

> Society never advances. It recedes as fast on one side as it gains on the other. It undergoes continual changes; it is barbarous, it is civilized, it is christianized, it is rich, it is scientific; but this change is not amelioration. For every thing that is given something is taken. Society acquires new arts and loses old instincts.[5]

Indeed, he was one of the sharpest critics of society, but optimism is nevertheless the right word for his creed. For he believed that the human race, at least in its most advanced members, is capable of deeds far greater than we dare imagine, if once it under-

[1]See "Culture," in *Works*, Cent. Ed., Vol. VI, p. 142.
[2]See "Worship," in *Works*, Cent Ed., Vol. VI, pp. 202 and 203.
[3]"Self-Reliance," in *Works*, Cent Ed, Vol. II, p. 86; Carpenter ed., p. 111.
[4]*Ibidem*, pp. 84 and 110, respectively.
[5]*Ibidem*.

stands how to utilize fully the power of its spiritual resources. No doubt, his thorough familiarity with Indian religious wisdom encouraged him to cherish this belief. Transferred into the realm of education, it meant for him that many of the disappointments of both teacher and child could be relieved by education endowed with "spirit." This spirit expresses itself to men in "those sentiments which make the glory of the human being, love, humility, faith, as being also the intimacy of Divinity in the atoms."[1]

Thus Emerson's "courageous and manly education" is far from being a merely intellectual and bookish affair which can be confined to the school building. All educates, and all can miseducate. Any subject matter, interpreted seriously, can contribute to man's endeavor to understand himself. There is, for Emerson, no strict division between the humanities and the natural sciences, so far as their educational value is concerned. Both can help man to realize his role within the universe of facts and ideas. "Nature is a discipline," and it is to the same extent "the symbol of spirit."[2] Show this spirit in your biology and physics, not through sermonizing, but through driving at the deeper implication of whatever problems emerge in whatever context. You then contribute more to a liberal, humane, and even religious education than a teacher who talks about Plato and the Bible but is not "within the spirit."

Full of confidence in a comprehensive scientific approach to every human task, Emerson regarded with interest the work of those of his contemporaries who were eager to introduce a more methodical attitude into education. In all likelihood he did not know Comenius' *Didactica Magna*, but he would have enjoyed it for its combination of religion with a courageous Baconian spirit, in spite of its medieval analogies. Emerson was very sympathetic with the work of Pestalozzi, with which he probably became acquainted through his friend Bronson Alcott, not unrightly called "the American Pestalozzi." Emerson quotes from one of Pesta-

[1] "Worship," in *Works*, Cent. Ed , Vol VI, p. 231.

[2] "Nature," in *Works*, Cent. Ed , Vol. I, pp. 36 and 25; Carpenter ed., pp. 27 and 21.

lozzi's later works in "The American Scholar,"[1] and his essay "Education" betrays more than a superficial knowledge of him. Emerson speaks of the "natural method" which was the current *terminus technicus* for the Pestalozzian system. Like Pestalozzi, he believes that sound education proceeds through widening circles from the mother to the family, from the family to the community, and hence into the world; he uses Pestalozzian ideas in describing the relationship between a general human and a vocational education; and he admonishes the teacher to learn how to educate children from the natural way in which they educate themselves.

Emerson and His Critics

Three main objections could be leveled against Emerson.

The first would come from the practical teacher. How many students, he might say, are "ready" to enjoy the depths of Greek, Christian, and Indian thought, and the works of Shakespeare, Milton, and Goethe? What about the teacher's obligations to all the others who populate a modern public school or even a modern college? Emerson is well aware of these encumbrances.

> Happy the natural college . . . self-instituted around every natural teacher; the young men of Athens around Socrates; of Alexandria around Plotinus; of Paris around Abelard; of Germany around Fichte, or Niebuhr, or Goethe: in short the natural sphere of every leading mind.

We could add "the natural sphere around Emerson at Concord." He continues:

> But the moment this is organized, difficulties begin.

The greater part of the modern bread-and-butter students have "appetite and indolence . . . but no enthusiasm, . . . and the teaching comes to be arranged for these many, and not for those few."

[1] "'I learned,' said the melancholy Pestalozzi, 'that no man in God's wide earth is either willing or able to help any other man.'" See *Works*, Cent. Ed., Vol. I, p. 113; Carpenter ed., p. 69.

"You have to work," so he addresses the teachers, "for large classes instead of individuals; you must lower your flag and reef your sails to wait for the dull sailors; you grow departmental, routinary, military almost with your discipline and college police."[1]

Yet certain elements in Emerson's educational thought will be valid at all times and in every situation. First: possess a great ideal! Know that you must aim the spear farther than it will fall. Without ideals and courageous aiming, a civilization, a nation, and its education would capitulate before the battle started. Second: under all circumstances remember that education cannot succeed unless it obeys two commandments—respect the pupil (which does not mean to coddle him), and respect yourself. Third: know that education needs enthusiasm—not just any kind of excitement, but energy derived from inspiring values. Fourth: know also that there must be drill and discipline, and show to yourself and your pupils that accuracy and inspiration, if rightly imparted, do not exclude but condition each other. Fifth: even if you have to "lower your flag," keep it flying. If you teach noble ideas with humility and devotion, maybe these ideas will suddenly reveal simple and commonly understandable human truths. Exactly the greatest and most profound of our thinkers and artists possess this element of simplicity. And if you must finally decide that the limitations of your pupils—perhaps your own limits, also—do not allow you to read Milton and Shakespeare with them, there is no reason to resort to cheap material. The literature of all great nations contains works understandable by the humblest normal human minds. In order to interest and to be understood, you need not compromise with the vulgar. Sixth: remember that even little things can be made significant and transparent, if you reveal their place in the greater order of the human and divine cosmos. And seventh: help to make your society such that it will regard its schools as but a small part of its total and general educational responsibilities. On the other hand, teach school in such a way that the pupil, after becoming an adult, will feel that his most noble

[1] "Education," in *Works*, Cent. Ed., Vol. X, pp. 149 f.

and courageous deeds are but an expression and expansion of the spirit he inhaled in childhood.

The second objection to Emerson's philosophy will be that it rests on the unproved and unprovable assumption of man's contact with something for which Emerson himself has a dozen names, religious and philosophical, without ever explaining its real substance. All he does is to point at emanations of this great Unknown in the world of man and nature. But is it not possible to explain human values much more simply as results of the increased practical experience of the human race, without any resort to religion and metaphysics? One could answer to this objection that the exclusion of metaphysical assumptions is perfectly legitimate, even necessary, in all such investigations for which quantitative and mechanical methods are rightly supposed to suffice. The English physicist Lord Kelvin has said:

> When you can measure what you are speaking about, and can express it in numbers, you know something about it; and when you cannot measure it, when you cannot express it in numbers, your knowledge is of a meager and unsatisfactory kind. It may be the beginning of knowledge, but you have scarcely in your thought advanced to the stage of science.[1]

Yet the greatest and most decisive powers in life are beyond weighing and measuring: joy and sorrow, love and horror, birth and death, decision and despair.

Here we arrive at the third objection to Emerson's philosophical attitude: He was not religious enough! Nor was he definite enough! Where is the formulation of his creed? Where is his loyalty to any dogma, to any document, and to any institution?

No doubt the emphasis on inspiration prevented Emerson from seeing that ideas must receive some external form to fashion the standards of mankind. He did not see the whole depth of the cruel yet inevitable antinomy between order and inspiration, pictured so grandiosely in Dostoevski's legend of the Grand-Inquisitor. On the other hand, Emerson hardly exaggerated the danger inherent

[1]The author owes this quotation to Mr. Ordway Tead of New York.

in all institutionalization of ideas. It is exactly his type which is needed to save institutions from decay and corruption.

In his distrust of all organization, Emerson criticized American democracy.[1] He blamed it for its imitation of European patterns, its mammonism, and its equalitarianism. He did so not because he was lacking in love for his country, but because he wished a culturally productive and self-reliant America. However, an independent American civilization was for him not the same as isolationism or a complete break of the common tradition of the western nations. For that he had too many spiritual ancestors in many countries of the world "Independence" he understood in the sense of a great duty incumbent on this country, namely, to interpret and use the great sources of human productivity in a free and courageous spirit of which he thought the older countries could no longer avail themselves.

Of similar character was his attitude toward Christianity. In a way, he secularized Christianity, if secularization means the transformation of older mythical symbols into the language of one's own time. He did so in order to rescue the living spirit of the past for the present But if secularization means to deprive life of its transcendence, then Emerson did exactly the opposite. However, even liberal-minded people may miss in Emerson a deeper understanding of certain essential ideas of Christianity. They may refer to his failure to realize the meaning of the Cross, of death, and of the Christian interpretation of suffering. Such critics would not be entirely wrong. Emerson, of course, knew of the passions, the desperation, and the salvation of such men as Saint Augustine, but in a way all this was alien to his more Apollinian nature. He interpreted Christianity almost as Plato or Plotinus might have interpreted it, had they lived within the Christian tradition. That may imply for some that he did not understand Christ at all, and for others that he understood him better than many Christians.

[1]See "Politics," in *Works*, Cent Ed., Vol. III, pp. 133 f.; Carpenter ed , pp. 194 f ; and other places.

John Dewey

(1859 -   )

The Philosophical Scene

It was left to the end of the nineteenth century and the first decades of the twentieth century to apply to common school practice the ideas about educational method of men such as Pestalozzi, Froebel, Herbart, and Emerson. Several conditions had to be fulfilled before this could happen.

First, free, compulsory, and universal education had to be introduced and the school age extended. Thus the teacher had to deal with a large number of students of most different ability and background and also to relate his program and goals more closely to the complexity of modern adult life.

The second cause of the change in modern education was the rapid growth of modern vocations. All work became increasingly specialized and subdivided, and there arose new technical occupations for which the old-fashioned mode of apprenticeship no longer sufficed. These occupations required a scientific insight into the process of production and the character of the material dealt with. Therefore more and more new subjects were forced into the schools and colleges. They were not always welcomed by the traditional schoolman who, with a feeling of distress, saw the destruction wrought upon the older, clearly classified, and systematically arranged school types and curricula. But desiring prestige and lacking the older tradition of method, the teacher was stimulated to think about suggestive ways of teaching. The programs had to be adjusted to the new as well as the old demands, and some reconciliation, or at least a tolerable truce, had to be found between the older humanities and the new scientific and vocational interests.

Besides these more extraneous factors, a third and more intrinsic condition had to be fulfilled before the modern conception of educa-

tion could make felt its impact on the public school system. The "new method"—as the nineteenth century phrased it—needed a psychological understanding of the child and his learning far above the merely intuitional capacities of the ordinary teacher.

As Herbart had anticipated, much improvement came through the use of mathematics, the exact sciences, and medicine. These sciences were applied to education by such men as Fechner and Wundt in Germany, Binet and Janet in France, William James, Stanley Hall, C. H. Judd, and Edward Lee Thorndike in America, Pavlov in Russia, and the psychoanalytical schools of Freud and Adler in Austria. The knowledge thus gained was far from perfect, on the contrary, much pseudo-wisdom was willingly accepted if it presented itself as the result of "exact" methods of research. "Exactness" became the fetish of the new generation, as much as "intuition" had been the fetish of former generations. Certainly Dewey was correct when in *The School and Society* he asserted:

> We cannot admit too fully or too freely the limits of our knowledge and the depths of our ignorance in these matters. No one has a complete hold scientifically upon the chief psychological facts of any one year of child life.[1]

A similar critical remark appears also in *Experience and Nature:*

> Too often, indeed, the professed empiricist only substitutes a dialectical development of some notion about experience for an analysis of experience as it is humanly lived. . . . Not safely can an "ism" be made out of experience. For any interpretation of experience must perforce simplify; simplifications tend in a particular direction; and the direction may be set by custom which one assumes to be natural simply because it is traditionally congenial. . . . Because intellectual crimes have been committed in the name of the subconscious is no reason for refusing to admit that what is not explicitly present makes up a vastly greater part of experience than does the conscious field to which thinkers have so devoted themselves.[2]

[1]John Dewey, *The School and Society*, p. 89. The University of Chicago Press, 1915

[2]John Dewey, *Experience and Nature*, pp. 4 f. Open Court Publishing Company, Chicago, 1925.

Yet in spite of all criticism that may be leveled against a young science still in search of its own methodology, one result has been achieved—a refined understanding for the psychological problems of the child.

Fourth and finally, the "new education" needed not only psychology but also a philosophy which could interpret the different trends in modern life and relate them to the problems of education.

Such philosophies appeared in all great countries, some with a more idealistic tenor and others with a more realistic tenor, but, generally speaking, with a prevailing tendency toward an empiricist and antisystematic attitude. Life as such, in its ever-changing aspects—not systems and abstractions—became the center of interest. In America it was the so-called school of "pragmatism" which expressed the new spirit most impressively. Pragmatism has often been called "the first original American philosophy" and "the typical American philosophy." But trends of thought similar to the pragmatic had existed since the days of the Greek Sophists and had been revived in modern form (under different names) in all the more advanced countries since the eighteenth century. Nor can pragmatism be so narrowly identified with Americanism, as has sometimes been done. This country had a Jonathan Edwards, an Emerson, and a Josiah Royce. These men were idealists, and their thought is just as germane to the American mind and tradition as is Dewey's pragmatism. Which is more "American," a deeply religious and idealistic attitude or a pragmatic attitude? This question is not so easy to answer. For one thing, idealism and pragmatism have not infrequently been combined, as, for example, by Franklin and by Jefferson.

Dewey's Educational Program

The foremost representatives of American pragmatism are William James and John Dewey. As the latter is the younger and has certainly had more influence on modern education in this and in other countries than any other modern American thinker, let us

briefly describe the essence of his educational program.[1] We can do it briefly because most of Dewey's ideas are not wholly new to those who are already acquainted with the great educational thinkers of the eighteenth and nineteenth centuries.

According to Dewey, education is—to modify an august phrase of Lincoln's—a process performed "of the people, by the people, for the people." It is a social process, and it cannot be separated from the total character and tasks of society. In the school, therefore, should be concentrated all those activities which help and teach the child to share in the process and the fostering of civilization.

As a special form of environment, the school has been entrusted by society with the function of assimilating the worthy features of the community, of eliminating the unworthy, and of balancing the often diverse and contradictory social tendencies characteristic of modern civilization. The more the child feels that the school is an institution in which he can grow and work in connection with natural tasks such as life requires, the happier and the more productive he will be.

Moral discipline ought to be a part and an outcome of school life, not something proceeding from the teacher. When the school has become a microcosm of society, then the child will find himself in concrete social situations which will motivate him more effectively than mere verbal abstractions or extraneous discipline will. So education "is a process of living and not a preparation for future living."[2]

Such a school, with the teacher as the comrade and adviser rather than the superior, requires a much finer understanding of the child's

[1]We refer particularly to the following writings of Dewey on education. *My Pedagogic Creed*, 1897; *The School and Society*, 1899, *How We Think*, 1910 (rev. ed. 1933); *Interest and Effort in Education*, 1913; *Schools of Tomorrow*, 1915; *Democracy and Education*, 1916; *Human Nature and Conduct*, 1922; *Experience and Nature*, 1925; *The Quest for Certainty; A Study of the Relation of Knowledge and Action*, 1929; *Art as Experience*, 1934; *Experience and Education*, 1938.

A complete bibliography of Dewey's writings is given in *The Philosophy of John Dewey*, edited by Paul Arthur Schilpp (Library of Living Philosophers, Vol. I), pp. 611–676. Northwestern University, Evanston, Ill , 1939.

[2]John Dewey: *My Pedagogic Creed* (published with *The Demands of Sociology upon Pedagogy*, by Albion W. Small) A. Flanagan Company, Chicago, 1910.

life and of individual differences than the old formal and disciplinary training. Here is the specific function of psychology which, besides sociology, represents (according to Dewey) the most important subsidiary science for the educator. The school must learn to understand better and better how to combine guidance and motivation of the child with an appeal to his natural impulses. Only so can it make intrinsic out of extraneous goals, and voluntary out of imposed goals. Thus for Dewey, as well as for Herbart, the problem of interest becomes central. Also, with respect to their theory of the steps of thinking, the two men are in considerable agreement.[1]

But there are two differences—not in essence, but in degree—between Herbart and Dewey. Herbart concentrates primarily on the intellectual side of interest, as is natural in view of his rationalist psychology and the type of schools and pupils he had primarily in mind. Dewey, on the other hand, wants interest and activity to be more closely related to all the diverse features of community life, manual, intellectual, emotional, and social. The other difference is that for Herbart education is to be directed toward a clearly definable goal—a mature and fully developed character. The standards as to what a character is are to be derived not from a process of continual experimentation, of trial and error, but from the acknowledgment of values which are ultimately metaphysical in character. For Dewey, the naturalist, such a conception of education would involve the denial of one of the most important factors in life—namely, "change"—and the imposition of "supernatural" and "fixed" aims on the constantly developing process of education. Education "must be conceived as a continuing reconstruction of experience"; "the process and the goal of education are one and the same thing"[2] Or, to use the well-known formulations found in the chapter on "Education as Growth" in *Democracy and Education:*

[1]Compare Herbart's four steps and Dewey's five distinct steps in the process of thinking as explained in Dewey's *How We Think*, pp. 107 f. D. C. Heath and Company, Boston, 1933.

[2]*My Pedagogic Creed*, p 13.

(1) The educational process has no end beyond itself; it is its own end; and (2) the educational process is one of continual reorganizing, reconstructing, transforming. . . . Since in reality there is nothing to which growth is relative save more growth, there is nothing to which education is subordinate save more education.[1]

From this it follows that:

. . . to set up any end outside of education, as furnishing its goal and standard, is to deprive the educational process of much of its meaning, and tends to make us rely upon false and external stimuli in dealing with the child.[2]

Through placing the dynamic and social character of education in the foreground of the discussion, Dewey has helped decidedly to pull American educational thought out of the petty concepts of pedagogy, so far prevailing among teachers, and still prevalent among large groups of American citizens. For providing this impetus no expression of gratitude extended to Dewey can be exaggerated. Through placing the ideas of action and interest in the center of his educational philosophy, Dewey has decisively challenged the handling of method and subject matter in American schools.[3] The teacher is no longer compelled to determine the procedure of his lesson at home and then to convey it to the child according to schedule. Rather, method is to be understood as a way of ordering the total development of the child's powers and interest. Help him to express himself constructively in relation to the tasks accruing to him from his sharing in the life of the school and the human community at large; help him to control his action for the purpose of greater effectiveness; discover his interests and regard them as signposts indicating his future development; use examinations not for checking on externally acquired knowledge but for testing his fitness for social life—then you have the right method.

[1]From John Dewey, *Democracy and Education*, pp. 59 and 60. By permission of The Macmillan Company, publishers, New York, 1920.

[2]*My Pedagogic Creed*, p. 13.

[3]In this connection see also the numerous works of William Heard Kilpatrick, especially his *Foundations of Method*. The Macmillan Company, New York, 1925.

With the role of the teacher realized in this way, subject matter loses its exclusiveness. "The unconscious unity and the background of all his efforts and of all his attainments"[1] lies in the child's sharing in the wholeness of social life, and social life is not cut into ready-made pieces of knowledge. Hence the old departmentalization of the curriculum and the systematic succession of studies has to give way to an elastic program of activities. This program follows the child's realization of his role in the human community and his capacity to profit from the "funded capital of civilization," and it produces in him ever-new and more effective "attitudes towards, and new interests in, experience."

This shifting of the accent of education from the acquisition of subject matter, as prevailing in the ordinary school, toward the interests and activities of the pupil has evoked violent controversy between conservative and progressive teachers. Whatever the answer may be, this controversy has caused an extremely fruitful stirring up of the routine which is the constant menace of every institution. On the other hand, some of Dewey's admirers have not always been able to combine the quality of freedom demanded by Dewey with the qualities of discipline and thorough knowledge demanded by modern civilization.

The Relation of Dewey's Educational Program to His Philosophical Program

We may question whether the educational ideas of Dewey are the result of mere practical observation and experimentation—for which he had opportunity as director of the School of Education at the University of Chicago from 1894 to 1904—or are part of a general system of thought. In Dewey's case the latter is true, as in the case of most great educators. Hence only an analysis of his total philosophy will allow us to arrive at a more penetrating understanding of his educational thought. For this purpose—as we shall prove later on—it is necessary to divide Dewey's development as an in-

[1]*My Pedagogic Creed,* p 10.

dependent thinker into two phases. The first phase covers the years from about 1894 to 1930. In this period Dewey developed his pragmatic system without compromise and exercised his greatest influence. The second phase, after 1930, is characterized by a certain eclecticism

Let us deal first with the period from 1894 to 1930. Dewey himself avoids as far as possible any fixation of his philosophy to a particular ism. His interpreters have added to the well-known label of "pragmatism" the term "experimentalism," "instrumentalism," "operationalism," or "functionalism," all of which names indicate an emphasis on the dynamic, performing, and ever-changing character of life. One could also call Dewey's philosophy a "sociological" one, in that it attempts to explain human development as the result of the natural co-operation of men in society, with exclusion of any resort to metaphysical conceptions. Such conceptions are, from Dewey's point of view, nothing but the results of escape from reality, or products of a leisure class which permits itself to indulge in contemplation, leaving to others the plowing of the field and the hewing of the stones. Though Dewey makes little mention of Karl Marx in his main books, there is no doubt but that the latter's conception of culture as being the superstructure of economic life, and Auguste Comte's doctrine of positivism, have molded his thought. But it is probably Darwin who, most of all thinkers, influenced Dewey's interpretation of civilization. One could explain this interpretation as a transfer of the ideas of biological evolution, selection, and struggle for survival into the total life of man, in so far as he is not only an animal but also a thinking, creating, and reverential creature.[1]

To exemplify this attitude with reference to education, we can turn to the first pages of Dewey's *Democracy and Education*. There the cause of, and reason for, education are explained primarily in bio-sociological terms.

[1]See Dewey's *The Influence of Darwin on Philosophy, and Other Essays in Contemporary Thought*, Chapters V and VII. Henry Holt and Company, New York, 1910

It is the very nature of life to strive to continue in being. Since this continuance can be secured only by constant renewals, life is a self-renewing process. What nutrition and reproduction are to the physiological life, education is to the social life.[1]

Ultimately education serves the human tendency to achieve satisfaction and happiness, and to avoid the disagreeable. Needless to say, these sentiments are not exclusively related to merely materialistic forms of pleasure; the most sublime mental and emotional acts are also involved. Thinking itself is—according to Dewey—a function through which man tends to free himself from feelings of tension through finding the means of changing the unpleasantness of a given unsolved situation. It is a by-product of action.[2]

Thus the motivation and standards of our actions, both low and lofty, lie in our desire to find ways for mastering and improving our environment And the only way to do so is to utilize and control our manifold impressions so that they may ever lead to more effective experiences, even if the road goes through trial, error, and sacrifice. Human life is best described as an experimental process, and the best method of living is the empirical method. This method is only possible, and at the same time most necessary, in social cooperation. Society is the soil in which human nature develops. Consequently,

> . . . the final issue of empirical method is whether the guide and standard of beliefs and conduct lies within or without the *sharable* situations of life.

It is, according to Dewey, the sin of all professedly nonempirical philosophies:

> . . . that in casting aspersions upon the events and objects of experience, they deny the power of common life to develop its own

[1]From *Democracy and Education,* p. 11. By permission of The Macmillan Company, publishers, New York, 1916.

[2]See Dewey's *How We Think* (D. C. Heath and Company, Boston, 1933); *The Quest for Certainty* (Minton, Balch and Company, New York, 1929); and *Logic* (Henry Holt and Company, New York, 1938).

regulative methods and to furnish from within its adequate goals, ideals, and criteria.[1]

Taking this emphasis on the life-inherent character of experience, thought, and values into account, one might, in addition to many other catchwords, label Dewey's philosophy a philosophy of "immanence." Ideals as well as principles are no longer transcendent powers, but they are "methods" for a better regulation of life, and "growth itself is the moral end."[2]

One of the many evils—so Dewey says—which arise from the transcendentalist and religious emphasis on metaphysical ideals and principles is the tendency toward absolutizing things which are essentially life-inherent and relative. This absolutist tendency has made "eternal" and "sacred" commandments out of changing human experiences, and taboos out of perfectly natural phenomena. It has built fixed and static memorials for admiration and emulation instead of freeing man's inventiveness and vitality for ever-new enterprise. Innumerable prejudices, false orthodoxies, persecutions, and retardations of progress have been engendered in this way.[3]

To foster experimentation nothing, according to Dewey, is so fitted as "experimental logic." In earlier times it liberated the spirit from the weights that tradition had tied to its wings, and it will do so also in the future, particularly if applied to human progress.

The experimental logic when carried into morals makes every quality that is judged to be good according as it contributes to amelioration of existing ills. And in so doing, it enforces the moral meaning of natural science. When all is said and done in criticism of present social deficiencies, one may well wonder whether the root difficulty does not lie in the separation of natural and moral

[1]*Experience and Nature*, p. 38. Open Court Publishing Company, Chicago, 1925

[2]See Dewey's *Reconstruction in Philosophy*, p 177 and Chap. V. Henry Holt and Company, New York, 1920. See also *Experience and Nature*, pp 396 and 425.

[3]Discussions of and allusions to this problem are to be found in almost all of Dewey's writings

science. When physics, chemistry, biology, medicine, contribute to the detection of concrete human woes and to the development of plans for remedying them and relieving the human estate, they become moral; they become part of the apparatus of moral inquiry or science. The latter then loses its peculiar flavor of the didactic and pedantic; its ultra-moralistic and hortatory tone. It loses its thinness and shrillness as well as its vagueness. It gains agencies that are efficacious. But the gain is not defined to the side of moral science Natural science loses its divorce from humanity; it becomes itself humanistic in quality. It is something to be pursued not in a technical and specialized way for what is called truth for its own sake, but with the sense of its social bearing, its intellectual indispensableness. It is technical only in the sense that it provides the technique of social and moral engineering.[1]

Under these aspects of immanence and experimentalism philosophy also will change its character. It can no longer claim to lead the procession of the sciences; it is now in the midst of them. It has "no pre-eminent status; it is a recipient, not a donor."[2] It becomes a social function beside many others;[3] its main purpose being primarily "criticism."

These remarks are preparatory to presenting a conception of philosophy; namely, that philosophy is inherently criticism, having its distinctive position among various modes of criticism in its generality; a criticism of criticisms, as it were.[4]

In this capacity philosophy will achieve more than if it continues to cling to its old pew right beside theology. It will break down the division of men into hostile camps and help create a new "empirical liberalism."[5]

[1]*Reconstruction in Philosophy*, pp. 172 f. Henry Holt and Company, New York, 1920

[2]*Experience and Nature*, p. 410.

[3]*Reconstruction in Philosophy*, Chap. I.

[4]*Experience and Nature*, p 398.

[5]*Reconstruction in Philosophy*, p. 101.

Critique of Dewey's General Philosophy

In the previous sections we have attempted to give an account of the dominating ideas in Dewey's educational and general philosophy. It now behooves us to enter upon a critical evaluation. In making this attempt, let us proceed in a reverse order to that of our previous scheme: begin with Dewey's general philosophy and then pass over to his educational thought.

Dewey is one of the most astute, if not the most astute, among the modern philosophers who try to explain the quality and purpose of human life from an immanent and sociological point of view. His work offers one of the most helpful means of understanding the functioning of the human mind within a society of men who want to communicate with one another and to preserve themselves. Dewey's work encourages an experimental and scientific attitude; it prevents us from fixing our minds on things and ideas only because we happen to find them in the storehouse of tradition; it shows what men can achieve if they rely on their reason and courage instead of clinging to their prejudice; it teaches tolerance and respect for man without unduly deifying him—in short, it is a great corrective of false ideologies as well as a guide toward active, manly virtue.

On the other hand, Dewey's philosophy provides no exception to the rule that every human expression of truth is at the same time a limitation of it. In order to understand where the shortcomings of Dewey's philosophy lie, one must know that a thinker molds his ideas not only as an advocate of new opinions but also as an opponent of old opinions. The positive and the negative side in his mind are intimately related to each other, more than he himself might care to admit.[1] We cannot appreciate Plato without the back-

[1]Dewey himself is well aware of this fact. He even transplants the conflict, here alluded to, into his own personality as one the development of which "has been controlled largely by a struggle between a native inclination toward the schematic and formally logical, and those incidents of personal experience that compelled me to take account of actual material." See Dewey's "From Absolutism to Experimentalism," in *Contemporary American Philosophy*, edited by G. P. Adams and W. P Montague, Vol. II, pp. 16–17. The Macmillan Company, New York, 1930.

ground of the sophists and the decaying Athenian republic, or Saint Augustine without the disintegration of the Roman Empire which for the people of his time and culture was equivalent to the world.

So also the historical position and significance of Dewey can be fully understood only if we trace the forces in his life and country against which he speaks.

The most momentous of these forces is his early philosophical training. American philosophy then was mainly administered by theologians and was caught in the traps of Scotch intuitionalism, which was a serious obstacle to scientific inquiry. In comparison with this traditionalism, the dynamic character of Hegel's philosophy, with which Dewey became acquainted at Johns Hopkins University, "operated as an immense release, a liberation."[1] But that happened about forty years after the star of Hegel had gone down in his native country, in consequence of the rise of empiricism and Neo-Kantianism. And it happened forty years before the beginning of the modern European Hegel renaissance, which interprets the essence of Hegel's philosophy in the light of modern historical and scientific experience.[2]

Furthermore, the decades around 1900 excelled in a sort of semi-idealism and religious lip service. Certainly Dewey's youth coincided with a period when external prosperity concurred strangely with an utterly false phase in philosophy and religion.

Thus Dewey acquired a profound suspicion of everything that smacked of metaphysics, transcendentalism, and dialectics. He deemed it futile to deal with the infinite, the absolute, and the eternal, about which we know so little, and to distort at the same time the finite and the concrete, within which we could do so much

[1] John Dewey, "From Absolutism to Experimentalism," in *Contemporary American Philosophy*, Vol. II, p 19

[2] A striking example of Hegelian formalism applied to education is Karl Rosenkranz's *Die Padagogik als System*, published in 1848 It was translated into English in the years 1872–1874 under the title *Pedagogics as a System* (later editions under the title: *The Philosophy of Education*) and exercised a great influence in America, although the Herbartians in Germany had launched their attacks against Rosenkranz's antiquated ideas many years before 1872.

if only we dared contemplate our immediate responsibilities. Let us create conditions—so he taught—that help the good to thrive in more and more people; let us stop the avalanche of phrases with deeds both practical and constructive.

But is it really, as Dewey asserts so often,[1] the belief in the transcendent as such which has hindered men from constructive acting? That the history of churches is filled with superstition, sin, and failure no honest historian can deny. But does this result from their transcendentalism or from the deficiency inherent in human society and institutions? The religious would say that Dewey's criticism begins at the wrong end of the stick: he debases the deeper beliefs which have inspired man, and glorifies society which, without the continual awareness of persistent values, would be a still greater mass of greed and error than it is anyhow. Do not all great religions combine the spiritual element with commandments directed toward action? For Plato and Aristotle the contemplative attitude is the highest accomplishment of the human mind. But is their ethics not based on a concept of virtue (*areté*)[2] which would not allow them to acknowledge as worthy that contemplation which is nothing but "escape from reality?" Does not the whole concept of "escape from reality" sometimes mistake the most arduous achievements of prophets, artists, and thinkers for idleness and daydreaming, because those who use this concept of "escape" are themselves incapable of appreciating great spiritual values? What will happen to civilization if it becomes gradually convinced that it has no mooring in a deeper dimension and no relation to anything by which it may judge itself?

But there is in all "absolutists"—so the instrumentalists would reply—the tendency to cause life to stagnate by dint of their rigid and "fixed" ideals. Yet does not a real ideal always point beyond all possibilities of definite realization?

The deepest reason for all idealistic and dialectical systems of

[1]See Dewey's *Reconstruction in Philosophy, Democracy and Education,* and *Experience and Nature, passim.*

[2]See the sections on Plato and Aristotle, pp. 1–43.

thought is the very acknowledgment of an infinite movement in all things existing; not, as Dewey says, a tendency to split the wholeness of reality into two incompatible realms of spirit and matter, perfection and sin, order and confusion. And did not Emerson, the "transcendentalist," use the concept of the Absolute as a lever for raising complacency, dogmatism, and institutionalism from the souls of men? Dewey himself praises Emerson, the transcendentalist and reverent admirer of the Absolute, as the philosopher of democracy and as:

> . . . the one citizen of the New World fit to have his name uttered in the same breath with that of Plato.[1]

There is a passage in *Reconstruction in Philosophy* which shows Dewey's disinclination for any kind of *a priori* reasoning.

> When Kant taught that some conceptions, and these the important ones, are *a priori*, that they do not arise in experience and cannot be verified and tested in experience, that without such ready-made injections into experience the latter is anarchic and chaotic, he fostered the spirit of absolutism, even though technically he denied the possibility of absolutes.[2]

We shall not discuss here to what extent Dewey's interpretation of Kant is correct. Those who know Kant would say that it is both incorrect and self-contradictory. We wish only to remark that conceptions *a priori* are not an invention of Kant's but are to be found in French and English philosophy before him. "Idealism" in philosophy, generally speaking, is not a German monopoly, as the inexperienced reader of Dewey's early works might be led to think. Germany has been, particularly since the middle of the nineteenth century, the playground of the most diverse schools of thought: materialism, skepticism, pessimism, nihilism, monism, Marxism, Thomism, solidarism, vitalism, phenomenology, existential philosophy, and so on.

[1]John Dewey, "Emerson—The Philosopher of Democracy," in *International Journal of Ethics* for July, 1903, p. 412.

[2]John Dewey, *Reconstruction in Philosophy*, p 99. Henry Holt and Company, New York, 1920.

Kant himself, in any history of philosophy, is primarily described as a "critical" thinker, and in popular Catholic pamphleteering he is often called "the philosopher of nihilism" for his refutation of the rational demonstrations of God. Even the liberals among his contemporaries called him, after publication of the *Critique of Pure Reason,* the "great destroyer" (*der alles Zermalmende*) Does all this smack of fixity and dogmatism and absolutism? Dewey could have remembered, in his criticism of Kant's philosophy, that Kant is the author not only of the three Critiques but also of *The Eternal Peace.* In the latter he sets forth three principles from the realization of which our age of science and pragmatism appears to be still as far away as the age of Kant was. These principles are: that the civil constitution of every state shall be republican, that international rights ought to be guaranteed by a federation of free states, and that right between nations ought to be limited to the conditions of universal hospitality. Kant wrote also a treatise on *Religion within the Bound of Pure Reason* which brought him a reprimand on the part of his government, that is, of exactly the same bureaucrats and absolutists whom Dewey supposes to have been Kant's disciples.[1] The potentates in Germany and all over the world are generally not deeply influenced by such abstract and difficult treatises as the "Transcendental Analytic" in the *Critique of Pure Reason.* What influences and always has influenced the enemies of peace and progress is much more materialism, greed, and cynicism than any *a priori* metaphysics.

What would be Dewey's reply to the reproach that it is the very philosophy of pragmatism, with its glorification of growth and effect, which has helped to bring modern civilization so close to ruin? What would he say if somebody were to assert that this philosophy has argued away ideals, principles, and faith and explained them as merely the "experimental methods" of society? Or if one were to allege that the persistent denial of spiritual values has created a vacuum into which could creep reckless nationalism and a host of

[1]In this connection see also Dewey's *German Philosophy and Politics.* Henry Holt and Company, New York, 1915.

false naturalistic concepts? Or if one were to accuse pragmatism of its glorification of the sciences, because many scientists entered the laboratories of tyrants without so much as a bad conscience, and thus indirectly assisted in the killing of more peaceful and innocent people than ever the Inquisition was capable of killing? Cannot the pragmatic concepts of "efficiency," "adjustment," and "experimentalism" be used as well for evil purposes as for good ones, the moment permanent ethical criteria are denied?

Dewey and his adherents would reject such accusations violently, and would explain them as a sign of a stupid and perhaps malicious identification of the faults of mankind with the philosophy of pragmatism, which wishes to explain the methods of progress and not the methods of destruction. In this rejection the pragmatists would be perfectly correct, but they would suffer no more injustice than did the advocates of serious philosophical transcendentalism when placed in the neighborhood of reaction, superstition, and despotism.

All writers who attack one particular system of thought as the cause of the evils of the world isolate a single factor from the whole of reality. History is a continuous confluence of many streams—political, economic, institutional, intellectual, and spiritual. Unless one sees individual things and forces as working within a system of co-ordinates, he will always be wrong. And it can be said in all justice that the so-called exact sciences, as well as the pragmatic and experimental philosophies, have still to prove whether they can create as many prophets and productive revolutionaries as did the religious and idealist movements; whether they can give as much courage to the brave and as much comfort to the weak; and whether they will be able to lead us, at least from time to time, up to the heights where man can converse with eternity.

It may almost seem as if we now contradicted ourselves and retracted what we have already said about the merits of the pragmatic attitude, but this is not the fact. To repeat, we cannot go too deeply into the analysis of reality as it appears to us concretely, actually, and in all its change and disillusioning cruelty. Nor can

we do better than rely on experiences for better experiences. But it is difficult to understand why faith in a *logos* within and behind the transient impressions of life should impede us from ever-new activity and from judging human actions and ideas according to the benefit they bring to mankind. Through the narrowness of his instrumentalism, Dewey prevents many of his own ideas from maturing into their own productive consequences. He shows exciting problems and sets up challenging demands, but often he only removes the barriers which block our ways without going the whole distance. The future will be indebted to him for throwing up new questions as to the relationship between science and ethics, world immanence and faith, the individual and society, and theory and application. But with respect to all these questions he remains ambiguous

At one place in his writings Dewey says that radical idealism, which explains our environment merely as a product of ideas, can never be really lived. He is right. But the same can be asserted with respect to merely functionalist or instrumentalist pragmatism. It, too, cannot be really lived, because sooner or later man wishes to know for what ends he uses his instruments. This statement can, strangely enough, be verified with respect to Dewey himself.

Even in his early works, particularly in *Democracy and Education*, we discover a strange contradiction between Dewey's instrumentalism and his ethical viewpoints. It is as if Dewey the moral philosopher were afraid of the disapproving eyes of Dewey the instrumentalist. But a definite change occurs around 1930. Dewey then modifies his standpoint about "ends" and "ideals." It is difficult to decide whether he does so because of the menacing breakdown of democracy on the European continent or in a state of defense against his one-sided American disciples or in consequence of personal experiences. In any case, he no longer takes democracy "for granted" or describes it as the society based on the idea of experimenting with everything and anything and believing in values only in so far as they serve as "functions" and "methods."

It has become clear to Dewey that democracy, understood in this merely pragmatic sense, may degenerate into a political organization which has much activity but no directions, and little room for the ideas of fellowship, dignity, and human brotherhood as principles of human progress.[1] In this second period of his thought, Dewey's whole conception of values received a character of definiteness which lifts it out of the realm of mere experimentation into a sphere of persistent validity. How otherwise could we understand such terms as "moral foundation" and "law of life," the elevation of "friendship, beauty, and knowledge" as the indispensable conditions of civilization, "the identification of the divine with ideal ends," and sentences such as the following?

> Whether one gives the name of "God" to this union, operative in thought and action, is a matter for individual decision. But the *function* of such a working union of the ideal and actual seems to me to be identical with the force that has in fact been attached to the conception of God in all the religions that have a spiritual content; and a clear idea of that function seems to me urgently needed at the present time.[2]
>
> The reality of ideal ends and values in their authority over us is an undoubted fact. The validity of justice, affection, and that intellectual correspondence of our ideas with realities that we call truth, is so assured in its hold upon humanity that it is unnecessary for the religious attitude to encumber itself with the apparatus of dogma and doctrine.[3]

With these ideas accepted, the merely instrumentalist or experimentalist conception of values is clearly abandoned. We have an intrinsic moral teleology; we are allowed to attach "faith" to "ideal ends" which are not "shadowy and wavering"; and, finally, we have a universe described in the following terms:

> The community of causes and consequences in which we, together with those not born, are enmeshed is the widest and deepest

[1]See "Education and Social Change," in *Social Frontier* for May, 1917.

[2]From Dewey's *A Common Faith*, pp. 47 and 52. Yale University Press, New Haven, Conn., 1934.

[3]*Ibid.*, p. 44.

symbol of the mysterious totality of being the imagination calls the universe. It is the embodiment for sense and thought of that encompassing scope of existence the intellect cannot grasp. It is the matrix within which our ideal aspirations are born and bred. It is the source of the values that the moral imagination projects as directive criteria and as shaping purposes.[1]

Furthermore, we have Dewey's expressed opposition to agnostics, "aggressive atheism,"[2] and "agnosticism";[3] we even have Dewey's opinion that "the transfer of idealizing imagination, thought, and emotion to natural human relations would not signify the destruction of churches that now exist."[4]

All these ideas force on the believer the quest for an explanation of their genesis. But this is exactly the boundary before which Dewey would like the philosophical mind to stop, and it will not. It insists that even empiricism should examine its own metaphysical assumptions.

Certain ideas expressed by Dewey in his later writings, and even in his earlier ones—as, his ideas of growth and experience—are either self-contradictory or incomplete or else they involve the acknowledgment of something like a *logos* or *kosmos*, without which growth would lead to chaos and all experiences would be nothing but atomistic impressions The mere fact that we cannot define the idea of *logos*, as we do with an object in a laboratory, is no sufficient reason for denying it.

[1]*A Common Faith*, pp. 87 and 85 These sentences show a combination of natural and moral teleology which, if more thoroughly analyzed, would reach deeply into metaphysical and ontological problems. A certain sympathy for Aristotelian teleology shows already in Dewey's earlier writings. See the following sentences in *Experience and Nature* "The modern mind has formally abjured belief in natural teleology because it found Greek and medieval teleology juvenile and superstitious Yet facts have a way of compelling recognition of themselves. There is little scientific writing which does not introduce at some point or other the idea of tendency. The idea of tendency unites in itself exclusion of prior design and inclusion of movement in a particular direction, a direction that may be either furthered or counteracted or frustrated, but which is intrinsic" (*Experience and Nature*, p. 373. Open Court Publishing Company, Chicago, 1925.)

[2]*A Common Faith*, p. 52.

[3]*Ibid*, p. 86.

[4]*Ibid*, p. 82.

As a matter of fact, if carried to its own inherent consequences, Dewey's pragmatism is much closer to the thought of Kant, Hegel, Emerson, or Bergson than he and his followers would like to admit. To Dewey, as to all great philosophers, later generations will unhesitatingly apply the verses of William Blake:

> Five windows light the cavern'd Man:
>   through one he breathes the air;
> Through one hears music of the spheres;
>   through one the Eternal Vine
> Flourishes, that he may receive the
>   grapes, through one can look,
> And see small portions of the eternal
>   World that ever groweth;
> Through one himself pass out what time
>   he please, but he will not:
> For stolen joys are sweet, and bread
>   eaten in secret pleasant.[1]

Critique of Dewey's Educational Philosophy

This evidence of the abandonment of radical instrumentalism in Dewey's general philosophy must have its effect on our interpretation of his educational principles. Examined in the light of his total system of thought, as it is now before us, Dewey's philosophy of education is no longer sufficiently characterized by his *Pedagogic Creed* or his main educational work, *Democracy and Education.* There the emphasis is on experience for its own sake, and education is all one with an essentially undefined concept of growth. No doubt the lack of direction and discipline, characteristic of many of the initial experiments in progressive education, is partly due to a one-sided interpretation of these concepts on the part of Dewey's followers. Had he from the beginning expressed himself so unambiguously about the necessity of regulative and persistent values as he did after 1930, when the crisis of our modern society had become apparent, then he would not have needed to remind his own followers that they had misunderstood his philosophy.[2] Then also

[1]From *Europe: A Prophecy,* published in 1794

[2]See particularly Dewey's *Experience and Education.*

much heated controversy and the break between the older and the younger tradition in education could have been avoided; the line from Franklin, Pestalozzi, and Froebel to Emerson, and from Emerson to Francis Parker and Dewey himself, would have been much more evident. Many modern American teachers would have enriched their thought with the great ideas of the past, instead of looking down on the past as a time of mere "traditionalism" with lifeless cramming, fixed ideas, and outmoded methods. The critical note in respect to all idealistic thought which prevailed in the writings of Dewey's first period made many of his followers unaware of his profound contact with two of the greatest idealists, Plato and Hegel.

Dewey writes in his intellectual autobiography of the year 1930:

> Nevertheless, I should never think of ignoring, much less denying, what an astute critic occasionally refers to as a novel discovery —that acquaintance with Hegel has left a permanent deposit in my thinking. The form, the schematism, of his system now seems to me artificial to the last degree. But in the content of his ideas there is often an extraordinary depth; in many of his analyses, taken out of their mechanical dialectical setting, an extraordinary acuteness. Were it possible for me to be the devotee of any system, I still should believe that there is greater richness and greater variety of insight in Hegel than in any other single systematic philosopher— though when I say this I exclude Plato, who still provides my favorite philosophical reading. . . . Nothing could be more helpful to present philosophizing than a "Back to Plato" movement; but it would have to be back to the dramatic, restless, co-operatively inquiring Plato of the Dialogues, trying one mode of attack after another to see what it might yield; back to the Plato whose highest flight of metaphysics always terminated with a social and practical turn, and not to the artificial Plato constructed by unimaginative commentators who treat him as the original university professor.[1]

[1]From Dewey's "From Absolutism to Experimentalism," in *Contemporary American Philosophy*, edited by G. P. Adams and W. P. Montague. By permission of The Macmillan Company, publishers, New York, 1930.

Concluding Remarks

After following the path of educational thought through more than two thousand years, we may now ask where we stand, what our present problems are, and what tasks we will have to face in the future.

Where Do We Stand?

There occur periods in the history of man when his cultural productivity seems to be exhausted. With much evidence to support his view, a citizen of the Roman Empire in the time of Constantine the Great could contend that the most diverse efforts had been made to explain the character of human values and to instill them into the souls of men. But what had been the fruit of all this? Were there not still wars, even more destruction than ever? quarreling philosophers and theologians? tyrants and dictators? and a host of orators and pedagogues who talked about the virtues of the past, but had lost the confidence of youth and the faith in their own calling?

In a sense, our own feelings about the present are not so far away from those of the thinking men who lived at the end of the Roman Empire.

However, have not the fifteen centuries which lie between us and the collapse of Rome added an immense amount of wisdom and knowledge to the cultural fund of humanity? The medieval church developed the great systems of Christian philosophy; the humanists created new concepts of art and of the art of living; and the great scientific revolution emerging from the Renaissance taught the art of systematic observation and experimentation, thus bringing about an immense modification of the relation of man to nature. Instead of being its slave, seeing himself surrounded by magic forces, has not man become the master of his physical environment? And has not the same trend away from authority toward a

systematic understanding of man and his environment brought about entirely new concepts of education?

Like the scientists of his time, who began to reveal the secrets of the physical universe, John Amos Comenius attempted to find out the inner laws in the nature of man and to change his upbringing from a random procedure into a systematic process. After Comenius there came men such as Locke, Rousseau, Pestalozzi, Froebel, and Herbart, who partly in more intuitive fashion, partly in more scientific fashion, laid the psychological or sociological basis for the modern study of education. Finally, John Dewey's instrumentalism represents, at least in its earlier Darwinistic phase, the most radical attempt at subordinating philosophy and education to the rule of science. Dewey wished to eliminate all concepts which could be suspected of being aprioristic and likely to disturb the strictly inductive and functional method of the modern empiricist.

Parallel to the scientific revolution, with its impact on education, has gone another development of at least equal significance for modern civilization—the relation of education to the interests of the state. We find the concept of education as a part of statecraft most striking in the first great treatise on education—Plato's *Republic*. In the Middle Ages education and secular government abandoned their alliance for different reasons, political and religious. But later the early Protestants wanted the community to assume responsibility for the schools, because they did not see any other way of rendering Christian youth sufficiently literate to read and interpret the Bible; the absolutist princes wanted their subjects to be educated so that they could understand the orders of the government and contribute to the welfare of the country; finally, democracy fostered a better education because without public enlightenment such basic democratic concepts as co-operation, freedom, and human dignity would be meaningless.

Yet all the blessings of modern culture and science, of democracy and self-determination, have not prevented a terrific crisis in the history of mankind. We still feel the consequences of a global war, the social order is menaced, everywhere minorities or colo-

nial peoples are badly treated on every continent; and, except in times of war, the curse of unemployment threatens most severely the countries that are most advanced technically. To be sure, the noble human power of reason became clouded with hatred and superstition in earlier times also, and success won fame, even though it was built on crime and the misery of fellow men. But then standards and principles derived from a great cultural heritage still stood as the voice of conscience behind all vice and error; whereas now, in certain parts of this earth, force alone has been proclaimed the guiding principle of man's action.

In such a situation education has overwhelming responsibilities. For civilization, in order to survive, needs not only knowledge of facts and methods; it needs also rational concepts about the principles which govern, or ought to govern, society. It is education which has to transmit this wisdom from one generation to the other and to help youth take its place in the great workshop of history. This is the reason why every great educational philosopher is interested not only in schools, children, and methods of teaching but also in broad philosophical and social problems This is also the reason why a free and wise society must expect the educator to point courageously at the faults from which it suffers, and to seek remedies for them.

Our Present Problems

1. *The Problem of Science*

What are those elements in the contemporary crisis of which education must become aware in order to understand its specific obligations? The answer is that exactly the two modern developments at which we have pointed—namely, the scientific revolution and the alliance between the state and education—have not yet been fully harmonized with other conditions essential for a full and healthy civilization.

When Comenius welcomed Francis Bacon's philosophy as a scientific instrument for the education of mankind, he conceived of

science as being part of a fundamentally religious view of the universe, not as an isolated and autonomous mental pursuit. For Comenius, God and the scientist were not yet in conflict; rather, the scientist was supposed to reveal the wonders of God more effectively than the scholars before him had. So thought Bacon himself, as well as Galileo, and after them Newton and many other great explorers of nature. But in the course of time the ideal of scientific exactness and the traditional concepts of religion and philosophy contradicted one another; the experimental method and the philosophical trend toward synthesis became difficult to reconcile; furthermore, progressive social forces, mostly united with scientific thinking, often met their most powerful obstacle in a coalition of theologians and political reactionaries. Thus the scientists became alienated from the spiritual tradition of the western nations just when our civilization became increasingly dependent on scientific research and technology. The result is a split mentality in modern man because of a split concept of life and the universe.

Another result is a program of teaching in which the different parts of subject matter are no longer related to a common cultural denominator. As a consequence of this lack of an embracing criterion of what constitutes a true civilization, many scholars and educators have lost the sense of what is significant and what is not. They lead their students to more and more knowledge and less and less wisdom The embarrassment does not decrease, but rather increases, on the higher levels of education. The modern university is no longer a *universitas litterarum*, but an aggregate of departments which more often misunderstand than understand one another, or actually ignore one another without any attempt at understanding.

The defect cannot be rectified simply by organization, or by meetings of teachers and professors. Nor is it any use to blame the scientist for his refusal to indulge in philosophical generalities, since his empirical method requires the utmost degree of self-restriction. It would show a similar lack of judgment if one blamed

the representatives of the humanities for their trend toward specialization and rigid analysis of social trends, and their tendency to avail themselves of scientific methods. To undo the right of free reasoning and to cast aspersions on research because it may destroy cherished illusions can only result in new romanticism and final disillusion.

There remains, nevertheless, the fact that no civilization can survive without a deeper and uniting definition of truths and values. Coleridge rightly says that "Common sense is intolerable which is not based on metaphysics." Only the mediocre person is satisfied with a mass of incoherent and isolated knowledge; the educated person wants knowledge not for quantitative reasons, but in order to understand himself, his society, the role he plays in it, and his relation to the universe.

How can we provide men with such a life of coherence? For this purpose we need creative thinkers who, conscious of all their limitations, nevertheless dare to produce the unity of thought which their fellow men need for their orientation. Insistence on exactness is a praiseworthy attitude; but if the specialists accuse of lack of exactness everybody who ventures to bring order and direction into the multiplicity of knowledge, they forget that they advocate narrowness, not exactness in its deeper sense. For true exactness requires interconnection as much as it requires specification. And all our knowledge and thinking being tentative, the comprehensive thinker has the same right as the scientist to fall short of the ultimate ideal of truth.

Only if modern thought dares connect the world of facts with ordering principles and ideas can we read without blushing Dostoevski's words in *The Brothers Karamazov* about modern scholars:

> But they have only analyzed the parts and overlooked the whole, and, indeed, their blindness is marvelous.

But here emerges a great difficulty. For a century the philosophical tradition has been neglected, and once the continuity and

generality of thought is interrupted, it takes a long time to restore it.

Yet we must hope that an increase in our awareness of a great defect in civilization is the first step toward a remedy of it. And it seems as if modern scholarship had already entered the path which may lead modern man toward a more integrated view of life. Why should not the universe—so we hear today from leading scientists—combine within its wide orb a material order, accessible to weighing and measuring research, with an element manifesting itself in creativeness and freedom? Does not every man who lives, eats, works, and thinks and, in addition, ponders about his thinking experience in himself this miracle of physical and spiritual interaction? That is to say, the crisis of the modern mind does not spring from scientific experimentation as such, but from its association with philosophies which declare that the rule of determinism, valid in the life of matter, applies to all existence. Nor does our crisis spring from religion and metaphysics as such, as some empiricists believe, but from the fear of some theologians and humanists that the spiritual character of man is in jeopardy if free intelligence exercises its right of investigation. A new integrated civilization will depend on bringing the parts together, instead of insisting on their separation.

2. *The Problem of Political Government*

Besides the conflict between science and our spiritual tradition, we mentioned as the other disturbing element in our civilization the lack of harmony between education and the modern tendencies toward centralization of government.

Nobody, we suppose, will be so much a lover of the past as to deny the merits of modern governments in the promotion of public education, or to wish back the times when the education of the masses was left to charitable organizations. On the other hand, our civilization is on the way to delivering one of its noblest responsibilities, the education of men, almost completely into the hands of a supreme secular authority, the "State." This state, however

human and liberal its leaders may be, is by its very character involved in conflicts of power. And under the pressure of circumstances, the more it must count on the co-operation of all its citizens and centralize their activities, the more it will be inclined to use education as an instrument of politics.

Of this temptation even democratic nations must be aware, though there is a fundamental difference between democracy and modern despotism. This difference lies in the claim of the democratic state to the use of its power in such a way as to produce the greatest possible harmony between the rights of the citizen and the needs of national welfare and self-preservation. In the language of the makers of the American Constitution, the democratic state considers itself an instrument of the people "in Order to form a more perfect Union, establish Justice, insure domestic Tranquility, provide for the common defence, promote the general welfare, and secure the Blessings of Liberty to ourselves and our Posterity."

Thus the democratic state submits itself to the hierarchy of values which moral men acknowledge as being above their own arbitrariness, whereas the despotic government attributes the right of the lawgiver only to itself. Yet also in the democratic States we observe the increasing trend toward centralization.

Here is now the great responsibility incumbent upon education. The more the state will have to expand its influence upon all the various ways of life and our social institutions, the more will be needed a type of education which, in spite of all the compromises of political life, never loses sight of the persistent aspects of humanity. Otherwise, all modern nations will become more and more mechanized "collectives," but not real communities, even though they grow in external power. This fear is not to be interpreted as a sign of remote and impractical idealism. Certainly there is a kind of "idealism"—vague, individualistic, escapist—which does not want to recognize the power of reality and has rightly fallen into disrepute. But there is another kind of idealism without which man cannot master reality but becomes its slave. Only a civilization in

which this latter productive kind of idealism asserts itself against cheap forms of realism is realistic in a deep sense and has hope of surviving. Applying this principle to our problem of the relationship of education and the state, we may say that only those men and women are good patriots who insist that their country combine its national conscience with a universal human conscience. Those who forget the obligations of their political group to such a universal conscience will see patriotism soon decay into materialistic chauvinism and imperialism.

Nobody can foresee the future of mankind. The only fact we know as certain is that we live in the midst of a gigantic world revolution. To save the world from chaos, planning will be needed. Of what kind will it be? Will it be of a sort that changes the nineteenth century concept of *laissez faire* democracy—which will never be restored—into a democratic society capable of combining the new planning with the "natural rights of man," with the freedom of individual conscience, and with justice and initiative? Or will the new order be but a transfer of mechanical engineering into the human and social sphere, degrading man toward the role of a particle of a machine? Will the new "planners" respect the depth and dignity of man, or will they move families around like cattle, send youth to battles the meaning of which they do not understand, and thus build the edifice of a rigidly controlled society on a foundation of distorted human relations? Then the time must come when the despairing souls of men again seek shelter in fantastic substitute religions and cry to heaven in new and still more violent revolutions.

Should these considerations of the danger which lies in the increasing omnipotence of the modern state discourage us from following the way of the last centuries, which increasingly allied education with the state? No; for just as education cannot build the future without the help of science, so it cannot work for progress without the assistance of the state. Only through such co-operation can society arrive at a unity between human culture and large-scale organization. But education can wish this co-operation only

if it is recognized by the state as an ally, not a handy-man. Herein lies the responsibility as well as the dignity of the modern teacher.

The Tasks of the Future

We have tried to prove that the future of education will depend on its capacity to bring about two closely interrelated syntheses, the one being that of science and our spiritual tradition, and the other that of the demands of the state and the individual conscience of man. These two problems are but reflections of a still deeper concern of the human race.

So far, man's reason and social planning have not been able to comprehend the wholeness of the human person and the totality of the conditions under which he can develop fully. Our governments, our social planners, so far as there were any, and our schools have always regarded one condition or some special set of conditions of wholesome human life at the expense of others. But man is not the *homo economicus* who can be explained and satisfied exclusively with respect to his material needs; nor is he the *homo politicus*, dependent on nothing but the external organization of his society; nor is he the *homo sapiens*, hearing and obeying the voice of reason; nor is he the *homo contemplativus* whose delight is to feel the nearness of God and reflect upon "first principles"; nor is he the *homo practicus* who enjoys himself only in business and adventure. He is all these together. He wishes to have his bread and some security; he wishes to be a decent citizen in a decent state; he wishes to think and argue; he needs faith in a deeper meaning of his life; he needs time for withdrawal from the hustle and bustle lest he lose the inner peace and the strength which come from perspective; yet he wishes also to breathe from time to time the exciting air of action. According to his specific temperament, each of us tends toward one way more than toward another and organizes his life and values accordingly. Yet some desire for totality lives in every sound person, and a wholesome civilization must give sufficient scope to all the different talents and aspirations of its members.

Our period deserves more blame than the past for disregarding

the symphonic character of human life, because we could utilize a long cultural heritage and an unheard-of wealth of material and technological knowledge. But how can people lead themselves and others toward a total life if they do not understand themselves and their fellow men? No doubt we have rectified and added many details in educational theory and practice; but in spite of all our quantitative achievements, we still have to ask Pestalozzi's question:

> Man who is the same whether on the throne or in a hut, what is he in his innermost nature? Why do not the wise tell us? . . . Does your wisdom help you to understand truly your race and is your goodness the goodness of enlightened guardians of the people?

We lack both a comprehensive psychology of the nature of man and comprehensive social ethics. Therefore education has not been able to cope with the rapid modifications in all aspects of civilization. Can we simply preach the gospel of "adapting youth to the changing needs of society"? Must we not have principles to determine which challenges in the welter of opportunities we wish youth to accept and which to refuse?

Only with such a comprehensive knowledge of the fundamental conditions of man and his civilization can we distinguish means and ends and dare be revolutionary with respect to the instruments of society, without being destructive of the deeper and permanent interests of man.

Of course, teachers and philosophers alone are not capable of creating a new ethics—personal, national, and international—and through it a new interpretation of education and nature and the role of man in his society. For producing such an ethics mankind needs statesmen with a vision comprehensive enough to inspire nations with great purposes and ideals. It is wrong to think that man can learn to understand himself and his race through psychology and theory alone; rather, he can have the right psychology only if he knows for what he exists and is, eventually, willing to die.

We live in these days at a juncture of history in which the future of nations all over the world will be determined for many genera-

tions. But to do this wisely and to have their plans carried over into lasting effort, the statesmen need their people; and to have the people ready, teachers are needed. Theirs is the task of preparing the citizen to understand what his statesmen deem necessary; nay, even more, theirs is the task to educate a nation so that it selects the right statesmen, endowed with great courage and great vision. In other words, the relation between the political leaders and their peoples is of a reciprocal nature.

But how can teachers help the citizens of a nation to work understandingly for a larger and better world? Certainly not so much through adding a host of new subjects to an already overcrowded curriculum as through first of all placing the young student in an environment which he is able to master through consistent use of his abilities and from which he may expand the circle of his experiences gradually through more courageous acting and thinking. Thus he will form his life so that the different parts blend together and receive character from belonging to a meaningful whole. Such is the real meaning of a liberal education.

In order to fulfill this task, we need particularly a new conception of secondary education, because it covers the years when the majority of our youth must fit themselves for life. We can no longer be satisfied with diluting the older selective intellectual program of the secondary school of the nineteenth century in order to fit it to even the most modest grade of intelligence. In this way the school will finally disappoint all: the intellectually gifted, who feel their talent wasted; the practical minded, who are impatient to prove their strength in action; and the young without particular talent, who are discouraged because—in spite of all leveling—they cannot compete with their comrades.

Thus there arise three great tasks, especially for modern secondary education, but *mutatis mutandis* also for the other levels of schooling.

First, we must use constructively the different human talents, but do this in such a way that the democratic unity of the nation is not imperiled. To succeed in this enterprise we must use, as a com-

mon basis of education, useful practical work, sport, and all those activities which appeal to the emotions. For in their emotions men are united, whereas the inevitable differences of intellect separate men from one another. Therefore there is no profit in the customary attempt to use mediocre textbooks adapted to the capacities of the lower average as the common element of instruction. Such textbooks bore the intelligent as well as the less gifted, and allow ignorant and uncreative teachers to degrade a difficult and responsible profession.

The second task incumbent on modern education is to find a more constructive relation between the school and the future vocation of the students.

The third task is to combine respect for future vocational life with a liberal education which prepares man to enrich himself through contact with the cultural values of humanity.

Only if we combine a new and total understanding of the growth of man with the art of applying this insight to reality can we hope to build up a better society. Future generations will acknowledge only that civilization which helps them combine their feeling and thinking with their living and acting. For decades we have heard the cry in this and other countries for a new philosophy, especially for a new philosophy of education—as if any kind of philosophy could help people live in a wholesome civilization if they live only in segments of life! What else does the demand for a new total philosophy reflect but the desire of people to subordinate the bewildering amount of unco-ordinated experiences and responsibilities —local, national, and international—to an ordering principle of thought and practice which tells them what to put first and what to put last, and how to differentiate between mere means and true ends in the process of human history?

Thus we discover everywhere the need for a new and total conception of man: in his relation to science and faith, in his relation to state and government, and finally in his relation to self and society. If we do not succeed in creating such a new conception and applying it to reality, our time may not be different from the end of

Antiquity, with all its melancholy, chaos, and final decay. If, on the other hand, we succeed—and we can succeed if we are really determined and ready to submit to sacrifices—then we may hope that this greatest crisis of Western civilization is but the stormy overture of a new era of humanity, greater than any seen before.

For this effort to turn chaos into progress we need as companions the great educational prophets who, in earlier crises of civilization, helped their fellow men to strive for new horizons. It is not because these leaders of humanity belong to the past that we have to acquaint ourselves with their ideas. We need their advice because they were the men with the courage and the vision to protest against false traditions and complacencies. They show the brave what mankind can achieve if it realizes the strength that comes from devotion to great purposes.

International Education

When we spoke of the great problems of modern man, namely, the problems of science, of political government, and of a comprehensive philosophy of man, we often alluded to a subject which most of us will feel as our most imminent concern: the future of our Western civilization. If this future cannot be guaranteed, why trouble about detailed problems of education and philosophy?

There appear before our minds the great ideals for which the second world war against Germany and its allies was fought ideals such as expressed in the Atlantic Charter, in the Four Freedoms, and in other declarations. They gave to haunted men a vision of universal peace, of social justice, and of national freedom within a safely guarded international order.

To what degree have these dreams come true? In answering this question we should not indulge in irrealistic claims.

First, declarations issued for the purpose of inspiring nations to fight and sacrifice cannot be of discoursive and disquisitional character, like a scholarly treatise. They are a part of political propaganda and, consequently, are oversimplifications. Second, a world of disorder, a consequence of dictatorship and war, to be

sure, but also of a deeper disorder that made dictators and aggression possible, cannot be reformed in a few years. This would require not only a mastership over political and economic forces which no single man or nation possesses; it would require also a change in the minds of men toward which great prophets and heroes have worked for millenia, apparently without much success. Groups which have suffered under an enemy are fearful and want security even though it be by application of methods not unsimilar to those they condemned when they were the victims. They want vengeance, even if there are single individuals among them who would agree with the observation of the great American Negro Booker T. Washington that one cannot hold a fellow down in the ditch without finally going down with him.

On the positive side of the international ledger we have the United Nations which, despite their obvious shortcomings, have already prevented several wars and promise to be a blessing to mankind in many aspects of international security, social reform, and hygiene. We have UNESCO, which still struggles for clarity of policy, purpose, and method but which, under realistic and intelligent leadership, may be one of the firm links in the chain of nations—provided it has the courage to point out the moral demands of truth and humaneness to the supporting nations.

At many places we see the germs of a new intellectual co-operation, supported by private and governmental organizations. Scholars, students, educators, and—what is just as or even more important—practical men from the various nations meet for exchange of ideas, goods, and international actions.

Yet how many irreparable mistakes have already been committed during the first years of peace! Also, the gap has widened between the democratic and the communist nations. Only a few years after incredible suffering and destruction, our newspapers again report new armaments, conferences and speeches of generals which picture the danger of a new cataclysm. In the disguise of new catchwords, age-old hysterias sweep through even the seemingly most enlightened nations

What can the teacher do in such a situation? Can he hope that statesmen, politicians, and advocates of old and new vested interests will listen to him? And if they listened, would he have the answer? Certainly not a better one than any other thinking and troubled man would have available.

Yet there remains for the teachers of the nation a twofold mission without the discharge of which there will be no hope for peace and progress. On the one hand, the teacher has to make youths, after they have reached a certain state of maturity, critical of all kinds of political movements, propaganda, and devices which are intended not to serve the welfare of man but to use him as a tool for purposes alien to his dignity and welfare. In this respect we must welcome the exposure of false absolutes, the application of the pragmatic test, the search for the hidden motives of an action, all that progressive education has aimed at in order to free minds from false authority. Instead of feeding young people only with idealistic abstractions about the greatness of our civilization, the teacher should make them aware of the conditions and obligations that must be fulfilled in order to bring us closer to a decent state of living. "Democracy" is not a result but an achievement; so are justice and respect for the dignity of the individual. They require that man have shelter, food, and work, that he have a sense of excellence, that he be given the right to reason in honest freedom, that he have faith, and that he give and enjoy love and sympathy.[1] It would be much better if, instead of glibly talking about the ends and the ideals, we sharpened our consciences with respect to the ways and means toward them.

In doing so we would fulfill at the same time our responsibility to the other mission of education which, in the competition between democracy and communism, must be respected just as much as the fostering of a critical attitude. People who are nothing but critical are just as dangerous and useless as people who are not critical at all; they support the general trend toward disenchant-

[1]See in this connection Robert Ulich, *Conditions of Civilized Living*, New York, E. P. Dutton & Co., 1946.

ment characteristic of modern liberal society. In other words, education has not only the task to liberate man "from," it has also the task to liberate him "toward." It has to give him convictions which, as every true and realistic faith, serve three purposes at once: they motivate and inspire, they set the goal, and they serve as criteria for our own and other people's action.

Happy the nation which has been allowed by history to develop such a convincing faith out of its own and common experience. The United States is such a nation in that, in the years of its own birth, it was able to include in the framework of its political doctrine the idea of the "natural rights of man."

Whether critical historians and philosophers still derive this idea from the same metaphysical sources as did men of earlier periods, is a problem in which some people may be more interested than others. The fact remains that the concept of the natural rights of man holds its validity whether it is based on more transcendent or more naturalist assumptions. But, to repeat the same idea in other words, the struggle which caused this nation to make this concept and its practical application a matter of national conscience has never been finished. It still goes on, and will go on, as the ever-renewed attempt to put into practice not only the letter but also the spirit of the Constitution. Every day each of us must help to create and safeguard the conditions of a sound individual and social life just mentioned. not only freedom of the press, of assembly, and *habeas corpus* but the right to work and whatever necessary means may emerge in an evolving society. It is not enough that we loudly proclaim the idea of the natural rights of man as the American political doctrine and as a criterion for judging nations. We must also, and first of all, accept it as a judgment and challenge with respect to our own thinking and doing.

Only when the nations of the world become more and more convinced that the leading democratic countries, and the United States especially, live and act in this sense, and have the courage to educate their children accordingly, only then can the present conflict of the world be decided in favor of an international com-

munity in which the highest values of our Western tradition can survive and develop in spite of all the practical adjustments which may appear to be necessary. The statesman, supported by an intelligent citizenry, may have to take action in the face of immediate tasks and dangers, and there may be differences of opinion as to their advisability and outcome; but it is the undergirding spirit which, in the long run, will decide the battle of civilization. This spirit may even have a deeper influence on the methods and results of immediate political action than many of us seem inclined to believe.

Hence international education has a twofold task which, in essence, does not distinguish it from any other form of education. It has to work, as it were, horizontally, or informationally, or, if one wants to say so, accumulatively. That means that, in consequence of growing interdependability of the nations of today, modern man should know more about other and even distant nations than was necessary in earlier times. Knowledge alone, to be sure, cannot cure the evils of the world, but ignorance is the source of most of them. However, the aim of international education in terms of quantity can only partially be achieved. As a matter of fact, the claim to give young people, not yet rooted in their own civilization and its motives, some knowledge even about the most important peoples of the world may lead to superficiality rather than to universality. We all know this most dangerous type of man who no longer admits that he does not know, but pretends to have a substantiated opinion on everything. Only the wise teacher knows when to guide his pupil from a firmly established center of knowledge toward the avenues which aim toward far-away parts of the world. And just as one does not become wise merely because one is a businessman, or an engineer, or a literary critic, so one does not become wise merely from being a teacher. If we can graduate students from our high schools and universities who have learned to distinguish between the genuine and the spurious, between good and bad methods of learning, and between the lasting joy of curiosity and irreverent arrogance, then we have fulfilled our mission.

Thus, in addition to the necessary expansion of knowledge over into wider areas, we have to follow a vertical line in international education, namely, to lead man to an understanding of himself. This also is an infinite task. But certainly, the less a man understands himself, the less he will understand his neighbor; and the less he understands his neighbor, the less he will understand the world.

So we have arrived again where we started. We must demand an interpretation of education such as the great philosophers and pioneers have always asked for, namely, an education that acquaints the minds of youth not only with the ever-changing and expanding phenomena of knowledge and history but, at the same time, with the fundamental principles of sound, productive human existence.

Bibliography

GENERAL WORKS

Adamson, John William. *A Short History of Education.* The Macmillan Company, New York, 1920.

American Council of Learned Societies Devoted to Humanistic Studies *Liberal Education Re-examined; Its Role in a Democracy.* Harper and Brothers, New York, 1943.

Beard, Charles Austin, and Carr, William G. *Schools in the Story of Culture* National Education Association, Washington, D C., 1935.

Borla, Cesario. *Manuale di Storia della Pedagogia.* Torino, 1935.

Brubacher, John S. *A History of the Problems of Education.* McGraw-Hill Book Co., New York, 1947.

Buisson, Ferdinand. *Dictionnaire de Pédagogie et d'Instruction Primaire.* 2 parts in 4 vols. Paris, 1882–1887.

Burnham, William Henry, editor. *Bibliographies on Educational Subjects,* Vol. 5, No. 6, September, 1917: *The History of Education.* Clark University Library, Worcester, Mass.

The Cambridge Ancient History, edited by J. B. Bury and Others. 12 vols The Macmillan Company, New York, 1923–1939.

The Cambridge Medieval History, planned by J. B Bury, edited by H. M. Gwatkin and Others. 8 vols The Macmillan Company, New York, 1911–1936.

The Cambridge Modern History, planned by Lord Acton, edited by A. W. Ward and Others. 13 vols. The Macmillan Company, New York, 1934.

Clapp, Frank Leslie; Chase, Wayland J.; and Merriman, Curtis. *Introduction to Education.* Ginn and Company, Boston, 1929.

Cole, Percival Richard. *A History of Educational Thought.* Oxford University Press, New York, 1931.

Collard, François. *Histoire de la Pédagogie.* Bruxelles, 1920.

Compayré, Gabriel. *History of Pedagogy,* translated with an Introduction, Notes, and Index by W. H. Payne. 5th edition. A. E. de Boeck, London, 1903.

Cubberley, Ellwood Patterson. *The History of Education; Educational Practice and Progress Considered as a Phase of the Development and Spread of Western Civilization* (Riverside Textbooks in Education). Houghton Mifflin Company, Boston, 1920.

——*Readings in the History of Education* (Riverside Textbooks in Education). Houghton Mifflin Company, Boston, 1920.

Dizionario delle Scienze Pedagogiche, Opera di Consultazione Pratica con un Indice Sistematico, direttore Giovanni Marchesini. 2 vols. Milano, 1929.

Duggan, Stephen Pierce Hayden. *A Student's Textbook in the History of Education.* Revised and enlarged edition. D. Appleton-Century Company, New York, 1936.

Kandel, Isaac Leon. *History of Secondary Education; a Study in the Development of Liberal Education* (Riverside Textbooks in Education). Houghton Mifflin Company, Boston, 1930.

Manacorda, Guiseppe. *Storia della Scuola in Italia.* Milano, 1914.

Monroe, Paul. *Founding of the American Public School System; a History of Education in the United States, from the Early Settlements to the Close of the Civil War Period.* The Macmillan Company, New York, 1940.

——*Readings in the Founding of the American Public School System,* published in microfilm form. The Macmillan Company, New York, 1940.

——, editor. *A Cyclopedia of Education.* New edition, 3 vols. The Macmillan Company, New York, 1925.

Moore, Ernest Carroll. *The Story of Instruction: The Beginnings.* The Macmillan Company, New York, 1936.

——*The Story of Instruction: The Church, the Renaissances, and the Reformations.* The Macmillan Company, New York, 1938.

Painter, Franklin Verzelius Newton, editor. *Great Pedagogical Essays; Plato to Spencer.* American Book Company, New York, 1905.

Paulsen, Friedrich. *Geschichte des gelehrten Unterrichts auf den deutschen Schulen und Universitaten vom Ausgang des Mittelalters bis zur Gegenwart,* 3. Aufl., fortgesetzt von Rud. Lehmann. 2 vols. Leipzig, 1919–1921.

Rein, Wilhelm. *Encyklopädisches Handbuch der Padagogik,* 2. Aufl. 10 vols Langensalza, 1903–1910.

——*Systematisches Inhaltsverzeichnis,* aufgestellt von Emil Zeissig. Langensalza, 1911.

Sánchez Sarto, Luis. *Diccionario de Pedagogia,* pubblicado bajo la direccion de Luis Sánchez Sarto con la colaboracion de eminentes especialistas espanoles y extranjeros. 2 vols. Barcelona, 1936.

Sandys, Sir John E. *A History of Classical Scholarship,* 3 vols. G. P. Putnam's Sons, New York, 1909.

Schmid, Karl Adolf. *Geschichte der Erziehung vom Anfang an bis auf unsere Zeit.* 5 vols. in 7. Stuttgart, 1884–1902.

Ulich, Robert. *Conditions of Civilized Living.* E. P. Dutton & Co., New York, 1946.

——, editor. *Three Thousand Years of Educational Wisdom.* Harvard University Press, Cambridge, 1947.

Watson, Foster. *The Encyclopedia and Dictionary of Education.* 4 vols. Sir Isaac Pitman and Sons, New York, 1921–1922.

Wilds, Elmer Harrison. *The Foundations of Modern Education: Historical and Philosophical Backgrounds for the Interpretation of Present-Day Educational Issues.* New and enlarged edition. Farrar and Rinehart, New York, 1942.

ANCIENT EDUCATION, GENERAL

Bigg, Charles. *The Christian Platonists of Alexandria.* Oxford University Press, New York, 1913.

Cole, Percival Richard, editor and translator. *Later Roman Education in Ausonius, Capella, and the Theodosian Code* (Contributions to Education, No. 27). Columbia University, Teachers College, New York, 1909.

——*Social Foundations of Greek Education: A Syllabus* (Records of the Education Society, No. 11). William A Gallick, Sydney, Australia, 1911

Davidson, Thomas. *Education of the Greek People, and Its Influence on Civilization* (International Education Series, 28). D. Appleton-Century Company, New York, 1904.

Dickinson, Goldsworthy Lowes. *The Greek View of Life* (Gateway Library). Methuen and Company, Ltd., London, 1932.

Dobson, John F. *Ancient Education and Its Meaning to Us* (Our Debt to Greece and Rome, No. 45). Longmans, Green & Co., New York, 1932.

Drever, James. *Greek Education, Its Practice and Principles.* G. P. Putnam's Sons, New York, 1912.

Gomperz, Theodor. *Greek Thinkers; History of Ancient Philosophy.* 4 vols. Charles Scribner's Sons, New York, 1901–1911.

Grasberger, Lorenz. *Erziehung und Unterricht im klassischen Alterthum, mit besonderer Rücksicht auf die Bedürfnisse der Gegenwart.* 3 vols. in 4. Würzburg, 1864–1881.

Gwynn, Aubrey. *Roman Education from Cicero to Quintilian.* Oxford University Press, New York, 1926.

Hodgson, Geraldine E. *Primitive Christian Education.* Edinburgh, 1906.

Jaeger, Werner W. *Paideia: The Ideals of Greek Culture,* Vols 1, 2, 3, translated from the German MS. by Gilbert Highet. Oxford University Press, New York, 1939–1944.

Marrou, H. I. *Histoire de l'Éducation dans l'Antiquité.* Éditions du Seuil, Paris, 1948.

Monroe, Paul. *Source Book in the History of Education for the Greek and Roman Period.* The Macmillan Company, New York, 1921.

Sandys, Sir John Edwin. *A History of Classical Scholarship from the Sixth Century B.C. to the End of the Middle Ages.* 3d edition, Vol. I (all publ.). Cambridge University Press, London, 1920.

——*A History of Classical Scholarship.* 3 vols. (2d edition of Vol. I). G. P. Putnam's Sons, New York, 1906–1908.

——*Short History of Classical Scholarship from the Sixth Century B C. to the Present Day.* G. P. Putnam's Sons, New York, 1915.

Walden, John William Henry. *The Universities of Ancient Greece.* Charles Scribner's Sons, New York, 1909.

Wilkins, Augustus Samuel. *National Education in Greece in the Fourth Century before Christ* (Anastatic Reprints). G. E. Stechert and Company, New York, 1911.

——*Roman Education.* The Macmillan Company, New York, 1905.

PLATO

Plato: *Plato*, with an English translation by H. N. Fowler and an Introduction by W. R. Lamb (Loeb Classical Library) · Book VIII, *Charmides, Alcibiades* I and II. G. P. Putnam's Sons, New York, 1927

——*The Four Socratic Dialogues*, translated into English by Benjamin Jowett in *Works*, 3d edition of Jowett translation. Simon and Schuster, New York, 1928.

——*The Laws*, translated by R. G. Bury. 2 vols. (Loeb Classical Library). G. P. Putnam's Sons, New York, 1926.

——*The Myths of Plato*, translations by J. A. Stewart. The Macmillan Company, New York, 1905.

——*The Platonic Epistles*, translated with Introduction and Notes by J. Harvard. Cambridge University Press, London, 1932.

——*The Republic*, with an English translation by Paul Shorey. 2 vols. (Loeb Classical Library). Harvard University Press, Cambridge, Mass., 1930–1935.

——*The Republic*, a new version founded on Basic English, by I. A. Richards. W. W. Norton and Company, New York, 1942.

——*Sämtliche Dialoge*, in Verbindung mit Kurt Hildebrandt, Constantin Ritter und Gustav Schneider herausgegeben und mit Einleitungen, Literaturübersichten, versehen von Otto Apelt 7 vols. Leipzig, Meiner, 1922–1937.

Adam, Adela Marion (Kensington). *Plato; Moral and Political Ideals* (The Cambridge Manuals of Science and Literature). The Macmillan Company, New York, 1913.

Adamson, John E. *The Theory of Education in Plato's Republic.* The Macmillan Company, New York, 1903.

Apelt, Otto. *Platonische Aufsatze.* Leipzig, 1912.

——*Vorwort und Einleitung zur Gesamtausgabe von Platons Dialogen* (Philosophische Bibliothek, Bd. 181). Leipzig, 1920.

Bannes, Joachim. *Hitlers Kampf und Platons Staat; Eine Studie über den ideologischen Aufbau der nationalsozialistischen Freiheitsbewegung* (Studien zur Geistesgeschichte und Kultur, 2). Berlin, 1933.

Barker, Ernest. *Greek Political Theory; Plato and His Predecessors.* The Macmillan Company, New York, 1919.

Becher, Walter. *Platon and Fichte: die konigliche Erziehungskunst* (Deutsche Beiträge zuf Wirtschafts- und Gesellschaftslehre, XIV). Jena, 1937.

Benard, Charles Magloire. *Platon, sa Philosophie, Precedée d'un Aperçu de sa Vie et de ses Écrits.* Paris, 1892.

Bosanquet, Bernard. *A Companion to Plato's Republic for English Readers, Being a Commentary, Adapted to Davies and Vaughan's Translation.* Rivingtons, London, 1925.

——*The Education of the Young, in The Republic of Plato.* The Macmillan Company, New York, 1904.

Boyd, William. *An Introduction to The Republic of Plato.* George Allen and Unwin, Ltd., London, 1937.
Burnet, John. *Greek Philosophy.* Part I: *Thales to Plato.* The Macmillan Company, London, 1932.
Burnet, John. *Platonism* (Sather Classical Lectures, V. 5, 1928). University of California, Berkeley, 1928.
Cresson, André. *Platon, sa Vie, son Oeuvre, avec un Exposé de sa Philosophie* (Philosophes; collection dirigée par Émile Brehier). Paris, 1939.
Crossman, Richard Howard Stafford. *Plato Today.* George Allen and Unwin, Ltd., London, 1937.
Dantu, Gustave. *L'Éducation d'après Platon.* Paris, 1907.
Dickinson, Goldsworthy Lowes. *After Two Thousand Years; A Dialogue between Plato and a Modern Young Man.* W. W. Norton and Company, New York, 1931.
Dies, Auguste. *Platon* (Les grands coeurs). Paris, 1930.
Field, Guy Cromwell. *Plato and His Contemporaries; a Study in Fourth-Century Life and Thought.* E. P. Dutton and Company, New York, 1930.
Frank, Erich. "Plato's View of the State. An Appreciation," in *The Harvard Educational Review* for October, 1941, Vol. 11, No. 4.
Jaeger, Werner W. *Die griechische Staatsethik im Zeitalter des Platon.* Berlin, 1924.
Kapp, Alexander. *Platons Erziehungslehre, als Pädagogik fur die Einzelnen und als Staatspädagogik, oder dessen praktische Philosophie.* Minden, 1833.
Mosca, Gaetano. *The Ruling Class,* translated by Hannah D. Kahn, edited and revised by Arthur Livingston. McGraw-Hill Book Company, New York, 1939.
Nettleship, Richard Lewis. *Lectures on The Republic of Plato,* edited by G. R. Benson. New edition. The Macmillan Company, N. Y., 1922.
——*The Theory of Education in Plato's Republic,* with an Introduction by Spencer Leeson. Oxford University Press, New York, 1935.
Papadimitriou, Costas B. *La Part du Réel dans l'Utopie de Platon.* Paris, 1937.
Pater, Walter. *Plato and Platonism.* The Macmillan Company, New York, 1928.
Ritter, Constantin. *Platons Stellung zu den Aufgaben der Naturwissenschaften* (Sitzungsberichte d. Heidelberger Akademie der Wissenschaften. Phil.-hist. Klasse, Jahrg. 1919, Abh. 19). Heidelberg, 1919.
——*Platonismus und Christentum,* 3 Vorträge. Tübingen, 1934.
Sidgwick, H. *Outlines of the History of Ethics for English Readers.* The Macmillan Company, New York, 1925.
Stenzel, Julius. *Platon der Erzieher* (Die grossen Erzieher, 12). Leipzig, 1928.
Stewart, John Alexander. *Plato's Doctrine of Ideas.* Oxford University Press, New York, 1909.

Taylor, Alfred Edward. *Plato: The Man and His Work.* Dial Press, New York, 1927.

—— *Platonism and Its Influence.* Longmans, Green and Company, New York, 1924.

Urwick, Edward Johns. *The Message of Plato; a Reinterpretation of The Republic.* Methuen and Company, Ltd., London, 1920.

Wahl, Jean. *Les Problèmes Platoniciens; La République* (Les Cours de Sorbonne). Paris, 1938.

Whitehead, Alfred North. *Adventures of Ideas.* The Macmillan Company, New York, 1933.

ARISTOTLE

Aristotle: *Aristotle on Education, Being Extracts from the Ethics and Politics,* translated and edited by John Burnet (The Cambridge Series for Schools and Training Colleges). Cambridge University Press, London, 1905

—— *The Basic Works of Aristotle,* edited with an Introduction by Richard McKeon. Random House, New York, 1941.

—— *Metaphysics,* with an English translation by Hugh Tredennick. 2 vols. (Loeb Classical Library). Harvard University Press, Cambridge, Mass., 1933–1935.

—— *The Nicomachean Ethics,* with an English translation by H. Rackham (Loeb Classical Library). Harvard University Press, Cambridge, Mass., 1926.

—— *Nikomachische Ethik,* übersetzt von Eugen Rolfes. Leipzig, 1933.

—— *On the Soul, Parva Naturalia, On Breath,* with an English translation by W S. Hett (Loeb Classical Library). Harvard University Press, Cambridge, Mass., 1935.

—— *The Poetics (De Arte Poetica);* Longius, *On the Sublime,* translated by W. Hamilton Fyfe· Demetrius, *On Style,* translated by W. R Roberts (Loeb Classical Library). Harvard University Press, Cambridge, Mass , 1927.

—— *The Poetics of Aristotle,* translated by Preston H. Epps. University of North Carolina Press, Chapel Hill, 1942.

—— *The Politics,* with an English translation by H. Rackham (Loeb Classical Library). Harvard University Press, Cambridge, Mass., 1932.

—— *Psychology. De Anima; Parva Naturalia,* translated by William A. Hammond. The Macmillan Company, New York, 1902.

—— *The Student's Oxford Aristotle,* translated into English under the editorship of W. D. Ross. 6 vols. Oxford University Press, New York, 1942.

Abelson, Paul. *The Seven Liberal Arts: A Study in Mediaeval Culture* (Contributions to Education, No. 11). Columbia University, Teachers College, New York, 1906.

Burnet, John. *Aristotle* (The British Academy Annual Lecture on a Master-mind. Henriette Hertz Trust). Oxford University Press, New York, 1925.

Butcher, Samuel Henry. *Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art*, with a critical text and translation of *The Poetics*, 4th ed. The Macmillan Company, London, 1923.

Davidson, Thomas. *Aristotle and the Ancient Educational Ideal* (Great Educators). Charles Scribner's Sons, New York, 1907.

Griffin, Arthur Kent. *Aristotle's Psychology of Conduct*. Williams and Norgate, Ltd., London, 1931.

Grote, George. *Aristotle*, edited by Alexander Bain and G Croom Robertson. 3d edition. London, 1883.

Heine, Heinrich. *Works*, translated from the German by Charles Godfrey Leland 12 vols. See Vol V: *Germany*, in 2 vols., Vol. I, p. 79 E. P. Dutton and Company, New York, 1906.

Jaeger, Werner W. *Aristotle: Fundamentals of the History of His Development*, translated with the author's corrections by Richard Robinson Oxford University Press, New York, 1934.

Kapp, Alexander *Aristoteles Staatspädagogik* Hamm, 1837.

Spicer, Eulalie E. *Aristotle's Conception of the Soul*. University of London Press, 1934.

Stewart, John Alexander. *Notes on the Nichomachean Ethics of Aristotle* 2 vols. Oxford University Press, New York, 1892.

Willmann, Otto. *Aristoteles Pädagog und Didaktiker* (Die grossen Erzieher, Bd. II). Berlin, 1928.

PLUTARCH

Plutarch: *Essays and Miscellanies*, translated by C. W. King, revised by William W. Goodwin. 5 vols. Little, Brown and Company, Boston, 1908.

—— *Moralische Schriften*, übersetzt, mit Einleitungen und Anmerkungen versehen von Otto Apelt. 3 vols. (Bd 198, 205–206 der Philosophischen Bibliothek). Leipzig, 1926–1927.

—— *Plutarch's Lives*, with an English translation by Bernadotte Perrin. 11 vols. (Loeb Classical Library). Harvard University Press, Cambridge, Mass., 1914–1921.

—— *Plutarch's Moralia*, with an English translation by Frank Cole Babbitt. Vols. 1–6, 10 (Loeb Classical Library). Harvard University Press, Cambridge, Mass., 1927–1939.

—— *Plutarco dell'Educazione dei Figliuoli*, a cura di Hilda Montesi (Biblioteca di Classici Greci tradotti ed illustrati col teste a fronte). Firenze, 1916.

Bassi, P. D. *Il Pensiero Morale, Pedagogico, Religioso di Plutarco, Studi e Testi* (La nostra Scuola, 34) Firenze, 1927.

Dassaritis, Elias *Die Psychologie und Pädagogik des Plutarch*. Gotha, 1889.

Elyot, Sir Thomas. *The Boke named the Governour* (Everyman's Library). E. P. Dutton and Company, New York, 1910.

Favre, Julien (Velten). *La Morale de Plutarque. Préceptes et Exemples.* Paris, 1909.

Hirzel, Rudolf. *Plutarch* (Das Erbe der Alten, Heft IV). Leipzig, 1912.

Müller, Luise. *Die Pädagogik Plutarchs und ihre Quellen nach den echten Schriften der Moralia.* München, 1926.

Westaway, Katharine Mary. *The Educational Theory of Plutarch.* University of London Press, 1922.

QUINTILIAN

Quintilian (Marcus Fabius Quintilianus) *The Institutio Oratoria of Quintilian*, with an English translation by H. E. Butler. 4 vols. (Loeb Classical Library). Harvard University Press, Cambridge, Mass., 1921.

—— *Quintilian on Education, Being a Translation of Selected Passages from the Institutio Oratoria*, with an Introductory Essay by William M. Smail. Oxford University Press, New York, 1938.

Appel, B. *Das Bildungs- und Erziehungsideal Quintilians nach der Institutio Oratoria* Donauwörth, 1914.

Gerini, Giovanni Battista. *La Dottrina Pedagogiche di M. Tullio Cicerone, L. Anneo Seneca, M Fabio Quintiliano e Plinio il Giovine, Precedute da uno Studio sulla Educazione Presso i Romani* (Collezione di Libri d'Istruzione e di Educazione, v. 317). Torino, 1894.

Messer, Wilhelm August. *Quintilian als Didaktiker und sein Einfluss auf die didaktisch-pädagogische Theorie des Humanismus* (*Neues Jahrbuch für Philologie und Padagogik*, 1897, clvi, 161, 273, 321, 361, 409, 457).

JESUS OF NAZARETH

Bible: *The Holy Bible, Containing the Old and New Testaments*, authorized or King James Version.

Brown, Charles Reynolds. *The Master's Influence* (Fondren Lectures, 1936). Cokesbury Press, Nashville, Tenn., 1936.

Bruce, Alexander Balmain. *The Parabolic Teaching of Christ* 3d revised edition. Doubleday, Doran and Company, New York, 1908.

—— *The Training of the Twelve.* 6th edition. Doubleday, Doran and Company, New York, 1908.

Forsyth, Rev. Peter Taylor. *The Person and Place of Jesus Christ* (The Congregational Union Lecture for 1909). Pilgrim Press, Boston, 1909.

Glover, Terrot Reaveley. *The Influence of Christ in the Ancient World* (James Wesley Cooper Memorial Publication Fund, 12). Yale University Press, New Haven, 1929.

Graves, Frank Pierrepont. *What Did Jesus Teach? An Examination of the Educational Material and Method of the Master.* The Macmillan Company, New York, 1925.

Hinsdale, Burke Aaron. *Jesus as a Teacher and the Making of the New Testament.* Christian Board of Publication, St. Louis, 1895.

Hodgson, Geraldine. *Primitive Christian Education.* Charles Scribner's Sons, New York, 1906.

Horne, Herman Harrell. *Jesus, the Master Teacher.* Association Press, New York, 1920.

Jones, Rufus Matthew. *The Life of Christ* (Reading with a Purpose, No 15). American Library Association, Chicago, 1926.

Lang, Andrew. *The Making of Religion.* 3d edition. Longmans, Green and Company, New York, 1910.

Lecky, William Edward Hartpole, *History of European Morals from Augustus to Charlemagne.* 2 vols. D. Appleton and Company, New York, 1929.

Mackinnon, James. *The Historic Jesus.* Longmans, Green and Company, New York, 1931.

Manson, Thomas Walter. *The Teaching of Jesus; Studies of Its Form and Content.* The Macmillan Company, New York, 1932

Marique, Pierre Joseph. *History of Christian Education.* 2 vols. Fordham University Press, New York, 1924–1926.

—— *Philosophy of Christian Education* (Prentice-Hall Education Series). Prentice-Hall, Inc., New York, 1939.

Martin, Arthur D. *A Plain Man's Life of Christ,* with a Prefatory Note by Sydney Cave. George Allen and Unwin, Ltd , London, 1941.

Mauriac, François. *Vie de Jésus.* Edition nouvelle (L'Histoire). Paris, 1936.

Merezhkovskiĭ, Dimitri S. *Jesus the Unknown,* translated from the Russian by H. Chrouschoff Matheson, with a Preface by W. R Inge. Jonathan Cape, Ltd., London, 1933.

Neander, August. *The Life of Jesus Christ in Its Historical Connection.* The Macmillan Company, New York, no date.

Ramsay, Sir William Mitchell. *The Education of Christ.* G. P. Putnam's Sons, New York, 1902.

Renan, Ernest. *The Life of Jesus,* translated from the French (Tower Books). World Publishing Company, Cleveland, 1942.

Wendt, Hans Hinrich. *The Teaching of Jesus,* translated by John Wilson. 2 vols. Charles Scribner's Sons, New York, 1910.

THE ANCIENT CHURCH

1. General

Aall, Anathon August Frederik. *The Hellenistic Elements in Christianity; Three Lectures Delivered in the University of London.* University of London Press, 1931.

Achelis, Hans. *Das Christentum in den ersten drei Jahrhunderten.* 2 vols. Leipzig, 1912.

The Ante-Nicene Fathers, edited by Allan Menzies. 10 vols. Charles Scribner's Sons, New York, 1927.

The Ante-Nicene Fathers. Translations of the Writings of the Fathers down to A.D. 325, edited by Alexander Roberts and James Donaldson American Reprint of the Edinburgh Edition, revised by A. Cleveland Coxe. 9 vols. and Supplement. The Christian Literature Publishing Company, Buffalo, 1887–1896.

Bauer, Adolf. *Vom Griechentum zum Christentum*, 2e Aufl., herausgegeben von Wilhelm A. Bauer (Wissenschaft und Bildung, 78). Leipzig, 1923.

Bigg, Charles *The Church's Task under the Roman Empire.* Oxford University Press, New York, 1905.

Boissier, Gaston. *La Fin du Paganisme.* Paris, 1911

Dobschütz, Ernst von. *Christian Life in the Primitive Church,* translated by George Bremer and edited by W. D. Morrison (Theological Translation Library, Vol. XVIII). American Unitarian Association (The Beacon Press), Boston, 1904.

Duchesne, Abbé Louis. *Early History of the Christian Church, from Its Foundation to the End of the Third Century.* 3 vols. Longmans, Green and Company, New York, 1909–1924.

Gardner-Smith, Percival *The Church in the Roman Empire.* 3 parts. The Macmillan Company, New York, 1931–1934.

Geffcken, Johannes. *Der Ausgang des griechisch-romischen Heidentums* (Religionswissenschaftliche Bibliothek, 6). Heidelberg, 1929

Glover, Terrot Reaveley. *The Conflict of Religions in the Early Roman Empire.* 3d edition. Charles Scribner's Sons, New York, 1909.

Haarhoff, Theodore Johannes. *Schools of Gaul; A Study of Pagan and Christian Education in the Last Century of the Western Empire* Oxford University Press, London, 1920.

Harnack, Adolf von. *Christianity and History,* translated with the author's sanction by Thomas Bailey Saunders. The Macmillan Company, New York, 1907.

—— *The Mission and Expansion of Christianity in the First Three Centuries,* translated and edited by James Moffett. 2d edition, 2 vols. G. P. Putnam's Sons, New York, 1909.

—— *What Is Christianity?* translated into English by Thomas Bailey Saunders. 2d edition revised G. P. Putnam's Sons, New York, 1901.

Hatch, Edwin. *The Influence of Greek Ideas and Usages upon the Christian Church,* edited by A. M Fairbairn (Hibbert Lectures, First Series). Charles Scribner's Sons, New York, 1917.

Marique, Pierre Joseph. *Philosophy of Christian Education* (Prentice-Hall Education Series). Prentice-Hall, Inc., New York, 1939.

Migne, Jacques Paul, editor. *Patrologiae Cursus Completus,* Series prima et secunda (Latin), 225 vols., Paris, 1844–1864. Series Graeca, 161 vols., Paris, 1857–1866.

Pfleiderer, Otto. *Primitive Christianity; Its Writings and Teachings in Their Historical Connections,* translated by W. Montgomery, edited by

W. D. Morrison 4 vols. (Theological Translation Library, Vol. XXII). G. P. Putnam's Sons, New York, 1906–1911

Roberts, Alexander, and Donaldson, James. See *The Ante-Nicene Fathers.*

Schaff, Philip, editor. *A Select Library of the Nicene and Post-Nicene Fathers of the Christian Church.* First Series, 14 vols. Charles Scribner's Sons, New York, 1886–1890. Second Series, 14 vols., 1890–1900.

Seeberg, A. *Der Katechismus der Urchristenheit.* Leipzig, 1903.

Wand, John William Charles. *A History of the Early Church to A.D. 500.* Methuen and Company, Ltd., London, 1937.

Weiss, Johannes. *The History of Primitive Christianity,* completed by Rudolf Knopf, translated by four friends, and edited by Frederick C. Grant. 2 vols. The Macmillan Company, New York, 1937.

2. Tatian

Tatian: "Tatian's Address to the Greeks," in Alexander Roberts and James Donaldson's *The Ante-Nicene Fathers,* Vol. II, pp. 65–82. Revised edtion by A. Cleveland Coxe.

—— *Tatians Rede an die Griechen,* ubersetzt und eingeleitet von Adolf von Harnack. Giessen, 1884.

3. Tertullian

Tertullian: *Opera Omnia.* 2 parts. (J. P. Migne, *Patrologiae Cursus Completus,* Vols. 1–2.) Paris, 1844.

—— *Ausgewahlte Schriften,* übersetzt von Heinrich Kellner. 2 vols. (Bibliothek der Kirchenvater). Kempten, 1871–1872.

—— *Select Works,* edited by F A. March. American Book Company, New York, 1904.

—— *The Writings of Quintus Septimus Flor. Tertullianus.* 3 vols. (Ante-Nicene Christian Library, Vols. XI, XV, XVIII). Edinburgh, 1869–1870.

Backer, Émile de. *Sacramentum, le Mot et l'Idée Répresentée par lui dans les Oeuvres de Tertullien* (Univ. de Louvain. Récueil de travaux publ. par les membres des conférences d'histoire et de philologie, fasc. 30). Louvain, 1911.

Guignebert, Charles Alfred Honoré. *Tertullien; Étude sur ses Sentiments à l'Égard de l'Empire et de la Société Civile.* Paris, 1901.

Stier, Johannes. *Die Gottes- und Logos-Lehre Tertullians.* Göttingen, 1899.

Turmel, Joseph. *Tertullien* (La Pensée Chrétienne; textes et études). Paris, 1905.

Warfield, Benjamin Breckinridge. *Studies in Tertullian and Augustine,* edited by Ethelbert D. Warfield. Oxford University Press, New York, 1931.

4. Clemens Alexandrinus

Clemens Alexandrinus: *Opera quae Exstant Omnia.* 2 vols. (J. P. Migne, *Patrologiae Cursus Completus,* Series Graeca, Vol. 89). Paris, 1857.

Clemens Alexandrinus: *The Exhortation to the Greeks, The Rich Man's Salvation, and the Fragment of an Address Entitled: To the Newly Baptized,* translated by G. W. Butterworth (Loeb Classical Library). Harvard University Press, Cambridge, Mass., 1919.

—— *The Writings of Clement of Alexandria,* translated by William Wilson, 2 vols. (Ante-Nicene Christian Library, Vols. IV, XII). Edinburgh, 1867–1869.

Bardy, Gustave. *Clement d'Alexandrie* (Les Moralistes Chrétiens). Paris, 1926.

Capitaine, Wilhelm. *Die Moral des Clemens von Alexandrien.* Paderborn, 1903.

Decker, Aegidius. *Kenntnis und Pflege des Körpers bei Clemens von Alexandria* (Veröffentl. d. Salzburger Konfoederation der Benediktiner und Zisterzienser des deutschen Sprachgebietes, 1). Innsbruck, 1936.

Faye, Eugène de. *Clement d'Alexandrie, Étude sur les Rapports du Christianisme et de la Philosophie Grecque au 2e Siècle* (Bibliothèque de l'école des hautes études. Sciences réligieuses, 12). Paris, 1906.

Lazzati, Giuseppe. *Introduzione allo Studio di Clemente Alessandrino* (Pubblicazioni dell'Universitá Cattolica del S. Cuore. Ser. 4.: Science Filologiche, Vol. XXXII). Milano, 1939.

Munck, Johannes. *Untersuchungen uber Klemens von Alexandria* (Forschungen zur Kirchen- und Geistesgeschichte, 2. Bd.). Stuttgart, 1933.

5. Saint Augustine

Augustine, Saint: *Opera Omnia post Lovaniensium Theologorum Recensionem,* 16 vols. (J P. Migne, *Patrologiae Cursus Completus,* Series prima, Vols. 32–47). Paris, 1841–1849.

—— *Works,* a new translation edited by Marcus Dods. 15 vols. T. and T. Clark, Edinburgh, 1872–1934.

—— *Concerning the Teacher (De Magistro) and On the Immortality of the Soul (De immortalitate Animae),* translated by George G. Leckie. D. Appleton-Century Company, New York, 1938.

—— *The Confessions,* translated by Edwald B. Pusey; *The Imitation of Christ* by Thomas à Kempis, translated by William Benham, with Introductions, Notes, and Illustrations (The Harvard Classics, edited by Charles W. Eliot). P. F. Collier and Son, New York, 1909

—— *The Confessions,* with an English translation by William Watts (Loeb Classical Library). Harvard University Press, Cambridge, Mass., 1912.

—— *De Catechizandis Rudibus Liber Unus,* translated by Joseph Patrick Christopher (Patristic Studies, Vol. VIII). The Catholic University of America, Washington, D. C., 1926.

—— *On the Catechising of the Uninstructed,* translated by S. D. A. Salmond, in *A Select Library of the Nicene and Post-Nicene Fathers of the Christian Church,* edited by Philip Schaff, First Series, Vol. III, pp. 283–314. Charles Scribner's Sons, New York, 1886–1890.

Augustine, Saint: *On the Spirit and the Letter*, translated by William John Sparrow Simpson (Translations of Christian Literature, Ser. II, Latin Texts). The Macmillan Company, New York, 1925.

—— *Select Letters*, with English translation by J. H. Baxter (Loeb Classical Library). G. P. Putnam's Sons, New York, 1931.

Alfaric, Prosper. *L'Évolution Intellectuelle de Saint Augustin*, Vol. I of *Du Manichéisme au Néoplatonisme*. Paris, 1918

Baker, W. J. V., and Bickersteth, C. *Preaching and Teaching According to St. Augustine*. Oxford University Press, New York, 1907.

Bardy, Gustave. *Saint Augustin; l'Homme et l'Oeuvre*. 2me. édition (Bibliothèque Augustinienne). Paris, 1940.

Boyer, Charles. *Christianisme et Néo-Platonisme dans la Formation de Saint-Augustin*. Paris, 1920.

Combès, G. *Saint Augustin et la Culture Classique*. Paris, 1927.

Eibl, Hans. *Die Grundlegung der abendlandischen Philosophie, griechische und christlich-griechische Philosophie* (Die Philosophie, ihre Geschichte und ihre Systematik, Abh I). Bonn, 1934.

Eskridge, James Burnette. *The Influence of Cicero upon Augustine in the Development of His Oratorical Theory for the Training of the Ecclesiastical Orator* (Thesis). G. Banta Publishing Company, Menasha, Wis., 1912.

Henry, Paul *Plotin et l'Occident; Firmicus Maternus, Marius Victorinus, Saint Augustin et Macrobe* (Univ. Cath., Louvain, Spicilegium sacrum Lovaniense, Études et Documents, 15). Louvain, 1934.

Hogger, Joseph *Die Kinderpsychologie Augustins* (Beiträge zur Erziehungswissenschaft, 4). Munchen, 1937.

Jolivet, Regis. *Essai sur les Rapports entre la Pensée Grecque et la Pensée Chrétienne. Aristote et Saint Thomas, ou l'Idée de Création; Plotin et Saint Augustin, ou le Problème du Mal* (Bibliothèque d'Histoire de la Philosophie). Paris, 1931.

McCabe, Joseph. *St. Augustine and His Age*. G. P. Putnam's Sons, New York, 1903.

Marron, Henri Irenée *Saint Augustin et la Fin de la Culture Antique* (Bibliothèque des Écoles Françaises d'Athènes et de Rome, fasc. 145). Paris, 1938.

Martin, Jules. *Saint Augustin*. 2e édition (Les Grandes Philosophes). Paris, 1923.

Montgomery, William. *St. Augustine; Aspects of His Life and Thought*. G. H. Doran Company, New York, 1914.

Morgan, James. *The Psychological Teaching of St. Augustine*. Robert Scott, London, 1932.

Papini, Giovanni. *Saint Augustine*, translated by Mary Prichard Agnetti. Harcourt, Brace and Company, New York, 1930.

Troeltsch, Ernst. *Augustin, die christliche Antike und das Mittelalter Im Anschluss an die Schrift "De Civitate Dei"* (Historische Bibliothek, 36. Band). Munchen, 1915.

Warfield, Benjamin Breckinridge. *Studies in Tertullian and Augustine*, edited by Ethelbert D. Warfield Oxford University Press, New York, 1931.

6. Saint Basil

Basil, Saint. *Ascetic Works*, translated into English, with Introduction and Notes, by W. K. L. Clarke (Translations of Christian Literature, Series I: Greek Texts). The Macmillan Company, New York, 1925.

—— *Aux Jeunes Gens sur la Manière de Tirer Profit des Lettres Helléniques*, texte établi et traduit par l'Abbé Fernand Boulanger (Collection des Universités de France). Paris, 1935.

—— *The Letters*, with an English translation by Roy J. Deferrari. 4 vols. (Loeb Classical Library). Harvard University Press, Cambridge, Mass., 1926–1934.

—— *Opera Omnia quae Extant*. 4 vols. (J P. Migne, *Patrologiae Cursus Completus*, Series Graeca, Vol. 29–32). Paris, 1857.

—— *The Treatise de Spiritu Sancto. The Nine Homilies of the Hexaemeron and the Letters*, translated with Notes by Blomfield Jackson, in Schaff's *A Select Library of Nicene and Post-Nicene Fathers of the Christian Church*, Second Series, Vol. VIII). Charles Scribner's Sons, New York, 1895.

Allard, P. *Saint Basile*. Paris, 1899.

Clarke, William Kemp Lowther. *Saint Basil the Great; a Study in Monasticism*. G. P. Putnam's Sons, New York, 1914

Fox, Margaret Mary. *The Life and Times of St. Basil the Great as Revealed in His Works* (Patristic Studies, Vol. 57). The Catholic University of America, Washington, D. C , 1939.

Jacks, Leo V. *St. Basil and Greek Literature* (Patristic Studies, Vol. I). The Catholic University of America, Washington, D. C., 1922.

Maloney, Edward R., editor. *St. Basil on Greek Literature*. American Book Company, New York, 1901.

Padelford, Frederick Morgan, editor. *Essays on the Study and Use of Poetry by Plutarch and Basil the Great* (Yale Studies in English, XV). Yale University Press, New Haven, Conn., 1902

Weiss, Karl. *Die Erziehungslehre der drei Kappadozier. Eine padagogisch-philosophische Studie*. Freiburg, 1903.

7. Saint John Chrysostom

Chrysostom, Saint John: *Commentary on the Epistle to the Galatians, and Homilies on the Epistle to the Ephesians*, translated with Notes and Indices (A Library of Fathers of the Holy Catholic Church, Vol. V). Oxford University Press, New York, 1840.

—— *Des heiligen Kirchenlehrers Johannes Chrysostomus ausgewählte Schriften*. 7 vols. (Bibl. d. Kirchenväter 23, 25–27, 39, 42, 45). Kempten, 1915–1924.

Chrysostom, Saint John: *Homilies on Galatians, Ephesians, Philippians, Colossians, Thessalonians, Timothy, Titus, and Philemon*, in Schaff's *Select Library of the Nicene and Post-Nicene Fathers of the Christian Church*, First Series, Vol XIII. Charles Scribner's Sons, New York, 1886–1890.

—— *The Homilies on the Epistles of St. Paul the Apostle to the Philippians, Colossians, and Thessalonians*, translated, with Notes and Indices (A Library of Fathers of the Holy Catholic Church) Oxford University Press, New York, 1848.

—— *Opera Omnia*, 13 vols. (J. P. Migne, *Patrologiae Cursus Completus*, Series tertia, Vols. 26–34). Paris, 1842–1843.

—— *Selections from Saint John Chrysostom*, the Greek text edited with Introduction and Commentary by J. F. D'Alton. Burns, Oates and Washbourne, Ltd., London, 1940.

Baur, Chrysostomus. *Der heilige Johannes Chrysostomus und seine Zeit*. 2 vols. Munchen, 1929–1930.

Bush, Robert Wheeler. *The Life and Times of Chrysostom*. London, 1858.

Neander, August. *The Life of Saint Chrysostom*, translated by J. C. Stapleton. London, 1845.

Stephens, Rev. William Richard Wood. *Saint Chrysostom, His Life and Times. A Sketch of the Church and the Empire in the Fourth Century*. London, 1872.

8. Saint Jerome

Jerome, Saint (Eusebius Hieronymus) *Des heiligen Kirchenvaters Eusebius Hieronymus ausgewahlte Schriften* (Bibliothek der Kirchenväter, Band 15). Kempten, 1914.

—— *Opera Omnia*. 11 vols. (J P. Migne's *Patrologiae Cursus Completus*, Series prima, Vols 22–30). Paris, 1845–1846.

—— *The Principal Works of Saint Jerome*, translated by W. H. Fremantle, with the assistance of G. Lewis and W G. Martley, in Schaff's *A Select Library of the Nicene and Post-Nicene Fathers of the Christian Church*, Second Series, Vol. 6. Charles Scribner's Sons, New York, 1893

—— *Select Letters of Saint Jerome*, with an English translation by Frederick A. Wright (Loeb Classical Library). Harvard University Press, Cambridge, Mass., 1933.

Buonaiuti, Ernesto. *San Girolamo* (Profili, 49). Roma, 1919.

Cavallera, Ferdinand. *Saint Jérôme, sa Vie et son Oeuvre*, Pt. I, tomes 1–2 (Spicilegium sacrum Lovaniense, 1–2). Louvain, 1922.

Monceaux, Paul. *Saint Jérôme; sa Jeunesse, l'Étudiant, l'Érmite* (Collection la "Vie Chrétienne"). Paris, 1932.

—— *Saint Jerome The Early Years*, translated by F. J. Sheed. Sheed and Ward, Inc., London, 1933.

Zockler, Otto. *Hieronymus; sein Leben und Wirken aus seinen Schriften dargestellt*. Gotha, 1865.

I. General

Abélard, Pierre (Petrus Abaelardus) · *Opera Omnia* (J. P. Migne, *Patrologiae Cursus Completus,* Series prima, Vol 178). Paris, 1855.

—— *Sic et Non,* ediderunt E. L. T. Henke et G. S. Lindenkohl. Marburgi Cattorum, 1851.

Abelson, Paul, *The Seven Liberal Arts; a Study in Mediaeval Culture* (Contributions to Education, No. 11). Columbia University, Teachers College, New York, 1906.

Beda. *Complete Works,* in the original Latin, with an English translation by J. A. Giles 12 vols. London, 1843–1844.

—— *Opera Omnia.* 6 vols. (J. P. Migne, *Patrologiae Cursus Completus,* Series prima, Vols. 90–95). Paris, 1850–1851.

Carmina Burana. Vagantenlieder aus der lateinischen Dichtung des 12. und 13. Jahrhunderts, übertragen und eingeleitet von Robert Ulich, den lateinischen Text bearbeitete Max Manitius. Jena, 1927.

Compayré, Jules Gabriel. *Abelard and the Origin and Early History of the Universities* (The Great Educators). Charles Scribner's Sons, New York, 1904.

Coulton, George Gordon. *Life in the Middle Ages* (Cambridge Anthologies). The Macmillan Company, New York, 1930.

—— *A Medieval Garner, Human Documents from the Four Centuries Preceding the Reformation* Constable and Company, London, 1910.

Crump, Charles G., and Jacob, E. F. *The Legacy of the Middle Ages.* Oxford University Press, New York, 1926.

Cutts, Edward Lewes. *Scenes and Characters of the Middle Ages* 5th edition. Simpkin, Marshall, Hamilton, Kent and Company, Ltd., London, 1925.

De Montmorency, James Edward Geoffrey. *The Progress of Education in England: a Sketch of the Development of English Educational Organization from early Times to the Year 1904* (Local Government Library 3). Knight and Company, London, 1904.

Drane, Augusta Theodosia. *Christian Schools and Scholars; or, Sketches of Education from the Christian Era to the Council of Trent,* new edition, edited by Walter Gumbley. Benziger Brothers, New York, 1924.

Eicken, Heinrich von. *Geschichte und System der mittelalterlichen Weltanschauung.* 4. Aufl., mit Register von Hugo Preller. Stuttgart, 1923.

Gross, Charles. *The Gild Merchant.* Oxford University Press, New York, 1901.

Haskins, Charles Homer, editor. *The Life of Medieval Students as Illustrated by Their Letters,* in *American Historical Review,* Vol. III, pp. 203–229, 1898.

—— *The Renaissance of the Twelfth Century.* Harvard University Press, Cambridge, Mass., 1927

Haskins, Charles Homer. *The Rise of Universities* (Brown University, The Colver Lectures, 1923). Henry Holt and Company, New York, 1923.

Hugo de Saint-Victor. *Das Lehrbuch—Johannes Gerson. Traktat uber die Hinführung der Kleinen zu Christus*, übersetzt von Joseph Freundgen (Sammlung der bedeutendsten pädagogischen Schriften aus alter und neuer Zeit, 23. Bd.). Paderborn, 1896.

—— *Didascalicon de studio legendi*, a critical text by Charles H. Buttimer (Studies in Medieval and Renaissance Latin, v. 10). The Catholic University of America, Washington, D. C., 1939.

—— *Opera Omnia*, editio nova, 3 vols. (J. P. Migne, *Patrologiae Cursus Completus*, Vols. 175–177). Paris, 1879.

Huizinga, Johan. *Herbst des Mittelalters, Studien über Lebens- und Geistesformen des 14. und 15. Jahrhunderts in Frankreich und in den Niederlanden*. Stuttgart, 1938.

Leach, Arthur Francis *The Schools of Medieval England*. The Macmillan Company, New York, 1915.

Lieser, Ludwig *Vinzenz von Beauvais als Kompilator und Philosoph, eine Untersuchung seiner Seelenlehre im Speculum maius* (Forschungen zur Geschichte der Philosophie und der Padagogik, III, 1). Leipzig, 1928.

Limmer, R. *Bildungszustände und Bildungsideen des 13. Jahrhunderts*. Munchen, 1928.

Lloyd, Roger B. *The Golden Middle Age*. Longmans, Green and Company, New York, 1939.

—— *The Stricken Lute, An Account of the Life of Peter Abelard*. Lovat Dickson, Ltd., London, 1932.

Masius, H. *Die Erziehung im Mittelalter*, in K. A. Schmid's *Geschichte der Erziehung*, Vol. II, 1, pp. 94–333. Stuttgart, 1892.

Meller, Walter Clifford. *A Knight's Life in the Days of Chivalry*. Greenberg, Inc., New York, 1924.

Mullinger, James Bass. *The Schools of Charles the Great and the Restoration of Education in the Ninth Century* (Anastatic Reprints). G. E. Stechert and Company, New York, 1911.

Neudecker, Karl Julius. *Das Doctrinale des Alexander de Villa-Dei und der lateinische Unterricht während des spateren Mittelalters in Deutschland* (Inaug. Diss.). Pirna, 1885.

Parry, Albert William *Education in England during the Middle Ages*. London, 1920.

Pirenne, Henri. *Medieval Cities; Their Origins and the Revival of Trade*, translated by Frank D. Halsey. Princeton University Press, 1925.

Poole, Reginald Lane. *Illustrations of the History of Mediaeval Thought and Learning*. The Macmillan Company, New York, 1920.

Rait, Robert Sangster. *Life in the Medieval University* (Cambridge Manuals of Science and Literature). The Macmillan Company, New York, 1912.

Rashdall, Hastings. *The Universities of Europe in the Middle Ages*, edited by F. M. Powicke and A. B. Emden. New edition, 3 vols. Oxford University Press, New York, 1936.
Renard, Georges F. *Guilds in the Middle Ages*, translated by Dorothy Terry, and edited with an Introduction by G. D. H. Cole. Harcourt Brace and Company, New York, 1919.
Salzman, Louis Francis. *English Life in the Middle Ages*. Oxford University Press, New York, 1926.
Schlosser, Friedrich Chr. *Vincentius von Beauvais. Hand- und Lehrbuch für königliche Prinzen.* 2 parts. Frankfort, 1819.
Sellery, George C., and Krey, A. C. *Medieval Foundations of Western Civilization*. Harper and Brothers, New York, 1929.
Specht, Franz Anton. *Geschichte des Unterrichtswesens in Deutschland von den altesten Zeiten bis zur Mitte des dreizehnten Jahrhunderts.* Stuttgart, 1883.
Thorndike, Lynn. *Medieval Europe, Its Development and Civilization.* G. G. Harrap and Company, Ltd., London, 1920.
—— *History of Medieval Europe*, edited by James T. Shotwell. Rev. ed. Houghton Mifflin Company, Boston, 1928.
—— *Science and Thought in the Fifteenth Century, Studies in the History of Medicine and Surgery, Natural and Mathematical Science, Philosophy and Politics* Columbia University Press, New York, 1929.
Vincent de Beauvais. *See* Schlosser, Friedrich Chr.
—— *De Eruditione Filiorum Nobilium*, edited by Arpad Steiner (Publication No. 32). Mediaeval Academy of America, Cambridge, Mass., 1938.
Waddell, Helen J. *The Wandering Scholars*, with a Bibliography and Chronological Table. Revised edition. Constable and Company, Ltd., London, 1932.
Walsh, James Joseph. *The Thirteenth, Greatest of Centuries.* Fordham University Press, New York, 1913.
Warre Cornish, Francis. *Chivalry*. New edition. The Macmillan Company, New York, 1908.

2. Hrabanus Maurus

Hrabanus Maurus: *Opera Omnia.* 6 vols. (J. P. Migne, *Patrologiae Cursus Completus*, Vols. 107–112). Paris, 1851–1852.
—— *De Institutione Clericorum Libri Tres*, textum recensuit. Aloisius Knoepfler (Veroffentlichungen aus dem Kirchenhistorischen Seminar, Munchen, 5). München, 1900.
—— *Pädagogische Schriften*, übersetzt von Joseph Freundgen (Sammlung der bedeutendsten padagogischen Schriften aus alter und neuer Zeit, Bd. 5). Paderborn, 1890.
Fellner, Stephan. *Compendium der Naturwissenschaften an der Schule zu Fulda im IX. Jahrhundert.* Berlin, 1879.

Meier, Gabriel. *Ausgewahlte Schriften von Columban, Alkuin, Dodana, Notker, Balbulus, Hugo von Sankt Viktor und Peraldus,* Einleitung und Übersetzung von P. Gabriel Meier (Bibl. d. kath. Pädagogik iii). Freiburg i. Br., 1890.

Turnau, Dietrich. *Rabanus Maurus, der Praeceptor Germaniae; ein Beitrag zur Geschichte der Pädagogik des Mittelalters.* München, 1900.

3. ALCUIN

Alcuin: *Opera Omnia.* 2 vols. (J. P. Migne, *Patrologiae Cursus Completus,* Series secunda, Vols. 100–101). Paris, 1851.

—— *Alkuins padagogische Schriften,* ubersetzt, bearbeitet von Joseph Freundgen (Sammlung der bedeutendsten pädagogischen Schriften aus alter und neuer Zeit, 4. Bd.). Paderborn, 1889.

—— *The Rhetoric of Alcuin and Charlemagne,* a translation with an Introduction, the Latin Text, and Notes by Wilbur Samuel Howell (Princeton Studies in English, No. 23). Princeton University Press, 1941.

Gaskoin, C. J. B. *Alcuin: His Life and His Work.* G. P. Putnam's Sons, New York, 1904.

Laforêt, J. B. *Alcuin, Restaurateur des Sciences en Occident sous Charlemagne.* Louvain, 1851.

Roger, M. *L'Enseignement des Lettres Classiques d'Ansone à Alcuin.* Paris, 1902.

West, Andrew F. *Alcuin, and the Rise of the Christian Schools* (Great Educators). Charles Scribner's Sons, New York, 1907.

4. THOMAS AQUINAS

Thomas Aquinas, Saint: *Opera Omnia Iussu Impensaque Leonis xiii. Edita.* 15 vols. Rome, 1882–1930.

—— *On the Governance of Rulers* (*De Regimine Principum*), revised edition, translated by Gerald B. Phelan (Institute of Medieval Studies, Saint Michael's College Philosophical Texts). Sheed and Ward, Inc., London, 1938.

—— *Les Plus Belles Pages de Saint Thomas d'Aquin.* Paris, 1929.

—— *Quaestiones Disputatae de Veritate,* Quaestio XI (*De Magistro*) (Florilegium Patristicum tam veteris quam medii aevi auctores complectens, Nova Series, xiii, pp. 1–36). Bonn, 1921.

—— *Selected Writings,* edited by M. C. D'Arcy (Everyman's Library). E. P. Dutton and Company, New York, 1939.

Gilson, Étienne. *The Philosophy of St. Thomas Aquinas,* authorized translation from the 3d revised edition of *Le Thomisme,* translated by Edward Bullough, edited by G. A. Elrington (Mediaeval Scholastic Series). B. Herder Book Company, St. Louis, 1925.

Grabmann, Martin. *Die Kulturphilosophie des heiligen Thomas von Aquin.* Augsburg, 1925.

Grabmann, Martin. *Thomas Aquinas; His Personality and Thought*, authorized translation by Virgil Michel. Longmans, Green and Company, New York, 1928.

McCormick, John F. *Saint Thomas and the Life of Learning* (Marquette University, Aristotelian Society, Aquinas Lecture, 1937). Marquette University Press, Milwaukee, Wis., 1937.

Mandonnet, Pierre Felix. *Bibliographie Thomiste* (Bibliothèque Thomiste I). Le Saulchoir, Kain, Belgique, 1921.

Mayer, Mary Helen. *The Philosophy of Teaching of St. Thomas Aquinas*, Introduction by Edward A. Fitzpatrick (Marquette Monographs on Education). Bruce Publishing Company, St. Paul, Minn., 1929.

Meyer, Hans. *Thomas von Aquin, sein System und seine Geistesgeschichtliche Stellung.* Bonn, 1938.

Pegis, Anton Charles. *Saint Thomas and the Greeks* (Aquinas Lectures, No. 3). Marquette University Press, Milwaukee, Wis., 1939.

Schneider, Wilhelm. *Die Quaestiones diputatae de Veritate des Thomas von Aquin in ihrer Philosophie-geschichtlichen Beziehung zu Augustinus* (Beitrage zur Geschichte der Philosophie u Theologie des Mittelalters, Bd. xxvii, 31) Münster in W., 1930.

Vann, Gerald. *Saint Thomas Aquinas.* Benziger Brothers, New York, 1941.

5. JOANNES GERSON

Gerson, Joannes: *Opera Omnia* (Opera et studio Lud. Ellies du Pin). 5 vols. Antwerpen, 1706.

———*Tractatus de Parvulis Trahendis ad Christum*, in *Opera Omnia*, Vol. III, col. 277–291. Sumptibus Societatis, Antwerpiae, 1706.

——— *Traktat uber die Hinführung der Kleinen zu Christus*, übersetzt von Joseph Freundgen, in Hugo de Saint-Victor's *Das Lehrbuch* (Sammlung der bedeutendsten pàdagogischen Schriften aus alter und neuer Zeit, 23. Band). Paderborn, 1896.

Aegidius Romanus de Colonna. *Johannes Gersons, Dionys des Kartdusers und Jakob Sadolets padagogische Schriften*, übersetzt von Michael Kaufmann, F. X. Kunz, Heinr. Al. Keiser und Karl Alois Kopp (Bibliothek der kathol. Pädagogik, xv). Freiburg im Br., 1904.

Bonnechose, Émile de. *Réformateurs avant la Réforme, XVe Siècle. Jean Hus, Gerson et le Concile de Constance*, 3e édit. 2 vols. Paris, 1860.

Connolly, James Louis. *John Gerson, Reformer and Mystic.* (Univ. de Louvain, Recueil de Travaux publiés par les Membres des Conférences d'Histoire et de Philologie, 2me sér., 12me fasc.) Louvain, 1928.

Dacremont, Henri. *Gerson.* Paris, 1929.

Figgis, John Neville. *Studies of Political Thought from Gerson to Grotius* (The Birbeck Lectures, delivered in Trinity College). The Macmillan Company, New York, 1907

Lafontaine, Albert. *De Johanne Gersonis Puerorum Adulescentiumque Institutore.* La Chapelle-Montligeon, 1902.

Lafontaine, Albert. *Jehan Gerson (1363–1429)*. Paris, 1906.

Masson, Anne Louise. *Jean Gerson, sa Vie, son Temps, ses Oeuvres.* Lyon, 1894.

Spiegelberg, Herbert. *Johannes Gerson und die Idee des christlichen Friedens-staates—Johannes Gerson: Krieg und Christenheit, eine Pfingstpredigt aus dem späten Mittelalter,* Sonderdruck a. d. Zeitschrift *Die Friedenswarte,* No. 2, pp. 70–81; No. 3–4, pp. 106–118; sq. 1937. No. 6, pp. 221–235. Zurich, 1936.

THE HUMANIST EVOLUTION

1. General

Adams, Sir John. *The Evolution of Educational Theory.* The Macmillan Company, New York, 1912.

Ady, Cecilia Mary. *Pius II, the Humanist Pope.* London, 1913.

Alberti, Leon Battista. *I Libri della Famiglia,* editi da Girolamo Mancini. Firenze, 1908.

—— *I Primi Tre Libri della Famiglia,* annotati da Francesco Carlo Pellegrini (Biblioteca scolastica di classici italiani). Firenze, 1911.

Bruni, Leonardus Aretino. *I Leonhardi Aretini de Studiis et Litteris ad Illustrem Dominam Baptistam de Malatesta Tractatulus. Liptzick, 1496. II Jacobi Purlitiarum de Generosa Liberorum Educatione Libellus. Tarvisii, 1492,* mit Erläuterungen (Sammlung selten gewordener pädagogischer Schriften des 16. und 17. Jahrhunderts, herausgegeben von A. Israel, 6). Zschopau, 1880.

Burckhardt, Jakob Christoph. *The Civilization of the Renaissance in Italy,* authorized translation by S. G C. Middlemore. The Macmillan Company, New York, 1908. G. Allen and Unwin, Ltd , London, 1937.

Castiglione, Baldassare, Conte *The Book of the Courtier,* done into English by Sir Thomas Hoby, anno 1561, Introduction by W. D. H. Rouse (Everyman's Library). E. P. Dutton and Company, New York, 1928.

—— *The Book of the Courtier,* translated by Leonard Eckstein Opdycke (Black and Gold Library). Liveright Publishing Corporation, New York, 1929.

—— *The Courtier (Il Cortegiano),* translated by Thomas Hoby. National Alumni, New York, 1907.

Franzoni, Andrea. *L'Opera Pedagogica di Maffeo Vegio.* Lodi, 1907.

Gerini, G. *Gli Scritti Pedagogici Italiani del Secolo Decimoquinto* (Collezione di libri d'istruzione e di educazione, Vol 337). Turin, 1896.

Hartfelder, Karl. *Erziehung und Unterricht im Zeitalter des Humanismus,* in K. Schmid's *Geschichte der Erziehung,* II, 2. Stuttgart, 1889.

Kristeller, Paul Oskar. *The Philosophy of Marsilio Ficino,* translated into English by Virginia Conant (Columbia Studies in Philosophy, No 6). Columbia University Press, New York, 1943.

Murmellius, Johannes. *Des Johannes Murmellius pädagogische Schriften*, übersetzt von Joseph Freundgen (Sammlung der bedeutendsten pädagogischen Schriften aus alter und neuer Zeit, Bd. 18). Paderborn, 1894.

Petrarch, Francesco *Petrarch, the First Modern Scholar and Man of Letters; a Selection from His Correspondence with Boccaccio and Other Friends, Designed to Illustrate the Beginnings of the Renaissance*, translated by James Harvey Robinson and Henry Winchester Rolfe, 2d edition, revised and enlarged. G. P. Putnam's Sons, New York, 1914.

Pius II (Aeneus Silvius Piccolomini), Pope. *De Liberorum Educatione*, a translation with an Introduction by Brother Joel Stanislaus Nelson (Studies in Medieval and Renaissance Latin Language and Literature, Vol. XII). The Catholic University of America, Washington, D. C., 1940.

Sandys, Sir John Edwin. *Harvard Lectures on the Revival of Learning.* G. P. Putnam's Sons, New York, 1905.

Santayana, Silvio George. *Two Renaissance Educators: Alberti and Piccolomini.* Meador Publishing Company, Boston, 1930.

Seebohm, Frederic. *The Oxford Reformers: John Colet, Erasmus, and Thomas More* (Everyman's Library). E. P. Dutton and Company, New York, 1914.

Vegius, Mapheus. *De Educatione Liberorum et eorum Claris Moribus, Libri Sex*, a critical text of Books I–III, by Sister Maria Walburg Fanning (Studies in Medieval and Renaissance Latin, Vol. I). The Catholic University of America, Washington, D. C., 1933.

—— *Erziehungslehre*, Einleitung, Übersetzung von K. A. Kopp (Bibliothek der katholischen Pädagogik, II). Freiburg im Br., 1889.

Vives, Juan Luis. *Ausgewählte pädagogische Schriften*, übersetzt von Rudolf Heine (Pädagogische Bibliothek 16. Eine Sammlung der wichtigsten pädagogischen Schriften älterer und neuerer Zeit). Leipzig, 1882.

—— *De Concordia et Discordia in Humano Genere.* Lugduni, 1532.

—— *Pädagogische Schriften*, Einleitung, Übersetzung von Emanuel Kayser, in *Ausgewählte pädagogische Schriften des Desiderius Erasmus*, Übersetzung von Dietrich Reichling (Johannes Ludovicus Vives' *Pädagogische Schriften*, Bibliothek der katholischen Pädagogik, viii). Freiburg im Br., 1896.

—— *Vives: On Education; A Translation of the De Tradendis Disciplinis*, with an Introduction by Foster Watson. G. P. Putnam's Sons, New York, 1913.

Watson, Foster. *Luis Vives, el gran Valenciano (1492–1540)* (Hispanic Notes and Monographs, Spanish Series, No. 4). Oxford University Press, New York, 1922.

—— *Vives and the Renascence Education of Women*, edited by Foster Watson (Educational Classics). Longmans, Green and Company, New York, 1912.

Whitcomb, Merrick, editor. *Literary Source-Book of the German Renaissance, and Literary Source-Book of the Italian Renaissance.* 2d ed. University of Pennsylvania, Philadelphia, 1904.
Wimpheling, Jakob. *Pädagogische Schriften,* übersetzt, erläutert, und mit einer Einleitung versehen von Joseph Freundgen (Sammlung der bedeutendsten pädagogischen Schriften aus alter und neuer Zeit, Band 13). Paderborn, 1898.
Woodward, William Harrison. *Studies in Education During the Age of the Renaissance, 1400–1600.* The Macmillan Company, New York, 1906.
—— *Vittorino da Feltre and Other Humanist Educators.* The Macmillan Company, New York, 1905.

2. Martin Luther

Luther, Martin: *Sammtliche Schriften,* herausgegeben von Georg Walch 23 Bde. in 25. Concordia Publishing House, St. Louis, Mo., 1881–1910.
—— *Select Works,* translated by Henry Cole. 4 vols. London, 1826.
—— *Werke: Kritische Gesamtausgabe,* Vols. 1–54, 56–57. Weimar, 1883–1939. *Tischreden (1531–1546),* Band 1–6. Weimar, 1912–1921.
—— *Works,* with Introductions and Notes. 6 vols. A. J. Holman Company, Philadelphia, 1915–1932.
—— *A Commentary on Saint Paul's Epistle to the Galatians.* Philadelphia, 1860.
—— *Conversations with Luther; Selections from Recently Published Sources of the Table Talk,* translated and edited by Preserved Smith and Herbert Percival Gallinger. The Pilgrim Press, London, 1915.
—— *Luther's Correspondence and Other Contemporary Letters,* translated and edited by Preserved Smith. 2 vols. United Lutheran Publication House, Philadelphia, 1913–1918.
—— *Luther's Hymns,* edited by James F. Lambert, with an Introduction by John A. W. Haas. United Lutheran Publication House, Philadelphia, 1917.
—— *Luthers Tischreden der Mathesischen Sammlung,* herausgegeben von Ernst Kroker. Leipzig, 1903.
—— *Reformation Writings,* translated with an Introduction by Bertram Lee Woolf. Religious Tract Society, London, 1937.
—— *Table Talk,* translated and edited by William Hazlitt. United Lutheran Publication House, Philadelphia, 1904.
Bauer, Karl. *Luthers Aussehen und Bildnis: eine physiognomische Plauderei.* Gütersloh, 1930.
Below, Georg von. *Die Ursachen der Reformation, mit einer Beilage: Die Reformation und der Beginn der Neuzeit* (Historische Bibliothek, 38. Band). Munchen, 1917.
Boehmer, Heinrich. *Luther and the Reformation in the Light of Modern Research,* translated by E. S. G. Potter. Zondervan Publishing House, Grand Rapids, Mich., 1930.

Clayton, Joseph. *Luther and His Work* (Science and Culture Series). Bruce Publishing Company, Milwaukee, Wis., 1937.

Eby, Frederick, editor. *Early Protestant Educators; the Educational Writings of Martin Luther, John Calvin, and Other Leaders of Protestant Thought.* McGraw-Hill Book Company, New York, 1931.

Evers, Albert *Das Verhaltnis Luthers zu den Humanisten* (Inaug. Diss.). Rostock, 1895.

Evers, Georg Gotthilf. *Martin Luther; Lebens und Charakterbild von ihm selbst gezeichnet in seinen eigenen Schriften und Correspondenzen.* 6 vols. Mainz, 1883–1891.

Febvre, Lucien *Martin Luther: A Destiny*, translated by Roberts Tapley. E. P. Dutton and Company, New York, 1929.

Funck-Brentano, Frantz. *Luther*, translated from the French by E. F. Buckley (Academy Books, No. 32). Jonathan Cape, Ltd., London, 1939.

Grisar, Hartmann. *Luther*, authorized translation from the German by E M. Lamond, edited by Luigi Cappadelta. 6 vols. B. Herder Book Company, St. Louis, Mo , 1913–1917.

Harnack, Adolf von. *Martin Luther in seiner Bedeutung fur die Geschichte der Wissenschaft und der Bildung.* 4. durchg. Aufl. Giessen, 1911.

Hausrath, Adolf. *Luthers Leben*, 7. Tausend. 2 vols. in 1. Berlin, 1924.

Heyck, Eduard. *Luther*, 2. bearb. Aufl. (Monographien zur Weltgeschichte, Bd. 29). Bielefeld, 1933.

Kästner, Alexander. *Die Kinderfragen. Der erste deutsche Katechismus 1521* (Neudrucke pädagogischer Schriften, xvii). Leipzig, 1902.

Kawerau, Gustav. *Luthers Schriften, nach der Reihenfolge der Jahre verzeichnet.* Leipzig, 1917.

Köstlin, Julius. *Life of Luther, with Illustrations from Authentic Sources* (Scribner's Popular Religious Series). Charles Scribner's Sons, New York, 1913.

Lagrange, Marie Joseph. *The Meaning of Christianity According to Luther and His Followers in Germany*, translated by W. S Reilly. Longmans, Green and Company, New York, 1920.

Leach, Arthur Francis. *English Schools at the Reformation, 1546–48.* A Constable and Company, Westminster, 1896.

Mackinnon, James. *Luther and the Reformation.* 4 vols. Longmans, Green and Company, New York, 1925–1930.

—— *Origins of the Reformation.* Longmans, Green and Company, New York, 1939.

Maritain, Jacques. *Three Reformers. Luther, Descartes, Rousseau.* Charles Scribner's Sons, New York, 1929.

Müller, Johannes. *Luthers reformatorische Verdienste um Schule* und *Unterricht*, 2. verm. Aufl. Berlin, 1883

Murray, Robert Henry. *Erasmus and Luther: Their Attitude to Toleration.* The Macmillan Company, New York, 1920.

Painter, Franklin Verzelius Newton. *Luther on Education, Including a Historical Introduction and a Translation of the Reformer's Two Most Important Educational Treatises.* Lutheran Pub. Society, Philadelphia, 1890.

Pascal, Roy. *The Social Basis of the German Reformation; Martin Luther and His Times.* C A. Watts and Company, Ltd., London, 1933

Reu, Johann Michael. *Thirty-five Years of Luther Research.* Wartburg Publishing House, Chicago, 1917.

Scheel, Otto. *Martin Luther. Vom Katholizismus zur Reformation.* 2 vols. 3. und 4. Aufl. Tübingen, 1921–1930.

Smith, Preserved. *The Life and Letters of Martin Luther.* Houghton Mifflin Company, Boston, 1914.

—— *Luther's Table Talk. A Critical Study* (Studies in History, Economics and Public Law, Vol. xxvi, No. 2. Columbia University Press, New York, 1907.

Solle, R W. *Reformation und Revolution; der deutsche Bauernkrieg und Luthers Stellung in demselben* (Verein für Reformationsgeschichte. Schriften für das deutsche Volk, 31, 32) Halle a. S., 1897.

Stahl, Herbert. *August Hermann Francke, der Einfluss Luthers und Molinos auf ihn.* (Forschungen zur Kirchen- und Geistesgeschichte, 16). Stuttgart, 1939.

Strohl, Henri. *L'Évolution Réligieuse de Luther jusqu'en 1515* (Études d'histoire et de philosophie réligieuse). Strassbourg, 1922.

Tawney, Richard Henry. *Religion and the Rise of Capitalism; a Historical Study* (Holland Memorial Lectures, 1922). Harcourt, Brace and Company, New York, 1926.

Troeltsch, Ernst *Protestantism and Progress; a Historical Study of the Relation of Protestantism to the Modern World,* translated by W. Montgomery (Crown Theological Library). G. P. Putnam's Sons, New York, 1912.

Waring, Luther Hess. *The Political Theories of Martin Luther.* G. P. Putnam's Sons, New York, 1910.

Weber, Max. *The Protestant Ethic and the Spirit of Capitalism,* translated by Talcott Parsons, with a Foreword by R. H. Tawney. Charles Scribner's Sons, New York, 1930.

—— *Protestantische Ethik und der "Geist des Kapitalismus"* (Archiv für Sozialwissenschaft und Sozialpolitik, Bd. 21, 1905, Heft 1).

3. Erasmus of Rotterdam

Erasmus, Desiderius: *Ausgewählte Werke,* in Gemeinschaft mit Annemarie Holborn herausgegeben von Hajo Holborn (Veröffentlichungen der Kommission zur Erforschung der Geschichte der Reformation und Gegenreformation). München, 1933.

—— *Opera Omnia, cum Praefatione Beati Rhenani vitam Autoris Describente.* 9 vols in 11. Basel, 1540.

Erasmus, Desiderius: *Opera Omnia*, cura J. Clerici. 10 vols. Lugd. Bat., 1703–1706.

—— *Erasmi Opuscula, a Supplement to the Opera Omnia*, edited by Wallace K. Ferguson (Designed as a supplement to the standard edition of *Opera Omnia Erasmi*, Leiden, 1703–1706) The Hague, 1933.

—— *A Book Called in Latin Enchiridion Militis Christiani and in English The Manual of the Christian Knight.* Methuen and Company, London, 1905.

—— *Briefe*, verdeutscht und herausgegeben von Walther Köhler. Leipzig, 1938.

—— *Ciceronianus, or a Dialogue on the Best Style of Speaking*, translated by Izora Scott, with an Introduction by Paul Monroe (Contributions to Education, No. 21). Columbia University, Teachers College, New York, 1908

—— *The Education of a Christian Prince*, translated by Lester K. Born (Records of Civilization, Sources and Studies, No. 27). Columbia University Press, New York, 1936.

—— *The Epistles of Erasmus, from His Earliest Letters to His Fifty-first Year, Arranged in Order of Time*, English translations by Francis Morgan Nichols. 3 vols. Longmans, Green and Company, New York, 1901–1918.

—— *Institutio Principis Christiani*, Chapters III–XI, translated with an Introduction by Percy Elwood Lobbett (Texts for Students of International Relations, No. 1). Grotius Society, London, 1921.

—— *Opus Epistolarum*, denuo recognitum et auctum per P. S. Allen et H. M. Allen. 10 vols. Oxford University Press, New York, 1906–1941.

Allen, Percy Stafford. *The Age of Erasmus.* Oxford University Press, New York, 1914.

—— *Erasmus; Lectures and Wayfaring Sketches.* Oxford University Press, New York, 1934.

—— *Erasmus' Services to Learning.* Oxford University Press, New York, 1925.

Barbaro, Francesco. *De Re Uxoria.* Paris, 1513.

Barnard, Henry. *Memoirs of Eminent Teachers and Educators with Contributions to the History of Education in Germany.* Revised edition. Brown and Gross, Hartford, 1878.

Bataillon, Marcel. *Erasme et l'Espagne. Recherches sur l'Histoire Spirituelle du XVIe Siècle.* Paris, 1937.

Becher, R. *Die Ansichten des Desiderius Erasmus uber die Erziehung und den ersten Unterricht der Kinder.* Leipzig, 1890.

Bibliotheca Belgica: Bibliographie générale des Pays Bas, 1 ser., tomes 1–27, 2 e ser., tomes 1–27 (Ser. 2, tomes 6–14, concern Erasmus). Gand, La Haye, 1880–1924

Binns, Leonard Elliott. *Erasmus the Reformer.* 2d edition. London, 1928.

Bömer, Aloys. *Die lateinischen Schülergespräche der Humanisten.* 2 Bände (Texte und Forschungen zur Geschichte der Erziehung I). Berlin, 1897–1899.

Capey, Ernest F. H. *Erasmus.* E. P. Dutton and Company, New York, 1903.

Durand de Laur, H. *Érasme Précurseur et Initiateur de l'Esprit Moderne* 2 vols. Paris, 1872.

Eby, Frederick, editor. *Early Protestant Educators: The Educational Writings of Martin Luther, John Calvin, and Other Leaders of Protestant Thought.* McGraw-Hill Book Company, New York, 1931.

Elyot, Sir Thomas. *Defence of Good Women.* London, 1540.

Faulkner, John A. *Erasmus: the Scholar* (Men of the Kingdom). Methodist Book Concern, New York, 1907.

Froude, James Anthony. *Life and Letters of Erasmus.* Charles Scribner's Sons, New York, 1899

Gloeckner, G. *Das Ideal der Bildung und Erziehung bei Erasmus von Rotterdam.* Dresden, 1889.

[Haeghen, Ferdinand van der]. *Bibliotheca Erasmiana.* 3 vols. in 1. Gand, 1893.

Huizinga, Johan. *Erasmus,* with an Introduction by Edward W. Bok, translated by F. Hopman (Great Hollanders). Charles Scribner's Sons, New York, 1924.

Jebb, Sir Richard Claverhouse. *Erasmus.* G. P. Putnam's Sons, New York, 1901.

Kommoss, Rudolf. *Sebastian Franck und Erasmus von Rotterdam* (Germanische Studien, 153). Berlin, 1934.

Major, Emil. *Erasmus von Rotterdam* (Virorum illustrium reliquiae, 1). Basel, 1926.

Mangan, John J. *Life, Character and Influence of Desiderius Erasmus of Rotterdam.* 2 vols. The Macmillan Company, New York, 1927.

Murray, Robert H. *Erasmus and Luther, Their Attitude to Toleration.* The Macmillan Company, New York, 1920.

Renaudet, Augustin. *Études Érasmiennes, 1521–1529.* Paris, 1939.

Schottenloher, Otto. *Erasmus im Ringen um die humanistische Bildungsform* (Reformationsgeschichtliche Studien und Texte, Heft 61). Münster i. W., 1933.

Schroeder, Arthur. *Der moderne Mensch in Erasmus; eine Untersuchung zur Frage nach der christlichen Weltanschauung.* Leipzig, 1919.

Smith, Preserved. *Erasmus. A Study of His Life, Ideals and Place in History.* Harper and Brothers, New York, 1923.

Vives, Juan Luis. *De Institutione Foeminae Christianae.* Antwerpen, 1524.

Woodward, William Harrison. *Desiderius Erasmus Concerning the Aim and Method of Education.* The Macmillan Company, New York, 1904.

Zweig, Stefan. *Erasmus of Rotterdam,* translated by Eden and Cedar Paul. Viking Press, New York, 1934.

4. Ignatius of Loyola

Loyola, Ignatius of, Saint: *The Autobiography of Saint Ignatius*, edited by J. F. X. O'Conor. Benziger Brothers, New York, 1900.

—— *Monumenta Ignatiana ex Autographis vel ex Antiquioribus Exemplis Collecta*, Series 3a, Constitutiones Societas Jesu. 2 vols. (Monumenta historica Societas Jesu, 63–64). Roma, 1934–1936.

—— *Monumenta Ignatiana*, Series secunda. Exercitia spiritualia. 8 parts (Monumenta historica Societas Jesu, 57). Madrid, 1919.

—— *Spiritual Exercises*, translated from the Spanish by W. H. Longridge. Robert Scott, London, 1930.

Astrain, Antonio. *A Short Life of St. Ignatius Loyola, Founder of the Society of Jesus*, translated from the Spanish by Robert Hull. Benziger Brothers, New York, 1928.

Bernard, Henri. *Essai Historique sur les Exercises Spirituels de Saint Ignace* (Museum Lessianum, Section ascétique et mystique, 21). Louvain, 1926.

Broderick, James. *The Origin of the Jesuits*. Longmans, Green and Company, New York, 1940.

Consalvius de Camara, Ludovicus *Memoriale*, in *Monumenta Ignatiana*, Series quarta: *Scripta de Sancto Ignatio de Loyola*, Tomus primus. Madrid, 1904.

Farrell, Allan Peter. *The Jesuit Code of Liberal Education; Development and Scope of the Ratio Studiorum*. Bruce Publishing Company, Milwaukee, Wis., 1938.

Fitzpatrick, Edward Augustus, editor. *St. Ignatius and the Ratio Studiorum*, with translation of *The Constitutions*, Part IV, by Mary Helen Mayer, and of the *Ratio Studiorum* by A. R. Ball. McGraw-Hill Book Company, New York, 1933.

Fueloep-Miller, René. *Macht und Geheimnis der Jesuiten. Eine Kultur- und Geistesgeschichte*. Neue Ausgabe. Berlin, 1932.

Garraghan, Gilbert Joseph. *The Jesuits of the Middle United States*. 3 vols. American Press, Lebanon, Syria, 1938.

Harney, Martin Patrick. *The Jesuits in History; the Society of Jesus through Four Centuries*. America Press, New York, 1941.

Harvey, Robert. *Ignatius Loyola, a General in the Church Militant* (Science and Culture Series). Bruce Publishing Company, Milwaukee, Wis., 1936.

Hollis, Christopher. *Saint Ignatius*. Harper and Brothers, New York, 1931.

Hughes, Thomas A. *Loyola and the Educational System of the Jesuits* Charles Scribner's Sons, New York, 1904.

Jacobsen, Jerome Vincent. *Educational Foundations of the Jesuits in Sixteenth-Century New Spain*, edited by Herbert Eugene Bolton University of California, Berkeley, 1938.

Joly, Henry. *St. Ignace de Loyola.* 5me édition (Les Saints. Collection publié sous la direction de H. Joly). Paris, 1900.

Ker, Paul. *Nos Doctrines Classiques Traditionelles.* Paris, 1921.

Ludolphus de Saxonia. *Vita Christi*, n. pl., n. d. ca. 1468.

McGucken, William Joseph. *The Jesuits and Education; the Society's Teaching Principles and Practice, Especially in Secondary Education in the United States* (Science and Culture Series). Bruce Publishing Company, Milwaukee, Wis., 1932.

Marcuse, Ludwig. *Ignatius von Loyola.* Amsterdam, 1935.

Nonell, Jaime. *Analyse des Exercices Spirituelles de S. Ignace de Loyola*, traduit de l'espagnol par Eugène Thibaut (Museum Lessianum. Section ascétique et mystique, 17). Bruges, 1924.

Schneider, Friedrich. *Die Selbsterziehung; Wissenschaft und Uebung.* Koln, 1936.

Schwickerath, Robert. *Jesuit Education; Its History and Principles Viewed in the Light of Modern Educational Problems.* B. Herder, St. Louis, Mo., 1903.

Sedgwick, Henry Dwight. *Ignatius Loyola; An Attempt at an Impartial Biography.* The Macmillan Company, New York, 1923.

Van Dyke, Paul. *Ignatius Loyola, the Founder of the Jesuits.* Charles Scribner's Sons, New York, 1926.

Zarncke, Lilly. *Die Exercitia Spiritualia des Ignatius von Loyola in ihren geistesgeschichtlichen Zusammenhangen* (Schriften des Vereins für Reformationsgeschichte, Jahrg. 39, Heft 1, No. 151). Leipzig, 1931.

5. Montaigne

Montaigne, Michel Eyquem de. *Oeuvres Complètes.* 7 vols. Paris, 1924–1928.

—— *De l'Institution des Enfants*, édition critique par G. Michaut. Paris, 1924.

—— *The Education of Children*, translated by L. E. Rector (International Education Series, No. 46). D. Appleton and Company, New York, 1899.

—— *Montaigne, über die Erziehung der Kinder*, aus dem französischen Text von 1595, übersetzt von Ludwig Wattendorff (Sammlung der bedeutendsten padagogischen Schriften aus alter und neuer Zeit, 17. Band). Paderborn, 1894.

—— *Selections from Montaigne*, edited with Notes by C. H. Conrad Wright (Heath's Modern Language Series). D. C. Heath and Company, Boston, 1914.

Bond, Richard Warwick. *Montaigne; a Study.* Oxford University Press, New York, 1907.

Compayré, Gabriel. *Montaigne and Education of the Judgment*, translated by J. E. Mansion. T. Y. Crowell and Company, New York, 1908.

Dowden, Edward. *Michel de Montaigne* (French Men of Letters). J. B Lippincott Company, New York, 1905.
Emerson, Ralph Waldo. *Representative Men*, in *Works*, New Centenary Edition, Vol. iv. Houghton Mifflin Company, Boston, 1903–1904.
Favre, Mme. Jules. *Montaigne: Moraliste et Pédagogue.* Paris, 1887.
Gaillard, Robert. *La Pédagogie de Montaigne à Rousseau* (Collection "Savoir et Enseigner"). Paris, 1938.
Jeudy, Raoul. *De l'Éducation dans Rabelais et dans Montaigne* (Conférence Franklin). Paris, 1874.
Lowndes, Mary E. *Michel de Montaigne; Biographical Study.* Oxford University Press, New York, 1909.
Moreau, Pierre. *Montaigne: l'Homme et l'Oeuvre* (Le livre de l'étudiant, 4). Paris, 1939.
Plattard, Jean. *Montaigne et son Temps.* Paris, 1933.
Porteau, Paul. *Montaigne et la Vie Pédagogique de son Temps.* Paris, 1935.
Prevost, Jean. *La Vie de Montaigne* (Vies des hommes illustres, No. 4). Paris, 1926.
Strowski, Fortunat. *Montaigne.* 2me édition (Les grands philosophes). Paris, 1931.
Tauro, Giacomo. *Montaigne* (Biblioteca pedagogica antica e moderna italiana e straniera, 52). Milano, 1928.
Thiele, Ernst A. *Montaigne und Locke, ihre Stellung zur Erziehung zur Selbsttätigkeit.* Leipzig, 1920.
Thuasme, Louis. *Études sur Rabelais* (Bibl. Littéraire de la Renaissance, v). Paris, 1904.
Villey, Pierre. *L'Influence de Montaigne sur les Idées Pédagogiques de Locke et de Rousseau.* Paris, 1911.

THE NEW METHOD OF THINKING

1 General

Bodin, Jean. *De la Démonomanie des Sorciers.* Paris, 1580.
Copernicus, Nicolaus. *De Revolutionibus Orbium Coelestium, Libri vi.* Nürnberg, 1543.
—— *On the Revolutions of the Celestial Spheres*, translated by Charles Glenn Wallis. 3 vols., mimeographed (Classics of the St. John's Program) St. John's Book Store, Annapolis, Md , 1939.
Duhem, Pierre. *Études sur Léonard de Vinci.* Troisième série (Les précurseurs Parisiens de Galilée). Paris, 1913.
Kingsley, Charles. *Historical Lectures and Essays*, pp. 335–358: "Vesalius, the Anatomist." London, 1889.
Moody, Ernest A. "John Buridan on the Habitability of the Earth," in *Speculum, a Journal of Mediaeval Studies* for October, 1941, Vol. XVI, pp. 415–425.

Morley, Henry. *Clement Marot and Other Studies*, Vol. II, pp. 65–96: "Andreas Vesalius." London, 1871.

Olschki, Leonardo. *Galilei und seine Zeit* (Geschichte der neusprachlichen wissenschaftlichen Literatur, 3). Halle (Saale), 1927.

Randall, John Herman. *The Making of the Modern Mind; A Survey of the Intellectual Background of the Present Age*. Revised edition. Houghton Mifflin Company, Boston, 1940.

Salusbury, Thomas. *Mathematical Collections and Translations*. 2 parts. London, 1661.

Vesalius, Andreas. *De Humani Corporis Fabrica Libri Septem*. Basel, 1543.

Wohlwill, Emil. *Galilei und sein Kampf für die Copernikanische Lehre*. 2 vols. Hamburg, 1909–1926.

2. Francis Bacon

Bacon, Francis: *Works*, with a life of the author by Basil Montagu. 3 vols Philadelphia, 1842.

—— *Works*, collected and edited by James Spedding, Robert L. Ellis, and Douglas D. Heath. 15 vols. Houghton Mifflin Company, Boston, 1904.

—— *The Advancement of Learning*, edited by William Aldis Wright. 5th edition. Oxford University Press, New York, 1920.

—— *Essays: Advancement of Learning, New Atlantis, and Other Pieces*, edited by Richard Foster Jones. Doubleday, Doran and Company, Garden City, N. Y., 1937.

—— *Novum Organum and Advancement of Learning*, edited by Joseph Devey. The Macmillan Company, New York, no date.

—— *Philosophical Works*, with Notes by Robert L. Ellis and James Spedding, edited by J. M. Robertson. E. P. Dutton and Company, New York, 1905.

—— *Selections*, edited by Matthew Thompson McClure (Modern Student's Library). Charles Scribner's Sons, New York, 1928.

Balfour, Arthur James. *The Mind of Arthur James Balfour; Selections from His Non-Political Writings, Speeches, and Addresses, 1879–1917, including Special Sections on America and Germany*, selected and arranged by Wilfrid M. Short, pp. 32–36, "Bacon." Doubleday, Doran and Company, Garden City, N. Y., 1918.

Burtt, Edwin A., editor. *The English Philosophers from Bacon to Mill* (Modern Library Giants). Modern Library, Inc., New York, 1939.

Church, Richard William. *Francis Bacon* (English Men of Letters). The Macmillan Company, New York, 1906.

Levine, Israel. *Francis Bacon (1561–1626)* (Roadmakers Series). Small, Maynard and Company, Boston, 1925.

Lupton, Rev. Joseph H. *Life of John Colet*. The Macmillan Company, New York, 1909.

Rossi, Mario Manlio. *Saggio su Francesco Bacon*. Napoli, 1935.

Spedding, James. *An Account of the Life and Times of Lord Bacon.* 2 vols. Houghton Mifflin Company, Boston, 1911.

Steegmüller, Francis (Byron Steel, pseud.). *Sir Francis Bacon, the First Modern Mind.* Doubleday, Doran and Company, Garden City, N. Y., 1930.

Steeves, George Walter. *Francis Bacon; A Sketch of His Life, Works and Literary Friends.* Methuen and Company, Ltd., London, 1910.

Sturt, Mary. *Francis Bacon, a Biography.* William Morrow and Company, New York, 1932.

Tinivella, Giovanni. *Bacone e Locke; Dottrina e Critica* (Piccola Biblioteca di Scienze moderne, 435). Milano, 1939.

Williams, Charles. *Bacon.* Harper and Brothers, New York, 1934.

Wolff, Emil. *Francis Bacon und seine Quellen.* 2 vols. (Literarhistorische Forschungen. Heft xl–lii). Berlin, 1910–1913.

Woodward, Parker *Sir Francis Bacon, Poet—Philosopher—Statesman—Lawyer—Wit.* Grafton and Company, London, 1920.

3. René Descartes

Descartes, René: *Oeuvres et Lettres,* textes présentés par André Bridoux (Bibliothèque de la Pléiade, 40). Paris, 1937.

—— *Discourse on the Method of Rightly Conducting the Reason and Seeking Truth in the Sciences,* translated from the French by John Veitch (Religion and Science Library). Open Court Publishing Company, Chicago, 1908.

—— *A Discourse on Method and Meditation on the First Philosophy* (Everyman's Library). E. P. Dutton and Company, New York, 1912.

—— *The Meditations and Selections from the Principles of Philosophy,* translated from the Latin by John Veitch (Religion and Science Library). Open Court Publishing Company, Chicago, 1914.

—— *The Philosophical Works of Descartes,* rendered into English by Elizabeth S. Haldane and G. R. T. Ross. 2 vols. The Macmillan Company, New York, 1911–1912.

—— *The Philosophy of Descartes,* selected and translated by H. A. P. Torrey. Henry Holt and Company, New York, 1892.

—— *Selections,* edited by Ralph M. Eaton (Modern Student's Library). Charles Scribner's Sons, New York, 1927.

Adam, Charles Ernest. *Descartes; sa Vie et son Oeuvre.* Paris, 1937.

Boorsch, Jean. *État Présent des Études sur Descartes* (Études françaises, 39me cahier). Paris, 1937.

Cassirer, Ernst. *Descartes; Lehre, Personlichkeit, Wirkung.* Stockholm, 1939.

Ganguli, Sanjiban. *Descartes; an Outline of His Philosophy.* Bombay, 1900.

Gibson, Alexander Boyce. *The Philosophy of Descartes.* E. P. Dutton and Company, New York, 1932.

Haldane, Elizabeth Sanderson. *Descartes, His Life and Times.* E. P. Dutton and Company, New York, 1905.

Keeling, Stanley Victor. *Descartes* (Leaders of Philosophy Series). Oxford University Press, New York, 1934.

Koyre, Alexandre. *Descartes und die Scholastik.* Bonn, 1923.

Maritain, Jacques. *Three Reformers: Luther, Descartes, Rousseau.* Charles Scribner's Sons, New York, 1929.

Mellone, Sydney Herbert. *The Dawn of Modern Thought: Descartes, Spinoza, Leibniz,* with an Introductory Note by W. D. Ross. Oxford University Press, New York, 1930.

Moorman, Richard Herbert. *Some Educational Implications of Descartes' Synthesis of Mathematics and Philosophy* (Abstract of Contribution to Education, No. 278). George Peabody for Teachers, Nashville, Tenn., 1940.

4. Galileo Galilei

Galilei, Galileo: *Opere* Edizione Nazionale. 20 vols. Firenze, 1890–1909.

—— "The Ancient and Modern Doctrine of Holy Fathers, and Judicious Divines, Concerning the Rash Citation of the Testimony of Sacred Scripture, in Conclusions Merely Natural, and That May Be Proved by Sensible Experiments and Necessary Demonstrations," written to Christina Lotharinga, Arch-Duchess of Tuscany; rendered into English from the Italian by Thomas Salusbury, in Thomas Salusbury's *Mathematical Collections and Translations,* Part I, pp. 426–460. London, 1661.

—— *Galilei a Madama Christina di Lorena (1615).* Padova, 1896–1897.

—— *The Private Life of Galileo, Compiled Principally from His Correspondence and That of His Eldest Daughter, Sister Maria Celeste.* London, 1870.

Taylor, Frank Sherwood. *Galileo and the Freedom of Thought* (Library of Science and Culture). C. A. Watts and Company, Ltd., London, 1938.

THE AWAKENING OF THE MIDDLE CLASS SPIRIT

Adamson, John William. *Pioneers of Modern Education, 1600–1700* (Contributions to the History of Education). The Macmillan Company, New York, 1921.

Ballou, Richard B. "The Commonwealth Educators—Puritan Progressives," in *Harvard Educational Review* for May, 1941, pp. 301–318.

Buisson, F., editor. *Nouveau Dictionnaire de Pédagogie et l'Instruction Primaire.* Paris, 1911.

Christoph, Karl. *Wolfgang Ratkes [Ratichius] pädagogisches Verdienst.* Leipzig, 1892.

Démia, Charles. *Réglemens pour les Écoles de la Ville et Diocèse de Lyon.* Lyon, no date.

—— *Rémonstrances à Messiers les Prévots des Marchants, Écheвins et Principaux Magistrats de la Ville de Lyon Touchant à la Nécessité des Écoles pour l'Instruction des Enfants Pauvres,* 1668.

Durie, John *The Reformed Librarie-Keeper*, with a supplement to *The Reformed School*. London, 1650.
—— *The Reformed School*, printed by R. D. for Richard Wodnothe at the Star under S. Peter's Church in Corn-hill. No date.
—— *The Reformed School*, edited with additions by S. Hartlib. London, 1649(?).
[Faillon, Abbé Étienne Michel]. *Vie de M. Démia, Instituteur des Soeurs de S. Charles, Suivie de l'Ésprit de cet Institut et d'une Histoire Abregée de S. Charles Borromée* Lyon, 1829.
Francke, August Hermann. *Padagogische Schriften. Nebst der Darstellung seines Lebens und seiner Stiftungen*, herausgegeben von D. G. Kramer, 2. Ausgabe (H. Beyer's Bibliothek pädagogischer Klassiker). Langensalza, 1885.
—— *Schriften über Erziehung und Unterricht*, bearbeitet von Karl Richter (Pädagogische Bibliothek, v–vi). Leipzig, 1871–1872.
Guilbert, T. *Histoire de S. Jean Baptiste de Lasalle*. Paris, 1901.
Holborn, Louise W. "Printing and the Growth of a Protestant Movement in Germany from 1517–1524," in *Church History* for June, 1942, Vol. XI, No. 2.
Leach, Arthur Francis. *English Schools at the Reformation, 1546–1548*. Westminster, 1896.
Milton, John. *Milton on Education, the Tractate of Education, with Supplementary Extracts from Other Writings of Milton*, edited with an Introduction and Notes by Oliver Morley Ainsworth (Cornell Studies in English, 12). Cornell University Press, Ithaca, New York, 1928.
—— *Of Education. To Master Samuel Hartlib*. London, 1644.
New England's First Fruits; in Respect, First of the Conversion of Some Indians. Second, of the Progresse of Learning, in the Colledge at Cambridge in Massacusets Bay. London, 1643.
New England's First Fruits, with Divers Other Special Matters Concerning That Country (Sabin's Reprints, Quarto Series, No. VII). New York, 1865.
Petty, Sir William. *The Advice of W. P. to Mr. Samuel Hartlib for the Advancement of Some Particular Parts of Learning*. London, 1648.
Seiler, Karl. *Das padagogische System Wolfgang Ratkes*. Erlangen, 1931.
Stahl, Herbert. *August Hermann Francke; der Einfluss Luthers und Molinos auf ihn* (Forschungen zur Kirchen- und Geistesgeschichte, 16). Stuttgart, 1939.
Watson, Foster. *The Beginning of the Teaching of Modern Subjects in England*. London, 1909.
—— *Encyclopaedia and Dictionary of Education*. 4 vols. Sir Isaac Pitman and Sons, New York, 1921–1922.
—— *The Old Grammar Schools* (Cambridge Manuals of Science and Literature). The Macmillan Company, New York, 1917.

Comenius, Johann Amos: *Opera Didactica Omnia.* 4 vols. in 1. Amsterdam, 1657.

—— *Ausgewahlte Schriften* in *Comenius Werke*, ii. Band, aus dem Lateinischen übersetzt von Julius Beger und J. Leutbecker (Pädagogische Bibliothek, Band xi). Leipzig, 1874(?).

—— *Ausgewahlte Schriften zur Reform in Wissenschaft, Religion und Politik.* Leipzig, 1924.

—— *Comenius*, edited and translated by Maurice W. Keatinge. McGraw-Hill Book Company, New York, 1931.

—— *De Rerum Humanarum Emendatione Consultatio Catholica*, Part I: *Panegersia, Excitatorium Universale.* Amsterdam, 1666.

—— *The Great Didactic*, translated into English and edited by M. W. Keatinge, 2 vols. A. and C. Black, Ltd., London, 1921–1923.

—— *Janua Linguarum Reserata: sive Omnium Scientiarum et Linguarum* (*The Gate of Languages Unlocked*). London, 1650.

—— *The Labyrinth of the World and the Paradise of the Heart*, translated by Matthew Spinka. National Union of Czechoslovak Protestants in America, Chicago, 1942.

—— *Orbis Sensualium Pictus*, herausgegeben von Johannes Kühnel. Leipzig, 1910.

—— *Pansophiae Prodromus*, ei, quae nova hac editione accesserint, indicat praefatio Samuel Hartlib. London, 1639.

—— *School of Infancy*, edited with an Introduction by Will S. Monroe. D. C. Heath and Company, Boston, 1908.

—— *The Way of Light* (*Via Lucis*), translated into English by E. T. Compagnac. University Press of Liverpool, 1939.

Beisswanger, Gustav. *Comenius als Pansophist.* Stuttgart, 1904.

Cohen, Gustave. *Écrivains Français en Hollande dans la Première Moitié du xviie Siècle* (Bibliothèque de la Revue de Littérature Comparé). Paris, 1920.

Gindely, Anton. *Ueber des Johann Amos Comenius Leben und Wirksamkeit*, 2. neubearb. Aufl. (Comenius Studien, Heft 6). Znaim, 1892.

Hanus, Paul Henry. *Educational Aims and Educational Values.* The Macmillan Company, New York, 1899.

Heyberger, Anna. *Jean Amos Comenius (Komenský), sa Vie et son Oeuvre d'Éducateur* (Traveux publiés par l'Institut d'Études Slaves, VII). Paris, 1928.

Hoffmeister, Hermann Wilhelm. *Comenius und Pestalozzi als Begrunder der Volksschule.* 2. verb. Aufl. Leipzig, 1896.

[Jakubec, Jan.] *Johannes Amos Comenius.* Prague, 1928.

Kvačala, Jan. *J. A. Comenius* (Die grossen Erzieher, vi). Berlin, 1914.

—— *Die padagogische Reform des Comenius in Deutschland bis zum Ausgange des xvii. Jahrhunderts*, 2 vols. (Monumenta Germaniae Pädagogica, 26, 32). Berlin, 1903–1904.

Lang, Ossian Herbert. *Comenius His Life and Principles of Education.* A. Flanagan Company, Chicago, no date.
Matthews, Albert. *Comenius and Harvard College.* Reprinted from the publications of the Colonial Society of Massachusetts, Vol XXI, pp. 146–190. J. Wilson and Company, Cambridge, 1919.
Monroe, Will Seymour. *Comenius, and the Beginnings of Educational Reform* (Great Educators). Charles Scribner's Sons, New York, 1900.
Needham, Joseph, editor. *Teacher of Nations; Addresses and Essays in Commemoration of the Visit to England of the Great Czech Educationalist Jan Amos Komenský, Comenius, 1641–1941,* by Eduard Beneš and Others, with a Chronological Table showing the events in the life of Comenius by R. Fitzgibbon Young, and a Select Bibliography of the works of Comenius by Anna Heyberger (translated by Corinne Barham). The Macmillan Company, New York, 1943.
Odložilík, Otakar. *Jan Amos Komenský (Comenius), in Commemoration of the 350th Anniversary of Comenius' Birthday.* Czechoslovak National Council of America, Chicago, 1942.
Sarton, George. "Comenius Redivivus," in *Isis* for August, 1939, No. 82, Vol. XXX, 3, pp. 425–451. The Saint Catherine Press, Ltd., Bruges.
Turnbull, George Henry. *Samuel Hartlib, a Sketch of His Life and His Relations to J. A. Comenius.* Oxford University Press, New York, 1920.
Vrbka, Anton. *Leben und Schicksale des Johann Amos Comenius.* Znaim, 1892.
Wright, C. G *Comenius and the Church Universal.* London, 1941.
Young, Robert Fitzgibbon. *Comenius and the Indians of New England* (School of Slavonic and East European Studies). University of London, 1929.
—— *Comenius in England: The Visit of Jan Amos Komenský to London, 1641–42; Its Bearing on the Origins of the Royal Society, on the Development of the Encyclopaedia, and on Plans for the Higher Education of the Indians of New England and Virginia.* Oxford University Press, New York, 1932.

JOHN LOCKE

Locke, John: *Works.* 10 vols. London, 1823.
—— *Works,* new edition Ward, Lock and Company, New York, 1899.
—— *Educational Writings,* edited by John William Adamson. The Macmillan Company, New York, 1913.
—— *Selections,* edited by Sterling P. Lamprecht (Modern Student's Library). Charles Scribner's Sons, New York, 1928.
—— *Some Thoughts Concerning Education,* with Introduction and Notes by R. H. Quick. The Macmillan Company, New York, 1904.
Aaron, Richard Ithamar. *John Locke* (Leaders of Philosophy Series). Oxford University Press, New York, 1937.

Anderson, Fulton Henry. *The Influence of Contemporary Science on Locke's Method and Results* (University of Toronto Studies, Philosophy, v. ii, No. 1). University of Toronto Library, 1923.

Bourne, Henry Richard Fox. *The Life of John Locke.* 2 vols. New York, 1876.

Christophersen, Hans Oskar. *A Bibliographical Introduction to the Study of John Locke* (Skrifter utgitt av Det Norske Videnskaps Akademi i Oslo. ii. Hist-Filos. Klasse, 1930, No. 8). Oslo, 1930.

Fowler, Thomas. *Locke* (English Men of Letters). The Macmillan Company, New York, 1906.

Franck, Adolph. *Réformateurs et Publicistes de l'Europe; Dix-huitième Siècle.* Paris, 1893.

Gibson, James. *John Locke* (British Academy Annual Lecture on a Master Mind. Henriette Hertz Trust, 1933). Oxford University Press, New York, 1933.

—— *Locke's Theory of Knowledge and Its Historical Relations.* The Macmillan Company, New York, 1917.

Gitschmann, Wilhelm. *Die Padagogik des John Locke; historisch und psychologisch beleuchtet.* Kothen, 1881.

Hefelbower, Samuel Gring. *The Relation of John Locke to English Deism.* University of Chicago Press, 1918.

Hoyler, August. *Gentleman-Ideal und Gentleman-Erziehung mit besonderer Berücksichtigung der Renaissance* (Erziehungsgeschichtliche Untersuchungen, 1). Leipzig, 1933.

Huxley, Thomas Henry *Lectures and Lay Sermons* (Everyman's Library). E. P. Dutton and Company, New York, 1910.

—— *On the Educational Value of the Natural Sciences.* London, 1854.

Jordan, Wilbur K. *The Development of Religious Toleration in England; Attainment of the Theory and Accommodations in Thought and Institutions (1640–1660).* Harvard University Press, Cambridge, Mass., 1941.

King, Peter King. *The Life of John Locke with Extracts from His Correspondence, Journals, and Common-place Books.* 2 vols. H. Colburn, London, 1830.

—— *The Life of John Locke.* H. Colburn, London, 1829.

Macaulay, Thomas Babington Macaulay, Baron. *The History of England from the Accession of James the Second,* edited by Charles Harding Firth. 6 vols. The Macmillan Company, New York, 1913–1915.

Mack, Edward Clarens. *Public Schools and British Opinion, 1780–1860* (Studies in English and Comparative Literature, No. 142). Columbia University Press, New York, 1939.

—— *Public Schools and British Opinion since 1860.* Columbia University Press, New York, 1941.

Mann, Horace. "Seventh Annual Report of the Secretary of the Board of Education, Massachusetts, January, 1844," reprinted in *The Common School Journal,* 1844, Vol. VI, No. 5–12.

Norwood, Cyril. *The English Tradition of Education.* E. P. Dutton and Company, New York, 1930.

Smith, Norman Kemp. *John Locke (1632–1704); the Adamson Lecture for 1932.* Manchester University Press, Manchester, England, 1933.

Spencer, Herbert. *Education: Intellectual, Moral, and Physical.* D. Appleton and Company, New York, 1927.

—— *Essays on Education and Kindred Subjects* (Everyman's Library). E. P. Dutton and Company, New York, 1911.

Tellkamp, A. *Das Verhaltnis John Lockes zur Scholastik* (Veroffentlichungen des Katholischen Institutes für Philosophie, Albertus-Magnus Akademie zu Koln, II, 2). Münster in W., 1927.

Thayer, Vivian Trow. *Misinterpretation of Locke as a Formalist in Educational Philosophy* (Studies in the Social Sciences and History, No. 3). University of Wisconsin, Madison, 1921.

Trevelyan, George Macaulay. *History of England.* New and enlarged edition. Longmans, Green and Company, New York, 1937.

Villey, Pierre. *L'Influence de Montaigne sur les Idées Pédagogiques de Locke et de Rousseau.* Paris, 1911.

Vives, Juan Luis. *Concerning the Relief of the Poor; or, Concerning Human Needs,* translated by Margaret M. Sherwood (Studies in Social Work, No. 11). New York School of Social Work, 1917.

—— *De Subventione Pauperum, libri II.* Lyon, 1526.

Wingfield-Stratford, Esme. *The Making of a Gentleman.* Williams and Norgate, Ltd., London, 1938.

JEAN JACQUES ROUSSEAU

Rousseau, Jean Jacques. *Oeuvres Complètes.* 13 vols. Paris, 1909–1912.

—— *Confessions.* 2 vols. (Everyman's Library). E. P. Dutton and Company, New York, 1931.

—— *Discourse sur l'Origine et les Fondements de l'Inégalité parmi les Hommes.* Amsterdam, 1755.

—— *A Discourse upon the Origin and Foundation of the Inequality among Mankind.* London, 1761.

—— *A Discourse Which Got the Premium at the Academy of Dijon, on the Question, Whether the Revival of the Arts and Sciences Has Contributed to Render Our Manners Pure,* translated from the French. London, 1760.

—— *Émile; or, Education,* translated by Barbara Foxley (Everyman's Library). E. P. Dutton and Company, New York, 1911.

—— *Minor Educational Writings,* selected and translated by William Boyd (Blackie's Library of Pedagogics). London, 1911.

—— *The Social Contract, and Discourses* (Everyman's Library). E. P. Dutton and Company, New York, 1914.

—— *Vie et Oeuvres,* avec des notes explicatives, par Albert Schinz (Heath's Modern Language Series). D. C. Heath and Company, Boston, 1921.

[André, Abbé.] *Réfutation du Nouvel Ouvrage de J. J Rousseau, Intitulé: Émile, ou de l'Éducation.* Paris, 1762.
Boyd, William. *The Educational Theory of Jean Jacques Rousseau.* Longmans, Green and Company, New York, 1911.
Cajot, Joseph. *Les Plagiats de M. J. J. R. de Genève sur l'Éducation*, par D. J. C. B. La Haye, 1766.
Carrare, Vincenza *J. J. Rousseau ed il Principio della sua Pedagogia.* Firenze, 1926.
Censure de la Faculté de Théologie de Paris, contre le Livre qui a pour Titre, Émile ou de l'Éducation. Paris, 1762.
Champion, Edme. *J. J. Rousseau et la Révolution Française.* Paris, 1909.
Charpentier, John. *Jean-Jacques Rousseau ou le Democrate par Dépit.* 2e édition. Paris, 1931.
—— *Rousseau, the Child of Nature*, translated from the French by Margaret MacVeagh. Dial Press, New York, 1931.
Compayré, Gabriel. *Jean Jacques Rousseau and Education from Nature*, translated by R. P. Jago. T. Y. Crowell and Company, New York, 1907.
Davidson, Thomas. *Rousseau and Education According to Nature* (Great Educators). Charles Scribner's Sons, New York, 1898
Formey, Jean Henri Samuel. *Anti-Émile.* Berlin, 1763.
Gaillard, Robert. *La Pédagogie de Montaigne à J. J. Rousseau* (Collection "Savoir et Enseigner"). Paris, 1938.
[Gerdil, Giacinto Sigismondo, Cardinal.] *Réflexions sur la Théorie et la Pratique de l'Éducation contre les Principes de M. Rousseau.* Turin, 1763.
Hendel, Charles William. *Jean-Jacques Rousseau, Moralist.* 2 vols. Oxford University Press, New York, 1934
Josephson, Matthew. *Jean-Jacques Rousseau.* Harcourt, Brace and Company, New York, 1931.
Leser, Hermann. *Das padagogische Problem in der Geistesgeschichte der Neuzeit.* 2 vols. Munchen, 1925–1928
Macdonald, Frederika. *Jean Jacques Rousseau; a New Criticism.* 2 vols. G. P. Putnam's Sons, New York, 1906.
—— *Studies in the France of Voltaire and Rousseau.* London, 1895.
Maritain, Jacques. *Three Reformers Luther, Descartes, Rousseau.* Charles Scribner's Sons, New York, 1929.
Maugras, Gaston. *Querelles de Philosophes; Voltaire et J. J. Rousseau.* Paris, 1886.
Morley, John Morley, 1st Viscount. *Rousseau and His Era.* 2 vols The Macmillan Company, New York, 1923.
Mowat, Robert Balmain. *Jean-Jacques Rousseau.* J. W. Arrowsmith, Ltd., Bristol, England, 1938.
Nourrisson, Jean Felix. *J. J. Rousseau et le Rousseauisme.* Paris, 1903.
Pons, Jacques. *L'Éducation en Angleterre entre 1750 et 1800. Aperçu sur l'Influence Pédagogique de J. J. Rousseau en Angleterre.* Paris, 1919.

Proal, Louis. *La Psychologie de Jean Jacques Rousseau* (Bibliothèque de philosophie contemporaine). Paris, 1923.

Sakmann, Paul. *Jean Jacques Rousseau* (Die grossen Erzieher, v). Berlin, 1913.

[Schinz, Albert.] *Bibliographie Critique de Jean Jacques Rousseau dans les Cinq Dernières Années.* [Baltimore, 1926.]

Schmid, Karl Adolf. *Geschichte der Erziehung vom Anfang an bis auf unsere Zeit* 5 vols. in 7. Stuttgart, 1884–1902.

Tarozzi, Giuseppe. *Gian Giacomo Rousseau*, 2a ed. (Profili, 32). Roma, 1926.

Vallette, Gaspard. *Jean-Jacques Rousseau, Genévois.* Paris, 1911.

Vauquelin, Robert. *Les Origines de la Psychologie Pédagogique de Rousseau à Kant* (Thèse complémentaire). Paris, 1934.

Vial, Francisque. *La Doctrine d'Éducation de J. J. Rousseau.* Paris, 1920.

Villey, Pierre *L'Influence de Montaigne sur les Idées Pédagogiques de Locke et de Rousseau.* Paris, 1911.

Voltaire, François Marie Arouet de. *Oeuvres Complètes*, nouv. éd. 52 vols. Paris, 1877–1885.

Vulliamy, Colwyn Edward (Anthony Rolls, pseud.). *Rousseau; the Story of His Amazing Life and His Philosophy.* Geoffrey Bles, Ltd., London, 1931.

Wright, Ernest Hunter. *The Meaning of Rousseau.* Oxford University Press, New York, 1929.

BENJAMIN FRANKLIN

Franklin, Benjamin: *Works, Containing Several Political and Historical Tracts*, with Notes and a Life of the author by Jared Sparks 10 vols. Hilliard, Gray and Company, Boston, 1840.

—— *The Works of Benjamin Franklin, Including the Private as Well as the Official and Scientific Correspondence Together with the Unmutilated and Correct Version of His Autobiography*, compiled and edited by John Bigelow. 12 vols New York, 1904.

—— *Writings*, Federal Edition, edited by John Bigelow. 12 vols. G. P Putnam's Sons, New York, 1907.

—— *The Writings of Benjamin Franklin*, collected and edited with a Life and Introduction by Albert Henry Smyth. 10 vols. The Macmillan Company, New York, 1905–1907.

—— *Benjamin Franklin: Representative Selections*, with Introduction, Bibliography, and Notes by Frank Luther Mott and Chester E Jorgenson (American Writers Series). American Book Company, New York, 1936.

Bruce, William C. *Benjamin Franklin, Self-revealed; a Biographical and Critical Study Based Mainly on His Own Thought.* 2 vols. G. P. Putnam's Sons, New York, 1917.

De la Fontainerie, François, translator and editor. *French Liberalism and Education in the Eighteenth Century: The Writings of La Chalotais,*

Turgot, Diderot and Condorcet on National Education. McGraw-Hill Book Company, New York, 1932.
Eliot, Charles William. *Four American Leaders.* American Unitarian Association (The Beacon Press), Boston, 1906.
Faÿ, Bernard. *Franklin, the Apostle of Modern Times,* English version prepared by Bravig Imbs. Little, Brown and Company, Boston, 1929.
Fisher, Sydney G. *The True Benjamin Franklin.* J. B. Lippincott Company, New York, 1899.
Ford, Paul Leicester, compiler. *Franklin Bibliography.* Historical Printing Club, Brooklyn, 1889.
—— *The Many-Sided Franklin.* Century Company, New York, 1899.
Hansen, Allen O. *Liberalism and American Education in the Eighteenth Century,* with an Introduction by Edward H. Reisner. The Macmillan Company, New York, 1926.
Holley, Orville Luther. *Life of Benjamin Franklin.* New York, 1848.
More, Paul Elmer. *Benjamin Franklin* (Riverside Biographical Series, No. 3). Houghton Mifflin Company, Boston, 1900.
Morse, John Torrey. *Benjamin Franklin* (American Statesmen). Houghton Mifflin Company, Boston, 1923.
New York Public Library. *List of Works in the New York Public Library by or Relating to Benjamin Franklin.* New York, 1906.
Parton, James. *Benjamin Franklin.* 2 vols. Houghton Mifflin Company, Boston, 1914.
Petty, Sir William. *Five Essays in Political Arithmetick.* London, 1687.
—— *Natural and Political Observations upon the Bills of Mortality* London, 1662.
—— *Political Arithmetick, or, A Discourse Concerning the Extent and Value of Lands, People, Buildings.* London, 1690.
Rosengarten, Joseph George. *Franklin and the University.* Printed by the author, Philadelphia, 1906.
Russell, Phillips. *Benjamin Franklin, the First Civilized American.* Brentano's, New York, 1926.
Scudder, Evarts Seelye. *Benjamin Franklin; a Biography.* William Collins Sons and Company, Ltd., New York, 1939.
Smith, William. *Eulogium on Benjamin Franklin.* Philadelphia, 1792.
Smythe, John Henry, compiler and editor. *The Amazing Benjamin Franklin.* Frederick A. Stokes Company, New York, 1929.
Swift, Lindsay. *Benjamin Franklin* (Beacon Biographies of Eminent Americans). Small, Maynard and Company, Boston, 1910.
Thorpe, Francis Newton, editor. *Benjamin Franklin and the University of Pennsylvania* (Circular of Information, 1892, No. 2). United States Bureau of Education, Washington, D. C., 1893.
—— *Franklin's Influence in American Education.* United States Bureau of Education, Washington, D. C., 1903.

Van Doren, Carl. *Benjamin Franklin.* Garden City Publishing Company, Garden City, N. Y., 1941.

Woody, Thomas, editor. *Educational Views of Benjamin Franklin.* McGraw-Hill Book Company, New York, 1931.

THOMAS JEFFERSON

Jefferson, Thomas· *The Writings of Thomas Jefferson,* edited by Albert Ellery Bergh. 20 vols. in 10. The Thomas Jefferson Memorial Association, Washington, D. C., 1907.

—— *Democracy,* selected and arranged with an Introduction by Saul K. Padover. D. Appleton-Century Company, New York, 1939.

Adams, Herbert Baxter. *Thomas Jefferson and the University of Virginia* (Contributions to American Educational History, No. 2). Washington, D. C., 1888.

Adams, James Truslow. *The Living Jefferson.* Charles Scribner's Sons, New York, 1936.

Alexander Hamilton and Thomas Jefferson, Representative Selections, with Introduction, Bibliography and Notes by Frederick C. Prescott. American Book Company, New York, 1934.

Arrowood, Charles Flinn, editor. *Thomas Jefferson and Education in a Republic.* McGraw-Hill Book Company, New York, 1930.

Bruce, Philip Alexander. *History of the University of Virginia, 1819–1919, the Lengthened Shadow of one Man.* Centennial Edition. 5 vols. The Macmillan Company, New York, 1920.

Carter, James Coolidge. *The University of Virginia. Jefferson, Its Father, and His Political Philosophy. An Address.* The University of Virginia, Charlotteville, 1898.

Chinard, Gilbert *Thomas Jefferson, the Apostle of Americanism.* 2d edition revised. Little, Brown and Company, Boston, 1939.

Danvers, John Thierry. *A Picture of a Republican Magistrate of the New School* New York, 1808.

De la Fontainerie, François, translator and editor. *French Liberalism and Education in the Eighteenth Century; The Writings of La Chalotais, Turgot, Diderot and Condorcet on National Education.* McGraw-Hill Book Company, New York, 1932.

Henderson, John Cleaves. *Thomas Jefferson's Views on Public Education.* G. P. Putnam's Sons, New York, 1890.

Hirst, Francis Wrigley. *Life and Letters of Thomas Jefferson.* The Macmillan Company, New York, 1926.

Holway, Mrs. Hope (Kerr). *Radicals of Yesterday; Great American Tradition* (Co-operative Books, Ser. II, No. 5). Co-operative Books, Norman, Okla., 1941.

Honeywell, Roy J. *The Educational Work of Thomas Jefferson* (Harvard Studies in Education, Vol. 16). Harvard University Press, Cambridge, Mass., 1931.

Koch, Adrienne. *The Philosophy of Thomas Jefferson* (Woodbridge Prize Essay, 1942–1943. Columbia Studies in American Culture, No. 14). Columbia University Press, New York, 1943.

Mellen, George Frederick. "Thomas Jefferson and Higher Education," in *New England Magazine* for July, 1902.

Minnigerode, Meade. *Jefferson, Friend of France, 1793. The Career of Edmond Charles Genet, Minister Plenipotentiary from the French Republic to the United States, as Revealed by His Private Papers, 1763–1834.* G. P. Putnam's Sons, New York, 1928.

Morse, John Torrey. *Thomas Jefferson* (American Statesmen). Houghton Mifflin Company, Boston, 1923.

Muzzey, David Saville. *Thomas Jefferson* (Figures from American History). Charles Scribner's Sons, New York, 1918.

Nock, Albert Jay. *Jefferson.* Harcourt, Brace and Company, New York, 1926.

Padover, Saul Kussiel. *Jefferson.* Harcourt, Brace and Company, New York, 1942.

Smith, David Eugene. *The Poetry of Mathematics, and Other Essays* (Scripta Mathematica Library, No. 1). Scripta Mathematica, Yeshiva College, New York, 1934.

Thomas, Elbert Duncan. *Thomas Jefferson, World Citizen.* Modern Age Books, Inc., New York, 1942.

Vossler, Otto. *Die Amerikanischen Revolutionsideale in ihrem Verhaltnis zu den Europaischen, untersucht an Thomas Jefferson* (Beiheft 17 der *Historischen Zeitschrift*). Munchen, 1929.

Wiltse, Charles Maurice. *The Jeffersonian Tradition in American Democracy.* University of North Carolina Press, Chapel Hill, 1935.

Wise, W. Harvey, Jr., and Cronin, John W., compilers. *A Bibliography of Thomas Jefferson* (Presidential Bibliographical Series, No. 3). Riverford Publishing Company, Washington, D. C., 1935.

JOHANN HEINRICH PESTALOZZI

Pestalozzi, Johann Heinrich *Sämmtliche Werke,* gesichtet von L. W. Seyffarth. 12 vols. Liegnitz, 1899–1902.

—— *Samtliche Werke,* herausgegeben von Arthur Buchenau, Eduard Spranger, Hans Stettbacher, Vols. 1–5, 7–13, 16. Berlin, 1927–1940.

—— *Die Abendstunde eines Einsiedlers,* bearbeitet und mit Erläuterungen versehen von Karl Richter (Padagogische Bibliothek, 17, 5). Leipzig, 1885.

—— *The Address of Pestalozzi to the British Public Soliciting Them to Aid by Subscription His Plan of Preparing School Masters and Mistresses for the People.* Yverdon, 1818.

—— *Educational Writings,* edited by J. A. Green, with the assistance of Frances A. Collie (Educational Classics). Longmans, Green and Company, New York, 1912.

Pestalozzi, Johann Heinrich: *Extracts from Letters on Early Education.* Liverpool, 1828.

—— *How Gertrude Teaches Her Children,* translated by Lucy E. Holland and Frances C. Turner and edited by Ebenezer Cook. 5th edition. C. W. Bardeen, Syracuse, N. Y., 1915.

—— *Leonard and Gertrude,* translated and abridged by Eva Channing. D. C. Heath and Company, Boston, 1906.

—— *Letters on Early Education.* C. W. Bardeen, Syracuse, N. Y., 1906.

—— *Pestalozzi,* edited by Lewis Flint Anderson. McGraw-Hill Book Company, New York, 1931.

Banfi, Antonio. *Pestalozzi* (La nostra scuola, 29). Firenze, 1929.

Barnard, Henry. *Pestalozzi and His Educational System* (School Bulletin Publication). C. W. Bardeen, Syracuse, N Y., 1906.

—— "Pestalozzi and Pestalozzianism," reprinted from *The American Journal of Education.* 3d edition, two parts. New York, 1862.

Biber, Edward. *Henry Pestalozzi, and His Plan of Education; Being an Account of His Life and Writings, with Copious Extracts from Works.* London, 1833.

Bitzius, Albert (pseud. for Jeremias Gotthelf). *Unbekanntes und Ungedrucktes uber Pestalozzi, Fellenberg und die Bernische Schule* (Schriften der Literarischen Gesellschaft Bern. Neue Folge der Neujahrsblatter, I). Bern, 1938.

Compayré, Gabriel. *Pestalozzi and Elementary Education,* translated by R. P. Jago. T. Y. Crowell and Company, New York, 1907.

Delekat, Friedrich. *Johann Heinrich Pestalozzi. Der Mensch, der Philosoph und der Erzieher.* Leipzig, 1926.

Fellenberg, Wilhelm von. *Educational Institutions of Emanuel de Fellenberg,* translated from the German. London, 1859.

Green, John Alfred. *The Educational Ideas of Pestalozzi.* Warwick and York, Baltimore, 1911.

—— *Life and Work of Pestalozzi.* Warwick and York, Baltimore, 1913.

Guimps, Roger de, Baron. *Pestalozzi, His Life and Work,* authorized translation from the 2d French edition by J. Russel (International Education Classics). D. Appleton and Company, New York, 1901.

Guyer, Walter. *Pestalozzi* (Die Schweiz im deutschen Geistesleben, 74–76). Frauenfeld, 1932.

Herbart, Johann Friedrich. *Pestalozzi's Idee eines ABC der Anschauung,* 2. Ausg. Gottingen, 1804.

Heubaum, Alfred. *J. Heinrich Pestalozzi,* 3e. Aufl., besorgt von Karl Muthesius (Die grossen Erzieher, 3). Leipzig, 1929.

Hieske, Julius. *Sozialphilosophie und Sozialpadagogik Pestalozzis* (Universitätsarchiv für wissenschaftliche Untersuchungen und Abhandlungen, No. 2). Münster i. W., 1927.

Holman, Henry. *Pestalozzi; an Account of His Life and Work.* Longmans, Green and Company, New York, 1908.

Israel, August. *Pestalozzi-Bibliographie.* 3 vols. (Monumenta Germaniae padagogica, xxv, xxix, xxxi). Berlin, 1903–1904.

Jónasson, Matthias. *Recht und Sittlichkeit in Pestalozzis Kulturtheorie* (Neue deutsche Forschungen, Abt. Padagogik, 3). Berlin, 1936.

Leser, Heinrich. *J. H. Pestalozzi.* Leipzig, 1908.

Monroe, Will Seymour. *History of the Pestalozzian Movement in the United States.* C. W. Bardeen, Syracuse, N. Y., 1907.

Natorp, Paul. *Der Idealismus Pestalozzis.* Leipzig, 1919.

—— *Johann Heinrich Pestalozzi.* 3 vols. (Gresslers Klassiker der Pädagogik, xxiii–xxv). Langensalza, 1905.

Pestalozzi and His Times: a Pictorial Record, edited for the centenary of his death by the Pestalozzianum and the Zentralbibliothek Zürich Zürich, 1928.

Pinloche, Auguste. *Pestalozzi, and the Modern Elementary School* (Great Educators). Charles Scribner's Sons, New York, 1901

Sallwürk, Ernst von. *Pestalozzi* (Grosse Erzieher, V. 1) Leipzig, 1897.

Scherer, Heinrich. *Die Pestalozzische Pädagogik.* Leipzig, 1896.

Sganzini, Carlo. *Enrico Pestalozzi. Vita, Opera, Pensiero e Significato Presente della sua Figura Spirituale.* Bellinzona, 1927

JOHANN FRIEDRICH HERBART

Herbart, Johann Friedrich: *Samtliche Werke,* herausgegeben von Karl Kehrbach. 19 vols. in 14. Langensalza, 1887–1912.

—— *Principales Oeuvres Pédagogiques,* traduit par A. Pinloche (Travaux et mémoires des Facultés de Lille, Vol. iv—Memoire, No. 15). Lille, 1894.

—— *A B C of Sense Perception; Selections,* translated and edited by William J. Eckoff (International Education Series). D. Appleton and Company, New York, 1896.

—— *The Application of Psychology to the Science of Education,* translated and edited by Beatrice C. Mulliner. Charles Scribner's Sons, New York, 1898.

—— *An Introduction to Herbart's Science and Practice of Education,* translated by Henry M. and Emmie Felkin, with an Introduction by Oscar Browning. D. C. Heath and Company, Boston, 1904.

—— *Letters and Lectures on Education,* translated by Henry M. and Emmie Felkin. C. W. Bardeen, Syracuse, N. Y., 1906.

—— *Outlines of Educational Doctrine,* translated by Alexis F Lange, annotated by Charles De Garmo. The Macmillan Company, New York, 1901.

—— *Pädagogische Schriften,* mit Herbart's Biographie herausgegeben von Fr. Bartholomai, 7. Aufl., Anmerkungen von E. von Sallwürk, 2 vols. (Bibliothek pädagogischer Klassiker, v. 8–9). Langensalza, 1903.

—— *The Science of Education; Its General Principles Deduced from Its Aim and the Aesthetic Revelation of the World,* translated by Henry M. and Emmie Felkin, with an Introduction by Oscar Browning (Heath's Pedagogical Library, Vol. xix). D. C. Heath and Company, Boston, 1908.

Herbart, Johann Friedrich. *A Text-Book in Psychology*, translated by Margaret K. Smith (International Education Series). D. Appleton and Company, New York, 1891.
Adams, Sir John. *The Herbartian Psychology Applied to Education* (Heath's Pedagogical Library). D. C. Heath and Company, Boston, 1897.
Allers, Rudolf. *The Successful Error, A Critical Study of Freudian Psychoanalysis*. Sheed and Ward, Inc., London, 1940.
Böhm, A. *Die Beziehung zwischen Platos und Herbarts Padagogik*. Leipzig, 1915.
Chalke, Richard David. *A Synthesis of Froebel and Herbart*, 2d impression. W. B. Clive, London, 1916.
Cole, Percival Richard. *Herbart and Froebel: An Attempt at Synthesis* (Contributions to Education, No. 14). Columbia University, Teachers College, New York, 1907.
Compayré, Gabriel. *Herbart and Education by Instruction*. T. Y. Crowell and Company, New York, 1907.
Darroch, Alexander. *Herbart and the Herbartian Theory of Education*. Longmans, Green and Company, New York, 1903.
Davidson, John. *A New Interpretation of Herbart's Psychology and Educational Theory through the Philosophy of Leibniz*. Edinburgh, 1906.
De Garmo, Charles. *Herbart and the Herbartians* (Great Educators). Charles Scribner's Sons, New York, 1904.
Dodd, Catherine Isabel. *Introduction to the Herbartian Principles of Teaching*, with an Introduction by W. Rein. The Macmillan Company, New York, 1898.
Engel, Moritz Emil. *Grundsatze der Erziehung und des Unterrichts nach Herbart-Ziller und A. Diesterweg*. Berlin, 1887.
Flügel, Otto. *Herbarts Lehren und Leben*, 2. Aufl. (Aus Natur und Geisteswelt, 164). Leipzig, 1912.
—— *Der Philosoph J. F. Herbart*. Leipzig, 1905
Gleichmann, August. *Ueber Herbarts Lehre von den Stufen des Unterrichts*, 4. Aufl. Langensalza, 1904.
Kinkel, Walter. *Joh. Fr. Herbart, sein Leben und seine Philosophie dargestellt*. Giessen, 1903.
McMurry, Charles Alexander. *The Elements of General Method Based on the Principles of Herbart*. The Macmillan Company, New York, 1903.
Rein, Wilhelm. *Pestalozzi, Herbart und die Gegenwart*. Leipzig, 1918.
Richter, Karl. *Die Herbart-Zillerschen formalen Stufen des Unterrichts*, 3. Aufl. Leipzig, 1908.
Sallwürk, Ernst von. *Über die Ausfullung des Gemuts durch den erziehenden Unterricht; zur Kritik der Herbartischen und der Zillerschen Padagogik* (Sammlung von Abhandlungen aus dem Gebiete der pädagogischen Psychologie und Physiologie vii, 5) Berlin, 1904.
Saloni, Alfredo. *G. F. Herbart, la Vista, lo Svolgimento della Dottrina Pedagogica*. 2 vols. (Educatori antichi e moderni). Firenze, 1937.

Voigt, Gustav. *Die Bedeutung der Herbartischen Pädagogik für die Volksschule,* 4. verb. Aufl. Leipzig, 1908.
Walther, Heinrich *J. Fr. Herbarts Charakter und Pädagogik in ihrer Entwicklung.* Stuttgart, 1912.
Weiss, Georg. *Herbart und seine Schule* (Geschichte der Philosophie in Einzeldarstellungen, Abt. viii. Die Philosophie der neueren Zeit, ii, v. 35). München, 1928.
—— *Joh. Friedrich Herbart; Grundriss seines Lebens* (Herbart-Studien, 5. Fr. Mann's Pädagogisches Magazin, Heft 1090). Langensalza, 1926.
Ziehen, Theodor. *Das Verhältnis der Herbart'schen Psychologie zur physiologisch-experimentellen Psychologie* (Sammlung von Abhandlungen aus dem Gebiete der pädagogischen Psychologie und Physiologie, iii, 5). Berlin, 1900.
Zimmer, Hans. *Führer durch die deutsche Herbart-Literatur.* Langensalza, 1910.

FRIEDRICH FROEBEL

Froebel, Friedrich Wilhelm August: *Gesammelte pädagogische Schriften,* herausgegeben von Wichard Lange. 2 Tle. in 3. Berlin, 1862–1874.
—— *Autobiography,* translated and annotated by Emilie Michaelis and H. Keatley Moore. C. W. Bardeen, Syracuse, N Y., 1906.
—— *Bau-Spiele. Eine Anleitung zum Spielen und Bauen mit Kindern von 3 bis 6 Jahren,* gesammelt und herausgegeben von Luise Hertlein. Vier Lieferungen in einem Bande. Wien, 1860.
—— *Briefwechsel mit Kindern,* herausgegeben von Erika Hoffmann. Berlin, 1940.
—— *Froebel's Chief Writings on Education,* rendered into English by S. S. F. Fletcher and J. Welton (Educational Classics). Longmans, Green and Company, New York, 1912.
—— *Education by Development,* translated by Josephine Jarvis (International Education Series). D. Appleton and Company, New York, 1902.
—— *The Education of Man,* translated by W. N. Hailmann (International Education Series). D. Appleton and Company, 1892.
—— *Entwickelnd-erziehende Menschenbildung (Kindergarten-Pädagogik) als System,* eine Zusammenstellung von Hermann Posche. Hamburg, 1862.
—— *Friedrich Fröbel als Führer zur Gegenwartspädagogik: ein Auszug aus seinen Schriften,* herausgegeben von Alfred Schober. Berlin, 1925.
—— *Letters on the Kindergarten,* translated by Hermann Poesche, edited and annotated by Emilie Michaelis and H. Keatley Moore. Authorized American edition. C. W. Bardeen, Syracuse, N. Y., 1906.
—— *Mother's Songs, Games and Stories,* rendered into English by Frances and Emily Cord. New and revised edition. London, 1890.

Froebel, Friedrich Wilhelm August: *Mottoes and Commentaries of Froebel's Mother-Play*, rendered into English verse by Henriette R. Eliot, prose commentaries translated and accompanied with an Introduction treating of the philosophy of Froebel by Susan E. Blow (International Education Series). D. Appleton and Company, New York, 1906.

—— *Pedagogics of the Kindergarten*, translated by Josephine Jarvis (International Education Series). D. Appleton and Company, New York, 1905.

—— *The Student's Froebel*, adapted from *Die Menschenerziehung* of F. Froebel by William H. Herford. Revised edition, 2 vols. Sir Isaac Pitman and Sons, New York, 1911–1912.

Barnard, Henry. "Kindergarten and Child Culture Papers. Papers on Froebel's Kindergarten." Rev. Edition, 1890. Reprinted from *The American Journal of Education.*

Blow, Susan Elizabeth. *Letters to a Mother on the Philosophy of Froebel* (International Education Series). D. Appleton and Company, New York, 1899.

—— *Symbolic Education: A Commentary on Froebel's Mother-Play* (International Education Series). D. Appleton and Company, New York, 1904.

Bowen, H. Courthope. *Froebel; and Education by Self-Activity* (Great Educators). Charles Scribner's Sons, New York, 1901.

Chalke, Richard David. *A Synthesis of Froebel and Herbart.* 2d impression W. B. Clive, London, 1916.

Cole, Percival Richard. *Herbart and Froebel: An Attempt at Synthesis* (Contributions to Education, No. 14). Columbia University, Teachers College, New York, 1907.

Formiggini-Santamaria, Emilia. *Cio che é Vivo e cio che é Morto della Pedagogia di Federico Frobel* (Biblioteca di Filosofia e di Pedagogia). Geneva, 1916.

Friedrich Froebel Yearbook, compiled by Fanny Chapin. Kindergarten Literature Company, Chicago, 1894.

Hanschmann, Alexander Bruno. *Friedrich Fröbel. Die Entwicklung seiner Erziehungsidee in seinem Leben*, 3. bis auf die Neuzeit ergänzte Auflage. Dresden, 1900.

—— *The Kindergarten System; Its Origin and Development as Seen in the Life of Friedrich Fröbel*, translated by Fanny Franks. S. Sonnenschein and Company, London, 1897.

Hughes, James Laughlin. *Froebel's Educational Laws for All Teachers* (International Education Series). D. Appleton and Company, New York, 1904.

Kilpatrick, William Heard. *Froebel's Kindergarten Principles Critically Examined.* The Macmillan Company, New York, 1916.

MacVannel, John Angus. *The Education Theories of Herbart and Froebel* (Contributions to Education, No. 4). Columbia University, Teachers College, New York, 1905.

Marenholtz-Bülow, Bertha Maria, Freifrau von. *Reminiscences of Friedrich Froebel*, translated by Mrs. Horace Mann. Lothrop, Lee and Shepard Company, Boston, 1905

Murray, Elsie R. *Froebel as a Pioneer in Modern Psychology.* Warwick and York, Baltimore, 1914.

Rinke, Alfons. *Friedrich Fröbels philosophische Entwicklung unter dem Einfluss der Romantik* (Philosophische und padagogische Arbeiten, V. Reihe: Geschichte der Pädagogik, 13). Langensalza, 1935.

Scholz, Käthe. *Fröbels Erziehungslehre, ihre philosophischen Voraussetzungen und ihre Ergebnisse für die Auffassung des Spiels* (Heidelberger Abhandlungen zur Philosophie und ihrer Geschichte, 31). Tübingen, 1940.

Sewall, Frank. *The Angel of the State, or, The Kindergarten in the Education of Children.* Massachusetts New Church Union, Boston, 1896.

Shirreff, Emily Anne Eliza. *A Short Sketch of the Life of Friedrich Froebel.* Chapman and Hall, London, 1887.

Snider, Denton Jaques (Theophilus Middling, pseud). *The Life of Frederick Froebel.* Sigma Publication Company, St. Louis, Mo., 1900.

—— *The Psychology of Froebel's Play-Gifts.* Sigma Publication Company, St. Louis, Mo., 1900.

Ulich, Robert. *Sequence of Educational Influences Traced through Unpublished Writings of Pestalozzi, Froebel, Diesterweg, Horace Mann, and Henry Barnard*, with translations, comments, and explanations (Harvard Documents in the History of Education). Harvard University Press, Cambridge, Mass., 1935.

Wiebé, Edward. *Quarter Century Edition of The Paradise of Childhood. A Practical Guide to Kindergartners*, edited by Milton Bradley, including a Life of Friedrich Froebel by Henry W. Blake. Milton Bradley Company, Springfield, Mass., 1896.

Wiggin, Mrs. Kate Douglas (Smith), and Smith, Nora Archibald. *Froebel's Gifts*, Vol. I of *The Republic of Childhood.* Houghton Mifflin Company, Boston, 1904.

RALPH WALDO EMERSON

Emerson, Ralph Waldo. *Complete Works*, with a Biographical Introduction and Notes by Edward Waldo Emerson. New Centenary Edition. 12 vols. Houghton Mifflin Company, Boston, 1903–1904.

—— *Works*, including 54 hitherto uncollected pieces, essays, addresses, reviews, poems, and letters. 5 vols. Bigelow, Brown and Company, New York, no date.

—— *Essays, and English Traits* (The Harvard Classics, edited by C. W. Eliot). P. F. Collier and Son, New York, 1909.

—— *The Heart of Emerson's Journals*, edited by Bliss Perry. Houghton Mifflin Company, Boston, 1926.

Emerson, Ralph Waldo: *Representative Selections*, with Introduction, Bibliography, and Notes by Frederic I. Carpenter (American Writers Series). American Book Company, New York, 1934

—— *The Uncollected Writings: Essays, Addresses, Poems, Reviews and Letters*. Edited by Charles C Bigelow. Lamb Publishing Company, New York, 1912.

Brooks, Van Wyck. *Life of Emerson*. E. P. Dutton and Company, New York, 1932.

The Cambridge History of American Literature, edited by William Peterfield Trent and Others, Vol. I, pp. 551–556. G. P. Putnam's Sons, New York, 1917–1921.

Cooke, George Willis, compiler. *A Bibliography of Ralph Waldo Emerson*. Houghton Mifflin Company, Boston, 1908.

Dana, William Franklin. *The Optimism of Ralph Waldo Emerson*. De Wolfe and Fiske Company, Boston, 1903.

Dewey, John "The Philosopher of Democracy," in *International Journal of Ethics* for July, 1903, Vol. 13, pp. 405–413.

Dillaway, Newton. *Prophet of America; Emerson and the Problems of Today*, with a Preface by Bliss Perry. Little, Brown and Company, Boston, 1936.

Eliot, Charles William. *Four American Leaders*. American Unitarian Association (The Beacon Press), Boston, 1906.

Emerson, George Barrell. *Reminiscences of an Old Teacher*. A. Mudge and Son, Boston, 1878

Firkins, Oscar. *Ralph Waldo Emerson*. Houghton Mifflin Company, Boston, 1915.

Forster, Joseph. *Four Great Teachers: John Ruskin, Thomas Carlyle, Ralph Waldo Emerson, and Robert Browning*. G. Allen, London, 1890.

Frothingham, Octavius Brooks. *Transcendentalism in New England*. The Beacon Press, Boston, no date.

Gifford, Adam. *Lectures Delivered on Various Occasions*. Frankfurt am M., 1889.

Harris, William T. *Emerson's Orientalism* in *Genius and Character of Emerson: The Lectures at the Concord School of Philosophy*, edited by F. B. Sanborn. F. J. R. Osgood and Company, Boston, 1885.

Harrison, John S. *Teachers of Emerson*. Sturgis and Walton, New York, 1910.

Hawthorne, Julian. *Hawthorne and His Circle*. Harper and Brothers, New York, 1903.

Hoeltje, Hubert H. *Sheltering Tree; a Story of the Friendship of Ralph Waldo Emerson and Amos Bronson Alcott*. Duke University Publication, Durham, N. C., 1943.

Holmes, Oliver Wendell. *Ralph Waldo Emerson* (American Men of Letters Series). Houghton Mifflin Company, Boston, 1905.

Kierkegaard, Soren Aabye. *For Self-examination; Recommended for the Times*, translated from the Danish by Edna and Howard Hong. Augsburg Publishing House, Minneapolis, 1940.

—— *Selections from the Writings of Kierkegaard*, translated by L. M. Hollander (Comparative Literature Series, No. 3). University of Texas, Austin, 1923.

Perry, Bliss. *Emerson Today*. Princeton University Press, Princeton, N. J., 1931.

Price, George Bacon. *Emerson in Perspective, or, Emerson as Nonconformist and Mystic*. G. B. Price, Beverly Hills, Calif., 1923.

Ralph Waldo Emerson, Man and Teacher (The Round Table Series, No. 1). 72d ed., rev. by W Brown Edinburgh, 1884.

Russell, Phillips. *Emerson, the Wisest American*. Brentano's, New York, 1929.

Sakmann, Paul. *Emerson's Geisteswelt*. Stuttgart, 1927.

Sanborn, Franklin B. *The Personality of Emerson*. C. E. Goodspeed, Boston, 1903.

Tillich, Paul. "Kierkegaard in English," in *The American Scandinavian Review* for Autumn, 1942, pp. 254–257.

Woodberry, George E. *Ralph Waldo Emerson* (English Men of Letters, New Series). The Macmillan Company, New York, 1926.

Young, Charles Lowell. *Emerson's Montaigne* (Wellesley College Publication). The Macmillan Company, New York, 1941.

—— *Notes on the Study and Teaching of American Literature. . . . Emerson's Place in American Literature, His Relation to Democracy*. Wellesley College, Wellesley, Mass., 1940.

JOHN DEWEY

Dewey, John: *Art as Experience*. Minton, Balch and Company, New York, 1934.

—— *A Common Faith* (The Terry Lectures, 11). Yale University Press, New Haven, Conn., 1934.

—— *Democracy and Education* (Textbook Series in Education). The Macmillan Company, New York, 1916.

—— *Educational Essays*, edited by J. J. Findlay. Blackie and Son, Ltd., Glasgow, Scotland, 1910.

—— "Emerson—The Philosopher of Democracy," in *International Journal of Ethics* for July, 1903, pp. 405–413.

—— *Experience and Education* (Kappa Delta Pi Lecture Series, 10). The Macmillan Company, New York, 1938.

—— *Experience and Nature* (Paul Carus Foundation Lectures, 1), new ed. W. W. Norton and Company, New York, 1929.

—— *German Philosophy and Politics*, rev. ed. G. P. Putnam's Sons, New York, 1942.

—— *How We Think*. D. C. Heath and Company, Boston, 1933.

Dewey, John: *Human Nature and Conduct.* Henry Holt and Company, New York, 1922.
—— *Human Nature and Conduct.* Modern Library, Inc., New York, 1930.
—— *The Influence of Darwin on Philosophy, and Other Essays in Contemporary Thought.* Henry Holt and Company, New York, 1910.
—— *Interest and Effort in Education* (Riverside Educational Monographs). Houghton Mifflin Company, Boston, 1913.
—— *My Pedagogic Creed,* with *The Demands of Sociology upon Pedagogy* by Albion W. Small. A. Flanagan Company, Chicago, 1910.
—— *The Quest for Certainty* (Gifford Lectures, 1929). Minton, Balch and Company, New York, 1929.
—— *Reconstruction in Philosophy.* Henry Holt and Company, New York, 1920.
—— *The School and Society.* Revised edition. University of Chicago Press, 1915.
—— and Dewey, Evelyn. *Schools of Tomorrow.* E. P. Dutton and Company, New York, 1915.
—— and Others. *Art and Education.* Barnes Foundation, Merion, Pa., 1929.
Childs, John Lawrence. *Education and the Philosophy of Experimentalism,* with a Foreword by William Heard Kilpatrick (Century Studies in Education). Century Company, New York, 1931.
Choy, Joan. *Étude Comparative sur les Doctrines Pédagogiques de Durkheim et de Dewey* (Thesis). Lyon, 1926.
Contemporary American Philosophy; Personal Statements, edited by George P. Adams and William Pepperell Montague. 2 vols. (Library of Philosophy). The Macmillan Company, New York, 1930.
Feldman, William Taft. *The Philosophy of John Dewey; a Critical Analysis.* Johns Hopkins University, Baltimore, 1934.
Fuchs, Henry Charles. *Die Pädagogik Herbarts und Deweys in vergleichender Betrachtung* (Thesis). Friedberg-Augsburg, 1935.
Gillio-Tos, M. T. *Il Pensiero di Giovanni Dewey* (Nuova Collezione, No. 6). Napoli, 1938.
Hook, Sidney. *John Dewey; an Intellectual Portrait.* John Day Company, New York, 1939.
Horne, Herman Harrell. *The Democratic Philosophy of Education, Companion to Dewey's Democracy and Education.* The Macmillan Company, New York, 1932.
—— *Philosophy of Education, Being the Foundations of Education in the Related Natural and Mental Sciences.* Revised edition, with special reference to the educational philosophy of John Dewey. The Macmillan Company, New York, 1927.
John Dewey, the Man and His Philosophy. Addresses Delivered in New York in Celebration of His Seventieth Birthday. Harvard University Press, Cambridge, Mass., 1930.

Kilpatrick, William Heard. *Foundations of Method* (Brief Course Series in Education, edited by Paul Monroe). The Macmillan Company, New York, 1925.

Kremer, René. *Le Néo-Réalisme Americain.* Louvain, 1920.

Matthiessen, Francis Otto. *American Renaissance, Art and Expression in the Age of Emerson and Whitman.* Oxford University Press, New York, 1941.

Rosenkranz, Johann Karl Friedrich. *Pedagogics as a System,* translated by Anna C. Brackett, in *The Philosophy of Education* (International Education Series). D. Appleton and Company, New York, 1903.

—— *Die Padagogik, als System.* Königsberg, 1848.

Schilpp, Paul Arthur, editor. *The Philosophy of John Dewey* (Library of Living Philosophers, Vol. I). Northwestern University, Evanston, Ill., 1939.

Schoenchen, Gustav G. *The Activity School, a Basic Philosophy for Teachers.* Longmans, Green and Company, New York, 1940.

Weber, Alfred. *History of Philosophy,* translated by Frank Thilly, with *Philosophy since 1860* by Ralph Barton Perry, with a Foreword by Paul R. Radosavijevich. Revised edition. Charles Scribner's Sons, New York, 1925.

What Is Democracy? Its Conflicts, Ends, and Means. Contents: *The Future of Liberalism,* or, *The Democratic Way of Change,* by John Dewey; *Ends and Means in Education,* or, *The Conflicts in Our Cultural Heritage,* by Boyd H. Bode; *The Promise of American Politics,* or, *The Principle of Private and Public Skills,* by T. V. Smith (Co-operative Books, Ser. 1, No. 2). Co-operative Books, Norman, Okla., 1939.

Index